स्वर्ण जयन्ती प्रकाशन 2013

BIHAR YOGA

रोग और योग

डॉ. स्वामी कर्मानन्द सरस्वती

प्रत्यक्ष मार्गदर्शन – स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

रोग और योग

WORLD YOGA CONVENTION 2013
GANGA DARSHAN, MUNGER, BIHAR, INDIA
23rd–27th October 2013

रोग और योग

स्वामी कर्मानन्द सरस्वती

प्रत्यक्ष मार्गदर्शन

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

बिहार योग विद्यालय द्वारा
योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट द्वारा

प्रथम संस्करण 1998
पुनर्मुद्रण 2002, 2003, 2005, 2008, 2013

ISBN: 978-81-86336-12-0

© बिहार योग विद्यालय 1998

प्रकाशक एवं वितरक—योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट,
मुंगेर, बिहार, भारत
मुद्रक—थॉमसन प्रेस (इंडिया) लिमिटेड,
नई दिल्ली

वेबसाइट : www.biharyoga.net
www.rikhiapeeth.net

योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट से लिखित अनुमति के बिना इस पुस्तक के किसी भी अंश का अन्यत्र मुद्रण या अन्य किसी रूप में प्रयोग वर्जित है।

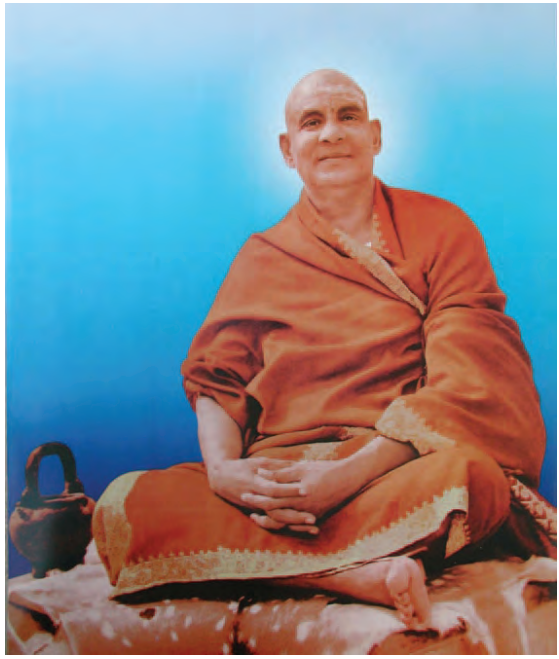

सविनय समर्पण

स्वामी शिवानन्द सरस्वती के चरणों में
जिन्होंने स्वामी सत्यानन्द सरस्वती को योग के रहस्यों की शिक्षा दी

नमो नारायण

योगविद्या भारतवर्ष की सबसे प्राचीन संस्कृति और जीवन-पद्धति है तथा इसी विद्या के बल पर भारतवासी प्राचीनकाल में सुखी, समृद्ध और स्वस्थ जीवन बिताते थे। जब से भारत में योग विद्या का ह्रास हुआ, तभी से भारतवासी गरीब, दु:खी और अस्वस्थ हैं। पूजा-पाठ, धर्म-कर्म से शान्ति मिलती है और योगाभ्यास से धन-धान्य, समृद्धि और स्वास्थ्य। भारत में सुख, समृद्धि, शक्ति और स्वास्थ्य के लिए हर व्यक्ति को योगाभ्यास करना चाहिए।

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती
रिखियापीठ, 2005

सम्पादकीय

यह बहुप्रतीक्षित पुस्तक छोटे-छोटे निबन्धों की एक शृंखला है। यह आम तौर पर होने वाली उन समस्याओं का समाधान है, जो मानवता को चिरकाल से पीड़ित किए हुए हैं। इस शृंखला में उन विषयों का समावेश किया गया है जो मुख्यत: लम्बे समय तक चलने वाली कम गम्भीर बीमारियाँ हैं, जिन्हें यौगिक उपचार द्वारा सबसे आसानी से वश में किया जा सकता है।

प्रत्येक निबंध इस प्रकार से लिपिबद्ध किया गया है कि उस बीमारी के मूल सिद्धान्त आधुनिक चिकित्सा प्रणाली एवं यौगिक चिकित्सा प्रणाली, दोनों के परिप्रेक्ष्य में आसानी से समझ में आ सकें, चाहे पाठक डॉक्टर हो, योग चिकित्सक हो, योगाभ्यासी मरीज या कोई उत्सुक व्यक्ति हो। इसमें मोटे तौर पर प्रत्येक बीमारी के सभी लक्षणों एवं उसके शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक एवं आध्यात्मिक महत्त्वों को, जो उस बीमारी के मूल में हैं, यौगिक दृष्टिकोण से समझाया गया है। प्रत्येक व्याधि से मुक्त होने का यौगिक तरीका उसी अध्याय के अन्त में बताया गया है।

इस पुस्तक का उद्देश्य

यह पुस्तक उन लोगों को प्रेरित करने के उद्देश्य से लिखी गई है जो आम दैहिक तापों से पीड़ित हैं अथवा पीड़ितों से सम्बन्धित हैं, ताकि वे योग के अभ्यास द्वारा अपनी उस अवस्था से ऊपर उठ सकें जो उन्हें एक अभेद्य दीवार के सदृश चारों ओर से घेरे हुए है। इसका लक्ष्य लोगों को यह बताना है कि बाहर निकलने का एक रास्ता है। यही जानकारी सबसे महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह एक ऐसी ऊर्जा है जो मन में प्रविष्ट हो एक

सशक्त विचार बन जब अभ्यास में उतरती है तो उन तकलीफों से उबरने का समर्थ साधन सिद्ध होती है। इसका प्रारूप उन चिकित्सकों के लिए एक संदेशिका या मार्ग-दर्शिका की तरह भी है, जो चिकित्सा के नये आयामों की खोज करना चाहते हैं। यह पुस्तक उन यौगिक क्रियाओं की उपयोगिता एवं बहुआयामिता की ओर इंगित करती है जिनका उपयोग उन बीमारियों के उपचार में किया जा सकता है जो अब तक आधुनिक चिकित्सा पद्धति के द्वारा नियंत्रित नहीं हो पाई हैं, और उनके इलाज के सभी प्रचलित तरीके विफल सिद्ध हुए हैं।

बहुत-सी बीमारियों का विवरण इस पुस्तक में नहीं दिया गया है, क्योंकि वे 'आम' नहीं हैं। सभी बीमारियों का विवरण योग चिकित्सा की विस्तृत पाठ्य-पुस्तक में ही किया जा सकता है। हमारा यह लक्ष्य भी नहीं है कि प्रत्येक बीमारी को विस्तार से समझाया जाए। हम यह मानकर चल रहे हैं कि पाठकों को, विशेषत: चिकित्सकों को सम्बन्धित संरचना, क्रिया विज्ञान एवं रोग विज्ञान की पूर्व जानकारी होगी। इन सभी विषयों को इस प्रकार की पुस्तक में समाविष्ट करना संभव नहीं है। जो उत्सुक व्यक्ति इन विषयों से अनभिज्ञ हैं, उन्हें सलाह दी जाती है कि सम्बन्धित विषय की पाठ्य-पुस्तक से संपूर्ण जानकारी प्राप्त करें।

गुरु अथवा मार्गदर्शन की आवश्यकता

हम इस बात पर हमेशा से जोर देते रहे हैं कि किसी यौगिक क्रिया को स्वयं किताबों से पढ़कर करना या अनुभवहीन व्यक्ति से सीखना श्रेयस्कर नहीं है। चिकित्सा हमेशा अनुभवी व्यक्ति के निर्देशन में होनी चाहिए। दूसरी जरूरी बात यह है कि योग चिकित्सा आधे मन से या अनमने ढंग से करने से अच्छा है कि नहीं ही की जाए। यदा-कदा, जैसे-तैसे आसन करने से, जब मन यहाँ-वहाँ भटक रहा हो, कोई लाभ नहीं होगा। अक्सर अभ्यासी अपने इलाज में विफलता के लिए स्वयं के बजाए योग को दोषी ठहराने लगता है। यदि योगाभ्यास सही ढंग से सीखा और किया जाए तो अभ्यासी यदि एकदम से पूर्णरूपेण स्वस्थ नहीं भी हो, तो भी कम-से-कम उसकी बीमारी का आगे बढ़ना रुक जाएगा, और कुछ-न-कुछ लाभ तो अवश्य होगा।

लाभ काफी हद तक रोग की तीव्रता एवं समयावधि पर निर्भर है। इस बात में कोई शक नहीं है कि यदि रोगी कम उम्र का हो और बीमारी की

शुरुआत हो रही हो तो ऐसी अवस्था में योग का लाभ सर्वाधिक होता है। अधिक वय वाले व्यक्तियों में, या जहाँ रोग वर्षों से जड़ जमाए बैठा है और योग चिकित्सा को अंतिम अस्त्र के रूप में प्रयोग किया जा रहा हो तो लाभ महसूस होने में भी काफी समय लगेगा। ऐसी अवस्था में यह योग चिकित्सक पर निर्भर है कि वह डॉक्टर की सलाह से हर अध्याय के पीछे दी गई विधियों में से व्यक्तिगत परिस्थितियों के अनुसार योग कार्यक्रम का चुनाव करे और इलाज के दौरान जो भी नयी समस्याएँ सामने आयें, उनका उचित समाधान करे। इसके लिए जानकार मार्गदर्शक की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि वही समस्याओं के उठने से पहले ही उन्हें समझ कर उनका निदान कर सकता है। अन्यथा एक बीमारी से ठीक होते-होते दूसरी समस्या घेर सकती है, जिसका इलाज संभवत: पहली बीमारी से भी ज्यादा मुश्किल हो। पुन: यह ध्यान रखें कि स्वयं का इलाज करना हमेशा खतरनाक होता है।

योग एवं औषधियाँ

योग चिकित्सा आरम्भ करने से पहले यह जरूरी है कि व्यक्ति का पूरा चिकित्सकीय परीक्षण किसी योग्य चिकित्सक के द्वारा कराया जाए। इसकी आवश्यकता इसलिए है कि –

1. हम देखें कि रोग की किस अवस्था का इलाज कर रहे हैं और उसका निदान पक्की तरह से हो जाए।
2. यह देखने के लिए कि रोग से सम्बन्धित अन्य जटिलताएँ तो नहीं हैं। उदाहरण के तौर पर उच्च रक्तचाप अक्सर मधुमेह के साथ सम्बद्ध रहता है, जिसके कारण मधुमेह का साधारण यौगिक इलाज अनुभवहीन व्यक्ति के हाथों, मुश्किल या खतरनाक भी हो सकता है, जिसे यह जानकारी नहीं है।
3. यह निश्चित करने के लिए कि बीमारी की उस स्थिति में एलोपैथिक या यौगिक इलाज में से किसे प्राथमिकता दी जाए। कई अनुभवहीन व्यक्ति उत्साह में ऐसी स्थिति में यौगिक चिकित्सा प्रारम्भ कर देते हैं जिसमें ऐलोपैथिक इलाज ज्यादा आसान एवं जल्दी असरकारी सिद्ध होता, परन्तु शेष परिस्थितियों में यौगिक इलाज ज्यादा उचित होगा। यह निर्णय महत्त्वपूर्ण है। एकतरफा सोचने का तरीका कि हमेशा योग

ही उचित है, एक कुन्द एवं संकीर्ण मानसिकता का परिचायक है। एक योग्य एवं अनुभवी चिकित्सक या डॉक्टर ही यह निर्णय कर सकता है कि बीमारी को किस छोर से पकड़कर सुलझाना ज्यादा आसान होगा। उदाहरण के लिए कई बार जब एक योगाभ्यास का परिणाम आने में समय लगता है, तब तक औषधियों से रोग को नियंत्रित रखना पड़ता है और जैसे-जैसे योग का प्रभाव बढ़ता जाता है, धीरे-धीरे दवाओं की मात्रा कम करके उन्हें बन्द कर दिया जाता है। अब कब दवाएँ कम करनी और कब पूर्णत: योग पर निर्भर रहना, यह तो जानकार व्यक्ति ही अधिकारपूर्वक बता सकता है।

हालाँकि योग एवं औषधियाँ रोग को नियंत्रित करने में एक-दूसरे की सम्पूरक होती हैं, फिर भी पूर्ण स्वास्थ्य की स्थिति योग ही ला सकता है, क्योंकि योग सिर्फ क्रियाओं का अभ्यास नहीं है, वरन् एक सम्पूर्ण जीवनशैली है। रोग हमें यह शिक्षा देते हैं कि अब तक हम एक गलत जीवनशैली एवं विचारधारा में जी रहे थे, जिससे शरीर के प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन हो रहा था, इसीलिए उसका सन्तुलन बिगड़ गया। और यदि हमें सन्तुलित, स्वस्थ एवं आनंदमय जीवन जीना है तो हमें अपने आपको सुधारना होगा। अधिकांशत: हम लोग आम जीवन में रोगों के लिए दवाएँ भी खाते रहते हैं और स्वास्थ्य के मूल नियमों का उल्लंघन भी करते रहते हैं, फलत: रोग की जड़ वहीं रहती है, सिर्फ लक्षण दबे रहते हैं। अत: केवल औषधियों से पूर्ण स्वास्थ्य कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता। प्राकृतिक नियमों के अनुरूप उचित जीवनशैली ही स्वास्थ्य का मूल मंत्र है।

योग में रोग एवं स्वास्थ्य को पूर्णत: भिन्न एवं क्रांतिकारी दृष्टिकोण से देखा गया है। रोग को एक ऐसी चीज नहीं माना गया है जिससे डरा जाय एवं शीघ्र ठीक करने की कोशिश की जाए; बल्कि रोग को एक आध्यात्मिक शिक्षक एवं मित्र माना जाना चाहिए। योग सिखाता है कि हमें अपनी बीमारियों को आध्यात्मिक विकास क्रम में एक छलांग लगाने के लिए उपयोग करना चाहिए। पता नहीं कैसे हमलोगों ने यह चेतना खो दी है कि हम कौन हैं तथा हमें कैसे चेतन और उपयोगी जीवन जीना चाहिए। चेतना का यही विक्षेप रोगों को भीतर घुस आने देता है। प्रकृति बीमारी के माध्यम से बार-बार हमें जगाने का प्रयत्न करती है। योग द्वारा चेतना

का विकास ही स्वास्थ्य का मूल-मंत्र है। यौगिक प्रक्रिया से पुनर्सन्तुलन, अंतर्दृष्टि एवं इन प्राकृतिक नियमों की समझ आती है, जो हमारे चारों ओर कार्यरत हैं तथा हमें नियंत्रित करते हैं।

यदि हम आधुनिक परिभाषाओं के परिप्रेक्ष्य में भी देखें तो स्वास्थ्य को एक बहुआयामी अवस्था के रूप में बताया गया है। शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक, सभी स्तरों पर सन्तुलन ही स्वास्थ्य है। केवल शारीरिक स्तर का इलाज मात्र एक चौथाई इलाज है। इसी तरह बीमारी की रोकथाम, शारीरिक क्षमता में वृद्धि एवं समुचित इलाज, तीनों विधियों से शारीरिक व्याधियाँ नियंत्रित की जा सकती हैं। परन्तु प्रमुखत: लाक्षणिक इलाज पर केन्द्रित रहना एक तिहाई इलाज है। अधिकांश संभावनाओं का दोहन अभी भी उपेक्षित जान पड़ता है। इस प्रकार स्पष्टत: समकालीन प्रचलित चिकित्सा प्रणालियाँ अधूरी हैं।

योग इस स्थिति में एक संपूर्णता का विकल्प लेकर प्रस्तुत होता है। यौगिक विचारधारा सभी पक्षों को उचित महत्त्व देती है। शारीरिक, मानसिक, सामाजिक व आध्यात्मिक सभी पक्ष अन्योन्याश्रित रूप से परस्पर सम्बद्ध हैं।

जिस प्रकार शारीरिक तौर पर स्वस्थ रहने के लिए मानसिक स्वास्थ्य आवश्यक है, उसी प्रकार आध्यात्मिक रूप से स्वस्थ रहने का प्रयास अन्य तीनों स्तरों को स्वत: उत्कृष्ट स्वास्थ्य की अवस्था में बनाए रखता है। यह भी स्पष्ट है कि बीमार पड़ने पर ही इन प्रयासों को प्रारम्भ न किया जाए, वरन् स्वास्थ्य को संपूर्णता प्रदान करने तथा आदर्श अवस्था को बनाए रखने हेतु आवश्यक योगाभ्यास जारी रखें ताकि हमारी क्षमताएँ विकसित हों और बीमारी की रोकथाम स्वत: सम्भव हो।

हमें योगाभ्यास का लाभ केवल स्थूल साफ-सफाई नहीं, वरन् विचारों के सूक्ष्म वातावरण में परिवर्तन के रूप में प्राप्त होगा। शारीरिक कार्यप्रणालियों में संतुलन; भावनाओं, विचारों एवं व्यवहारों में संतुलन, रचनात्मक प्रतिभाओं का जागरण, समाज या वातावरण में शुद्धि, इत्यादि। यदि हम ऐसे समाज का अंग हैं जिसमें गंदगी, असहिष्णुता, तनाव, अराजकता, हिंसा, अपराध व अन्य विसंगतियाँ व्याप्त हैं तो जाने-अनजाने हम भी उन तरंगों को संस्कार रूप में आत्मसात् करने से बच नहीं सकते। गरीबी सामाजिक रोगों की जड़ नहीं, वरन् आध्यात्मिक निर्धनता सामाजिक विकृतियों का मूल है।

आश्रम जीवन

यौगिक उपचार के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पहलुओं में से एक है – आश्रम जीवन। जो व्यक्ति वास्तव में सकारात्मक शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य का आकांक्षी है एवं उन मूल कारणों की खोज करना चाहता है जो जीवनचर्या एवं विचारधारा की गड़बड़ी से रोग उत्पन्न करते हैं, उसे आश्रम में रहकर, थोड़े समय में ही यह जानकारी मिल जायेगी। साथ-ही-साथ नयी जीवनशैली एवं योग के साथ उसका अनुकूलन तीव्रता से होगा।

कोई भी चिकित्सा आश्रम के शुद्ध एवं सकारात्मक वातावरण में, प्राण एवं जीवनीशक्ति के आवेश में, तथा प्रसन्नचित ओजस्वी साथियों के बीच शीघ्र फलदायी होती है। आश्रम में योग चिकित्सा के सभी औपचारिक तथा अनौपचारिक पहलुओं का लाभ मिलता है। आसन, प्राणायाम, शोधन प्रक्रियाएँ, ध्यान एवं योगनिद्रा इत्यादि की औपचारिक शिक्षा के साथ-साथ सत्संग, आश्रम कार्य के रूप में हल्का-फुल्का कर्मयोग, भजन-कीर्तन के रूप में भक्ति योग, मंत्र जप, इत्यादि का भी उतना ही महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। आश्रम का स्वाभाविक एवं तनावरहित वातावरण शारीरिक, भावनात्मक एवं मानसिक पुनरुत्थान के लिए आदर्श स्थान है।

गंगादर्शन आश्रम (बिहार योग विद्यालय, मुंगेर, बिहार) में हमने कई बार देखा है कि जो व्यक्ति यहाँ इलाज के लिए आते हैं, उन्हें योग चिकित्सा बहुत आसान एवं प्रभावशाली महसूस होती है। वे कुछ दिनों में ही पुन: स्वस्थ एवं पुनर्जीवित महसूस करने लगते हैं तथा यह समझ जाते हैं कि अपने शरीर, व्यवहार एवं दुनियादारी के प्रति एक परिवर्तित, बेहतर रवैया अपनाना कितना उचित है। जब लोग घर लौटकर आश्रम के सरल, शक्तिशाली एवं प्रभावशाली सिद्धान्तों को अपने जीवन में उतारते हैं तो उनमें बहुत तीव्र गति से स्वप्नातीत परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगता है। यहाँ बौद्धिक एवं तार्किक मन के परे जो अवचेतन या अन्त:प्रज्ञा का स्तर है, उसमें सद्प्रभाव तरंगित होता है। भले ही हमें उसका कारण समझ न आए।

योग चिकित्सा से और आगे

योग चिकित्सा के अभ्यासों से जब परिवर्तन महसूस होने लगता है और हमारा विश्वास जमने लगता है तो हम पूरी प्रक्रिया का सिंहावलोकन कर सकते हैं कि हमारे साथ क्या हुआ। ठीक होने के बाद यदि योगाभ्यास

बन्द भी हो जाए, तो भी सुखद अनुभूति एवं स्मृति के माध्यम से हम स्पष्ट अनुभव कर सकते हैं कि योग सिर्फ एक रोगनाशक प्रक्रिया नहीं, वरन् स्वस्थ जीवन जीने एवं आध्यात्मिक विकास का एक सशक्त एवं महत्त्वपूर्ण तरीका है।

अतिरिक्त पठन

इस ग्रंथ में उद्धृत सभी अभ्यासों पर स्वामी सत्यानन्द सरस्वती प्रणीत दो सर्वांगपूर्ण आधारभूत ग्रंथों में विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है – 'आसन प्राणायाम मुद्रा बंध' तथा 'ध्यान : तंत्र के आलोक में'। उपर्युक्त ग्रंथ योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित हैं। ये ग्रंथ चिकित्सकों, योग शिक्षकों तथा अभ्यासियों के लिए बहुपयोगी संदर्भ और मार्गदर्शक की भूमिका निभाते हैं।

अन्य योग चिकित्सा सम्बन्धी पुस्तकें, जो योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित की गई हैं, वे हैं – दमा एवं मधुमेह, समस्या पेट की समाधान योग का, उच्च रक्तचाप पर योग का प्रभाव तथा योग निद्रा एवं अंग्रेजी में योग एण्ड कार्डियोवस्कुलर मैनेजमेंट, एक्प्लोरिंग योगा एण्ड कैंसर, यौगिक मैनेजमेंट ऑफ कैंसर, आदि।

इन पुस्तकों में शरीर तंत्र, रोग विज्ञान एवं योग चिकित्सा के सभी पहलुओं पर विस्तार से चर्चा की गई हैं।

अन्य पुस्तकें जैसे 'योग प्रदीप', 'योग तरी तीरे तीरे', 'हठयोग प्रदीपिका' एवं योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट के अन्य प्रकाशन योग पर सभी संभव वैज्ञानिक, चिकित्सात्मक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोणों से एक साथ प्रकाश डालकर योग को एक पूर्णत: स्वस्थ जीवन शैली के पथप्रदर्शक एवं उच्च विचारधारा के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। आधुनिक इन्द्रियजन्य सुखों पर आधारित भौतिकवादी जीवन शैली, जो रोग एवं पीड़ा से सम्बद्ध है, उसे सुधारने, पुनर्जीवित एवं रूपान्तरित करने का मूलमंत्र ये पुस्तकें सिखाती हैं। ये एक ऐसी आध्यात्मिक जीवन शैली का पथ दर्शाती हैं, जिस पर चलने से शांति, स्वास्थ्य, आनंद एवं अंतत: आत्मानुभूति प्राप्त होती है। 'गंगा दर्शन आश्रम मुंगेर' में स्वामी सत्यानंद सरस्वती जी द्वारा स्थापित 'योग रिसर्च फाउंडेशन' में व्यापक अनुसंधान सामग्री एवं पुस्तकों का संकलन है, जो पूर्णत: योग, रोग एवं चिकित्सा विषय से संबंधित हैं। इस संस्था का ध्येय एक ऐसा रूप

धारण करना है जो अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हो रहे योग से सम्बन्धित प्रयोगों को प्रेरित कर उनकी जानकारी इकट्ठी करने का केन्द्र बिन्दु बने। ऐसी सुविधायें भी उपलब्ध करायी जा रही हैं, जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के योग चिकित्सक एवं वैज्ञानिक यहाँ स्वतंत्र रूप से यौगिक एवं तांत्रिक अभ्यासों के शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रभावों पर अनुसंधान कर सकें। चूँकि सभी प्रयोग आश्रम में ही होंगे, अत: सभी प्रचलित एवं गोपनीय क्रियाओं के साधारण प्रभाव, जैसे – स्वास्थ्य एवं रोगमुक्ति से लेकर मानव की अन्तर्निहित अन्त:शक्तियों एवं आन्तरिक प्रतिभाओं पर गहराई से अध्ययन किया जा सकेगा।

विषय-सूची

सम्पादकीय

प्रथम खण्ड – सिर और गर्दन

नेत्र दोषों की यौगिक चिकित्सा 3
सरदर्द 15
थायराइड ग्रन्थि के रोग 23

द्वितीय खण्ड – हृदय एवं परिसंचरण तंत्र

हृदय एवं परिसंचरण तंत्र 33

तृतीय खण्ड – श्वसन तंत्र

श्वसन प्रणाली के रोग 55
सामान्य जुकाम 63
ब्रोंकाइटिस एवं इयोसीनोफीलिया 67
दमा 73
साइनोसाइटिस और परागज ज्वर 83
टाँसिलाइटिस 90

चतुर्थ खण्ड–पाचन तंत्र

पाचन तंत्र की समस्याएँ 99
ऊपरी पाचन नलिका की समस्याएँ 105
कब्ज से मुक्ति 112
पेप्टिक अल्सर 117
कोलाइटिस (वृहदांत्रशोथ) 124
तीव्र पेचिस (गेस्ट्रो एन्ट्राइटिस) 129
अप-अवशोषण रोग समूह 132
मधुमेह (डायबिटीज-मेलाइटस) 137
यकृत दाह में योगोपचार 150
मोटापा 159

पंचम खण्ड – मांसपेशीय – अस्थि तंत्र एवं जोड़
आर्थ्राइटिस 167
ग्रीवादंश (सर्वाइकल स्पॉण्डिलाइटिस) 177
स्लिप डिस्क एवं सायटिका 180

षष्ठ खण्ड – मूत्र एवं प्रजनन प्रणाली
मूत्र एवं प्रजनन प्रणाली 191
गुर्दे की पथरी 197
अंग उतरना (प्रोलेप्स) 202
स्त्रियों की मूत्र प्रणाली की समस्याएँ 207
रज:स्राव की अनियमितताएँ 214
श्वेत प्रदर (ल्युकोरिया) तथा योनि संक्रमण 225
पुरुष प्रजनन तंत्र की समस्याएँ 233
अप्रजायिता एवं नपुंसकता 244
पौरुष ग्रंथि के रोग 250
हर्निया में योगाभ्यास 254
हाइड्रोसील 258

सप्तम खण्ड – अन्य समस्याएँ
त्वचा – रुग्णता एवं स्वास्थ्य 267
स्फीत शिरा (वैरीकोज़ वेन्स) 280

चित्र
नेत्र 4
अन्त:स्रावी तंत्र 24
हृदय एवं रक्त संचरण 34
श्वसन तंत्र 56
पाचन तंत्र 102
मूत्र वाहक पथ 192
स्त्री प्रजनन प्रणाली 215
पुरुष प्रजनन प्रणाली 234

प्रथम खण्ड

सिर और गर्दन

नेत्र दोषों की यौगिक चिकित्सा

'आँखें आत्मा का दर्पण हैं और उनकी पारदर्शिता में व्यक्ति का मूल स्वभाव स्पष्ट देखा जा सकता है।' साथ-ही-साथ दृष्टि हमारी सर्वाधिक बहुमूल्य ज्ञानेन्द्रिय है। बाह्य संसार की अधिकतर जानकारी या सांसारिक ज्ञान का अधिकांश भाग हम नेत्रों के माध्यम से ही ग्रहण करते हैं। एक विशिष्ट विचारधारा को 'दर्शन' कहा जाना मानसिक प्रक्रिया में दृष्टि का महत्त्व दर्शाता है। उसी के साथ योगियों द्वारा यह कहा जाना कि चर्मचक्षुओं की सीमाओं के परे ज्ञानचक्षु या अन्तर्दृष्टि द्वारा दूर-दूर तक के दृश्य देखे जा सकते हैं, वस्तुत: दृष्टि को एक जटिल एवं गूढ़ विषय बना देता है।

नेत्रों की बनावट

नेत्र वास्तव में मस्तिष्क का एक हिस्सा हैं, मगर मस्तिष्क का मात्र यही एक ऐसा हिस्सा है, जो खोपड़ी की हड्डी के बाहर झाँकता है। बहुत नाजुक अंग होने के कारण, प्रकृति ने भी इसे चारों ओर से हड्डियों के खाँचे में जड़ कर, पलकों का ढक्कन लगा दिया है। नेत्र गोलक की सतह तीन झिल्लियों से मिलकर बनी होती है, जिन्हें बाहर से भीतर की ओर स्क्लेरा, कोरॉयड एवं रेटिना कहा जाता है।

स्क्लेरा, नेत्रगोलक के बाहरी सफेद हिस्से के रूप में दिखाई पड़ती है। सामने की ओर, बीच में यह पारदर्शी हो जाती है ताकि प्रकाश भीतर प्रवेश कर सके। इस पारदर्शी हिस्से को कॉर्निया कहते हैं। इसके पारदर्शी हो जाने से इसके भीतर वाली झिल्ली का अगला हिस्सा दिखाई देने लगता है, जिसे आइरिस कहते हैं। आइरिस के बीचों-बीच एक छेद होता है, जिससे प्रकाश

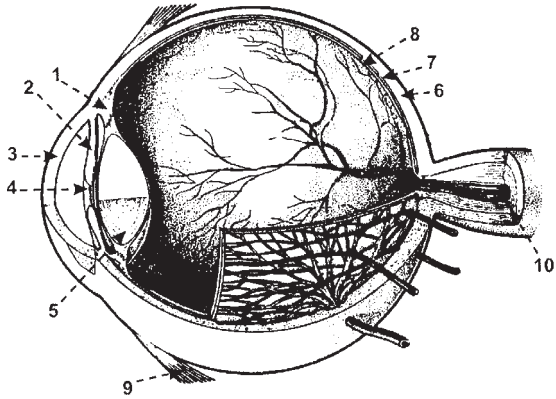

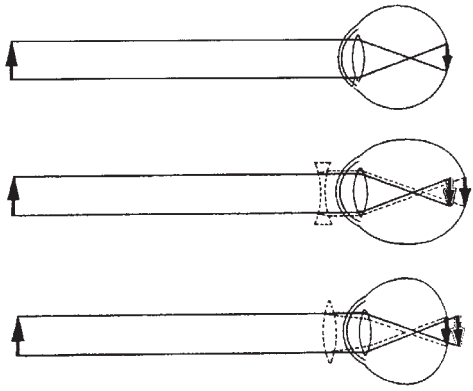

नेत्र गोलक की संरचना

1. सीलियरी मांसपेशियाँ
2. आइरिस
3. कॉर्निया
4. प्यूपिल
5. लेन्स
6. स्क्लेरा
7. कोरॉइड
8. रेटिना
9. चक्षु मांसपेशियाँ
10. चक्षु नाड़ी

सामान्य अवस्था

दूर से आती किरणों का प्रतिबिम्ब रेटिना पर बनता है।

निकट दृष्टिदोष

किरणें रेटिना के सामने फोकस होती हैं, अत: रेटिना पर प्रतिबिम्ब धुँधला बनता है।

दूर दृष्टिदोष या हाइपरमेट्रोपिया

किरणें रेटिना के पीछे फोकस होती हैं, अत: रेटिना पर प्रतिबिम्ब धुँधला बनता है।

नेत्र गोलक के भीतर पहुँच सके। इस छेद को *पुतली* या *प्यूपिल* कहते हैं। इस छेद का आकार बड़ा या छोटा होकर प्रकाश की मात्रा को नियंत्रित करता है। आइरिस का रंग भूरा, काला, नीला या हल्का भूरा (कंजी), कोई भी हो सकता है, इसी कारण आँखों का रंग अलग-अलग दिखाई देता है।

कॉर्निया, आइरिस एवं प्यूपिल के पीछे एक पारदर्शी लेन्स होता है, जो प्रकाश किरणों को आँख की पिछली दीवार की अंदरूनी झिल्ली, रेटिना पर फोकस या केन्द्रित करता है। इस लेन्स की फोकस दूरी सीलियरी मांसपेशियों के द्वारा घटायी या बढ़ायी जा सकती है, जिससे अलग-अलग दूरी की वस्तुओं को स्पष्ट देखा जा सके।

रेटिना की विशिष्ट संवेदनशील कोशिकाएँ वस्तुओं के प्रतिबिम्ब को विद्युत तरंगों में परिवर्तित कर चक्षु नाड़ी के माध्यम से मस्तिष्क को भेज देती हैं। मस्तिष्क का पिछला हिस्सा दोनों आँखों से एक साथ पहुँचने वाली, प्रतिबिम्ब की तरंगों को संघटित कर वस्तु के आकार, रंग, दूरी एवं दूसरी वस्तुओं से सापेक्षता का सही-सही अनुमान लगा लेता है। अत: जो भी हम देखते हैं, वह मात्र मस्तिष्क के द्वारा तरंगों का जटिल प्रक्षेपण ही है। इस तथ्य पर गहरायी से सोचने पर हम प्रकृति के चमत्कार को आसानी से समझ जाएँगे।

निकट एवं दूर दृष्टि-दोष

कारण – जैसा कि पहले बताया जा चुका है, लेन्स नेत्रगोलक के मध्य से गुजरने वाली प्रकाश किरणों को रेटिना पर फोकस करने के लिए उत्तरदायी है तथा लेन्स की फोकस दूरी सीलियरी मांसपेशियों द्वारा नियंत्रित होती है। यदि रेटिना पर प्रकाश किरणें ठीक से फोकस नहीं होंगी, तो प्रतिबिम्ब धुँधला बनेगा, अर्थात् हमें धुँधला दिखाई देगा। इससे हम इस नतीजे पर पहुँच सकते हैं कि दृष्टि-दोष (या धुँधला दिखायी पड़ने) के तीन कारण हो सकते हैं –

1. या तो लेन्स का पदार्थ गड़बड़ है, जो किरणों को ठीक से फोकस नहीं कर पा रहा है।
2. या सीलियरी मांसपेशियाँ कमजोर पड़ गई हैं अथवा अत्यधिक तनाव में है और लेन्स को ठीक से नियंत्रित नहीं कर पा रही है।
3. या रेटिना अपनी जगह से आगे या पीछे हिल गई है, जिससे उस पर प्रतिबिम्ब धुँधला बन रहा है। जिस प्रकार से सिनेमा प्रोजेक्टर के सामने से

पर्दा आगे या पीछे हटाने पर तस्वीर धुँधली हो जाती है, ठीक उसी तरह रेटिना का विस्थापन दृष्टि धुँधलापन उत्पन्न कर देता है। नेत्रगोलक की लम्बाई बढ़ने या घटने से ऐसा होता है।

इनमें से कोई भी गड़बड़ी निम्नलिखित तीन प्रकार के दृष्टि-दोष उत्पन्न कर सकती है –

1. *निकट दृष्टि-दोष या मायोपिया* – इस दृष्टि-दोष में प्रतिबिम्ब रेटिना के सामने ही फोकस हो जाता है और रेटिना पर आकृति धुँधली होकर पहुँचती है। ऐसा या तो लेंस के मोटे होकर फोकस दूरी कम होने से या रेटिना के पीछे खिसक जाने (नेत्रगोलक की लम्बाई बढ़ने से) के कारण होता है। यह रोग तरुणावस्था में अधिक देखा जाता है। इसमें दूर की चीजें धुँधली दिखाई पड़ती हैं।
2. *दूर दृष्टि-दोष या हाइपरमेट्रोपिया* – यह निकट दृष्टि-दोष का विलोम है। इसमें प्रतिबिम्ब रेटिना के पीछे फोकस होता है। अत: रेटिना पर अकेन्द्रित या धुँधला प्रतिबिम्ब बनने लगता है। यह आमतौर पर प्रौढ़ लोगों में देखा जाता है। इसमें पास की चीजें धुँधली दिखाई पड़ती हैं।
3. *एस्टिग्मेटिज्म* – इसमें लेन्स के पदार्थ या सतह में असमता होने के कारण रेटिना पर विकृत प्रतिबिम्ब बनता है। यह किसी भी उम्र में हो सकता है। इसमें किसी एक अक्ष में वस्तुएँ धुँधली दिखायी पड़ती हैं।

ये दृष्टि-दोष आजकल इतने आम हैं कि हम इनके अभ्यस्त हो गए हैं और यह सोचने में भी असमर्थ हैं कि चश्में के अलावा इन्हें ठीक करने का दूसरा उपाय भी हो सकता है। जैसे बाल झड़ते हैं, झुर्रियाँ पड़ती हैं, कमर झुकती है, वैसे ही बुढ़ापे के साथ-साथ चश्मा भी लग जाता है। इन सभी लक्षणों को हम प्राकृतिक मानकर चलते हैं। मगर हम यह नहीं जानते कि कुछ प्रकार के दृष्टि-दोषों को, खासकर कम उम्र में होने वाले दोषों को ठीक करने के तरीके हैं।

विश्व में बहुत से लोगों का मत एवं अनुभव है कि दृष्टि-दोष अपरिहार्य एवं असाध्य नहीं हैं, और केवल चश्मा ही इनका समाधान नहीं है। उनके इस अनुभव एवं सम्बन्धित प्रयोगों में योगाभ्यास तथा इससे मिलती-जुलती तकनीकों का काफी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

एक प्रसिद्ध लेखक 'अल्डस हक्सले' सोलह वर्ष की अवस्था में ही 'केराटाइटिस पन्क्टैटो' नामक बीमारी से लगभग अंधे हो गये थे। इसमें

कॉर्निया की अपारदर्शिता (फुल्ली) के साथ निकट दृष्टि-दोष एवं दूर दृष्टि-दोष भी हो जाते हैं। कुछ महीनों बाद वे विशेष चक्षु व्यायाम करने से बिना चश्मे एवं तनाव के पढ़ने-लिखने लगे।

इस शताब्दी के प्रारम्भ में एक नेत्र विशेषज्ञ 'डॉक्टर विलियम बेट्स' ने नेत्र पुनर्प्रशिक्षक का एक क्रान्तिकारी तरीका खोज निकाला था। एक नौजवान डॉक्टर के रूप में डॉ. विलियम बेट्स ने यह मानने से इन्कार कर दिया कि चश्मा ही एकमात्र उपाय है। चालीस वर्षों तक अनुसंधान में जुटे रहकर उन्होंने एक परिष्कृत एवं जटिल तकनीक का आविष्कार किया, जिससे अब तक कई व्यक्ति फायदा उठा चुके हैं। उन्होंने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि दृष्टि-दोष मानसिक एवं भावनात्मक तनाव के कारण, देखने में जोर लगाने अथवा दबाव डालने से उत्पन्न होते हैं, न कि आनुवांशिक कारणों से। उन्होंने जो तरीके खोजे, उनमें चक्षु व्यायाम, क्रमवीक्षण एवं योगनिद्रा से मिलते-जुलते अभ्यास, इत्यादि थे। उन तरीकों से अभ्यास करने पर कुछ क्षणों के लिए स्पष्ट दृश्य दिखाई देते तथा क्रमशः अधिक स्पष्ट होते जाते थे। धीरे-धीरे धुँधलेपन के स्थान पर पूर्णतः स्पष्ट दृष्टि प्राप्त हो जाती थी। यह कैसे सम्भव हुआ, इसे जानने के लिए हमें दृष्टि-दोष के कारणों का विस्तृत अध्ययन करना होगा।

दृष्टि-दोष के मूल कारण

जो भी दृश्य हमारे नेत्र देखते हैं, उसमें विभिन्न दूरी पर स्थित वस्तुओं को ठीक से फोकस करने के लिए लेंस को समायोजित करना पड़ता है। लेंस की फोकस दूरी ठीक करने का कार्य सीलियरी मांसपेशियों द्वारा होता है, जो उसे चारों ओर से नियंत्रित करती हैं। जब हम पास की वस्तुएँ देखते हैं, तो ये मांसपेशियाँ सिकुड़कर लेंस को मोटा कर देती हैं, जिससे उसकी फोकस दूरी कम हो जाती है। जैसे ही हम दूर देखते हैं, ये मांसपेशियाँ ढीली होकर लेंस को पतला कर, इच्छित स्थान पर बिल्कुल सटीकता से फोकस कर देती हैं। इस तरीके से हमें बाह्य वातावरण की स्पष्ट एवं साफ तस्वीर मिलती रहती है।

निकट दृष्टि-दोष में सीलियरी मांसपेशियाँ लगातार संकुचित रहती हैं, और लेंस को दूर के दृश्यों पर ठीक से फोकस करने में बाधा डालती हैं। पढ़ते समय जोर लगाने से यह स्थिति विशेष रूप से पैदा होती है।

उदाहरण के तौर पर, जो विद्यार्थी लम्बे समय तक लगातार जोर देकर पढ़ते रहते हैं, वे अपनी सिलियरी मांसपेशियों को अस्वाभाविक रूप से संकुचित किये रहते हैं, जिससे उनकी मांसपेशियाँ अकड़ जाती हैं और जरूरत पड़ने पर (दूर देखते समय) ठीक से ढीली नहीं पड़तीं। अत: उनका लेंस दूर की वस्तुओं पर फोकस नहीं कर पाता और वे धुँधली दिखने लगती हैं। इसे ही हम निकट दृष्टि-दोष कहते हैं। समस्या, मात्र पढ़ने से उत्पन्न नहीं होती, वरन् पढ़ते समय समझने और याद करने में जो लम्बा समय एवं प्रयत्न लगता है, साथ ही प्रतियोगिताओं एवं परीक्षाओं का दबाव, ये सभी मिलकर एक तनाव की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं। साथ-ही-साथ असमय सोने, असमय खाने की आदत, धूम्रपान, अस्वस्थ एवं असन्तुलित दिनचर्या, सभी मिलकर आँखों पर कुप्रभाव डालते हैं। लम्बे समय तक किताबों की दुनिया में तनावपूर्वक रहने से आँखें दूर की वस्तुओं पर केन्द्रित होना लगभग भूल-सी जाती हैं। यही कारण है कि विद्यार्थी जीवन में निकट दृष्टि दोष अधिक होता है।

पढ़ते या देखते समय आँखों पर जोर डालने पर आँखों के साथ-साथ चेहरे, माथे, कनपटी, जबड़े, गरदन एवं कंधों की मांसपेशियों पर भी तनाव पड़ता है। निकट दृष्टि दोष तथा अन्य सम्बन्धित दृष्टि दोष, सभी मनोकायिक रोगों की श्रेणी में आते हैं, जो मानसिक एवं भावनात्मक तनाव से उत्पन्न होते हैं।

चेहरे की मांसपेशियों के तनाव एवं दृष्टिदोषों से सम्बन्धित एक और रोचक तथ्य दृष्टिगत हुआ है कि जब हम जोर डालते हैं तो पलकों का झपकना बन्द या कम हो जाता है। पलकें झपकाना आँखों को स्वस्थ एवं नम रखने तथा धूलकण इत्यादि से बचाव के लिए आवश्यक है। इसके साथ ही पलकें झपकाने से आँखों को क्षणिक आराम भी मिलता है। आँखों पर जोर डालने से इस स्वाभाविक प्रक्रिया पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। कभी इस रोचक प्रयोग को करके देखिए, किसी सुखद आसन में बैठकर बार-बार पलकें झपकाइये और आँखों पर इसका प्रभाव महसूस कीजिए। आप स्वयं इसका महत्त्व समझ जाएँगे।

अधिक उम्र के व्यक्तियों में दूर दृष्टि-दोष बहुलता से पाया जाता है। उम्र बढ़ने के साथ जैसे-जैसे शरीर की मांसपेशियाँ शिथिल पड़ती जाती हैं, सीलियरी मांसपेशियाँ भी ढीली पड़ जाती हैं, फलस्वरूप वे पास की

वस्तुओं पर लेन्स को ठीक से फोकस नहीं कर पातीं। बहुधा ऐसा होता है कि निकट दृष्टि दोष वालों की कड़ी सीलियरी मांसपेशियाँ उम्र के साथ शिथिल पड़ती हैं तो कुछ समय के लिए उन्हें साफ दिखाई देने लगता है, परन्तु फिर ढीलापन बढ़ने पर दूर दृष्टि-दोष हो जाता है। तभी बहुत से व्यक्ति न तो पास की, न ही दूर की वस्तुएँ ठीक से देख पाते हैं। इस स्थिति में उन्हें द्विफोकस लेंस लगाने पड़ते हैं, जिसमें ऊपर का आधा लेंस दूर के लिए तथा नीचे का आधा लेंस पास के लिए या पढ़ने के लिए होता है।

दोष निवारण के उपाय

योग, दृष्टि-दोषों को एक पृथक् रोग न मानते हुए, शारीरिक एवं मानसिक तनावजन्य या मनोकायिक व्याधि मानता है। अत: सिर्फ चक्षु व्यायाम नहीं, वरन् पूरी स्नायविक, मानसिक एवं शारीरिक प्रणाली को मूल रूप से सुधारने का प्रयत्न ही दृष्टि-दोषों को पूर्णत: ठीक कर सकता है। आँखों की मांसपेशियों का तनाव एवं ढीलापन ठीक करने के लिए ऐसे व्यायामों का अभ्यास करना हितकर होगा जो पहले उन्हें तनावरहित करें, फिर उन्हें लचीलापन एवं शक्ति प्रदान करें। चश्मा पहनने की अपेक्षा यह ज्यादा तर्कसंगत उपाय है। चश्मा दृष्टि-दोष को एक ही स्थान पर आबद्ध कर देता है, और मांसपेशियों को सामान्य अवस्था तक शिथिल नहीं होने देता। अत: चश्मे पर निर्भरता धीरे-धीरे कम करनी ही होगी, अन्यथा उससे छुटकारा पाना बहुत मुश्किल हो जायेगा।

चक्षु व्यायाम के अतिरिक्त एक स्वास्थ्यवर्द्धक जीवनचर्या अपनाना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। भोजन हल्का, सादा, निरामिष एवं प्राकृतिक हो। दूध, गाजर, पपीता जैसे फल एवं सलाद इत्यादि, जिनमें 'विटामिन ए' की अधिकता हो, अवश्य लेने चाहिए। इसके अलावा 'विटामिन सी', 'विटामिन बी12' एवं आवश्यक अमीनो अम्ल युक्त पदार्थ, जैसे – हरी सब्जियाँ, आँवला इत्यादि भी पर्याप्त मात्रा में लेना चाहिए।

अन्य किसी भी रोग की तरह, दृष्टि दोषों का यौगिक इलाज प्रारम्भ करने से पूर्व, किसी योग्य चिकित्सक का परामर्श आवश्यक है, क्योंकि मधुमेह, उच्च रक्तचाप, धमनियों का कड़ापन, गुर्दे के रोग या आँखों की अन्य गम्भीर समस्याओं की वजह से भी दृष्टिदोष उत्पन्न हो सकते हैं, जिनका विस्तृत वर्णन यहाँ सम्भव नहीं है।

यौगिक उपचार

आँखों के पुनर्प्रशिक्षण के लिए अनुशंसित योगाभ्यासों को करने से चश्मे पर निर्भरता धीरे-धीरे कम होगी एवं उसका पावर कम होता जायेगा। परन्तु इसका पूर्ण लाभ प्राप्त करने के लिए धैर्यपूर्वक नियमित अभ्यास आवश्यक है, जिसमें शायद कई महीने भी लग सकते हैं। एक बार थोड़ा असर होने से उत्साह बढ़ेगा तथा अभ्यास करते रहने पर धीरे-धीरे रोग की जड़ से समाप्ति सम्भव है।

पढ़ते समय पढ़ाई का कमरा तथा वातावरण स्वच्छ एवं अनुकूल होना चाहिए। प्रकाश की मात्रा पर्याप्त होनी चाहिए, न बहुत कम और न ही बहुत तेज। सामने की ओर ऊपर में एक ट्यूबलाइट तथा साथ में एक टेबल लैम्प, जो थोड़ी दूर पर रखा हो, पर्याप्त है, अथवा दिन में एक खिड़की के पास से आने वाला प्रकाश भी पर्याप्त होगा। पठन सामग्री एवं आँखों के बीच की दूरी लगभग एक से डेढ़ फुट होनी चाहिए। यदि लम्बे समय तक पढ़ाई करनी हो तो बीच-बीच में आँखों को विश्राम देते रहना चाहिए। इन सब सावधानियों को अपनाने से आँखों पर जोर नहीं पड़ता तथा बिना तनाव अध्ययन हो सकता है।

आसन

चक्षु व्यायाम आँखों पर पड़ने वाले तनाव को दूर करते हैं तथा मांसपेशियों के उपयोग का सही ढंग से निर्धारण करते हैं। इसके अलावा बाह्य एवं आन्तरिक चक्षु मांसपेशियों के लगातार दबाव से होने वाली लेंस और नेत्र गोलक की विकृतियाँ भी ठीक होती हैं।

योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'आसन प्राणायाम मुद्रा बन्ध' में चक्षु व्यायाम का जो अध्याय है, उसमें सभी प्रकार के व्यायाम विस्तारपूर्वक समझाये गये हैं। वह अध्याय नेत्रों को स्वस्थ रखने के लिए अपने आप में एक सम्पूर्ण संदर्शिका है। मुख्य आसन समूह नेत्रों को विभिन्न दिशाओं में घुमाने, निकट और दूर देखने तथा हथेलियों को रगड़कर मालिश करने से सम्बन्धित है। इनसे न केवल बाह्य माँसपेशियों, वरन् आन्तरिक सिलियरी मांसपेशियों का भी अभ्यास हो जाता है।

शाम्भवी मुद्रा जो उपर्युक्त आसनों में अन्तर्निहित है, अपने आप में प्राणिक एवं आध्यात्मिक ऊर्जा को अनुप्रेषित करने का शक्तिशाली तरीका

है। यह मुद्रा आज्ञाचक्र या तृतीय नेत्र को जाग्रत कर अन्त:प्रज्ञा या उच्च चेतना का विकास करती है, जिससे हमें तनाव के मूल कारणों को समझकर उन्हें दूर करने में सहायता मिलती है। जैसे ही शाम्भवी मुद्रा में दृष्टि को भ्रूमध्य में केन्द्रित किया जाता है, मस्तिष्क में स्थित चक्षु केन्द्र उत्तेजित होकर पूरे मस्तिष्क को शान्त करने वाली अल्फा तरंगें उत्पन्न करने लगते हैं। आँखों को तिर्यक करने से ही अल्फा तरंगें उत्पन्न होने लगती हैं। अत: शाम्भवी मुद्रा ध्यानावस्था में प्रवेश कर आध्यात्मिक आयाम में विकास का प्रभावी माध्यम है।

हथेलियों को आपस में रगड़ने से आवेशीय ऊर्जा उत्पन्न होती है, तथा इसे आँखों पर रखने से उनकी गर्मी आँखों को शिथिल कर उन्हें आराम पहुँचाती हैं। इस क्रिया से भी अल्फा तरंगें उत्पन्न होती हैं। जब हम गर्म हथेलियों को आँखों पर रखते हैं तो उस समय बन्द आँखों के सामने फैले हुए अनन्त चिदाकाश के अंधेरे को देखते हैं। इसके साथ ही यह भी महसूस करते हैं कि हमारी आँखें पिघल रही हैं तथा उन्हीं के साथ सभी तनाव भी। ऐसा ही अनुभव डूबते हुए सूरज के सामने बैठकर भी कर सकते हैं। इन दोनों क्रियाओं के दौरान एकाग्रता पर जोर नहीं देना चाहिए, बल्कि शान्तिपूर्वक देखते हुए सभी तनावों को पिघलकर बह जाने देना चाहिए।

हथेलियों को रगड़कर आँखों पर रखने की क्रिया को और अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए लगभग दो फीट की दूरी पर एक कार्ड में कोई भी संख्या या आकार बनाकर अपने सामने रखें। गर्म हथेलियाँ आँखों पर रखकर बन्द आँखों के सामने उस संख्या अथवा आकार का स्पष्ट रूप से देखने का प्रयत्न कीजिए। मानसिक रूप से सारा धुँधलापन हटा दीजिए। कुछ क्षणों पश्चात् हथेलियाँ हटाइये तथा धीरे से आँखें खोलकर उस आकार पर दृष्टि जमाइये, अब वह आपको तब तक स्पष्ट दिखाई देगा, जब तक कि मांसपेशियों की पुरानी प्रवृत्ति कार्यरत हो उसे दुबारा धुँधला नहीं कर देती। इस प्रकार धीरे-धीरे मांसपेशियाँ स्वाभाविक रूप में आने के लिए पुनर्प्रशिक्षित हो जाएँगी।

अन्य अभ्यास

सर्वांगासन तथा शीर्षासन दोनों से ही नेत्रों का रक्त संचरण बढ़ता है तथा प्राणिक ऊर्जा के प्रवाह में होने वाले अवरोध दूर होते हैं।

सूर्य नमस्कार तथा सूर्यभेदी प्राणायाम सम्पूर्ण शारीरिक तंत्र को पुनर्कल्पित कर तनाव दूर करते हैं, तथा पिंगला नाड़ी में प्रवाहवर्द्धन द्वारा प्राणिक ऊर्जा उत्पन्न कर आरोग्य प्रदान करते हैं।

हठयोग क्रियायें

1. नेति क्रिया – इसका दृष्टि एवं मस्तिष्कीय तंत्रिकाओं पर सीधा असर पड़ता है, जो प्रतिवर्ती रूप से सिर के सभी अंगों पर प्रभाव डालती है। यह साधारण क्रिया वास्तव में बहुत शक्तिशाली एवं उपयोगी सिद्ध हुई है। एक चिकित्सक के द्वारा ट्रैकोमा या रोहे नामक बीमारी पर, जो अंधापन तक उत्पन्न करने में सक्षम है, नेति का स्पष्ट सकारात्मक प्रभाव देखा गया है। वस्तुत: यह क्रिया आज्ञा चक्र को उत्तेजित करती है, जिससे पूरे सिर एवं चेहरे में प्राणशक्ति का प्रवाह बढ़ता है व मांसपेशीय तथा मनोकायिक तनाव दूर होते हैं। यह न केवल सभी नेत्र रोगों, वरन् स्नायविक रोगों तथा जुकाम, खाँसी इत्यादि में भी उपयोगी है।

2. अमरोली – अमरोली आँखों के लिए अत्यन्त लाभकारी है, विशेषत: जब मध्य धारा की कुछ ताजी बूँदें आँखों में डाली जायें। अगर जलन हो तो पानी मिलाकर डाला जा सकता है। विशेष प्रभाव के लिए शिवाम्बू नेति (पानी से तनुकृत) भी की जा सकती है या नासिकाग्र से शिवाम्बू पान भी किया जा सकता है। यदि अमरोली कठिन लगे तो ताजे पानी का उपयोग करना चाहिए।

3. त्राटक – त्राटक एक शक्तिशाली यौगिक क्रिया है, जो निकट दृष्टि-दोष के लिए विशेष रूप से लाभकारी है। यदि आपको अधखुली पलकों से देखने पर या एक छोटे से छिद्र में से देखने पर अधिक स्पष्ट दिखाई देता है, तो एक श्याम बिन्दु पर त्राटक का अभ्यास आपको बहुत लाभ पहुँचायेगा। त्राटक बलपूर्वक अथवा तनावपूर्वक देखने की आदत को जड़ से हटाकर शान्त एवं नियंत्रित दृष्टि पुनर्स्थापित करता है। इससे अनियंत्रित मानसिक विक्षेपों में भी स्थिरता आती है। यह हम सभी जानते हैं कि तनाव अथवा घबराहट की स्थिति में आँखों को एक स्थिर बिन्दु पर केंद्रित करने से तनाव शान्त हो जाते हैं। अत: जो तनाव आँखों की बाह्य एवं आन्तरिक मांसपेशीय पर दुष्प्रभाव डालकर दृष्टि-दोष उत्पन्न करते हैं, वे जड़ से समाप्त हो जाते हैं। इसके अलावा हीनभावना से ग्रस्त व्यक्ति आँखों में आँखें डालकर बात करना तो दूर, नजरें ऊँची करके भी बात नहीं कर सकता। दृष्टि-स्थैर्य उस हीनभावना को भी

प्रभावित करता है। इसलिए यह कहना उचित है कि त्राटक का हमारे व्यक्तित्व की कई परतों पर शक्तिशाली प्रभाव पड़ता है। त्राटक का एक अन्य परिष्कृत परिवर्तित रूप है, जिसे 'केन्द्रीय लक्ष्य बन्धन' कहते हैं। सामान्यत: वस्तुओं का प्रतिबिम्ब आँख में रेटिना के केन्द्र बिन्दु, जिसे मेक्यूलाल्यूटिया या प्रकाशित बिन्दु कहते हैं, पर फोकस होता है। जो भी प्रतिबिम्ब ठीक उसी बिन्दु पर बनता है, वह सबसे स्पष्ट दिखाई देता है और जैसे-जैसे उससे दूर प्रतिबिम्ब बनता है, वह अस्पष्ट होता चला जाता है। उदाहरण के तौर पर, जब आप यह पंक्ति पढ़ रहें हैं तो इसी के साथ-साथ पूरा पन्ना भी आपको दिखाई दे रहा है, मगर सभी अक्षर एवं शब्द स्पष्ट नहीं हैं। आप एक बार में एक पंक्ति के एक या कुछ शब्द पढ़ सकते हैं। ऐसा इसलिए कि उस शब्द का प्रतिबिम्ब उस केन्द्रीय बिन्दु पर बन रहा है और बाकी का प्रतिबिम्ब उसके चारों ओर, इसीलिए एक केन्द्र से बाहर की ओर दृष्टि-क्षेत्र क्रमश: अस्पष्ट होता जाता है।

यह अभ्यास करने का प्रयास कीजिए – जो पंक्ति या लाइन आप पढ़ रहे हैं, उसके ठीक नीचे वाली लाईन पर दृष्टि रखिए, और उस ऊपर वाली पंक्ति को पढ़ने की कोशिश कीजिए, साथ-ही-साथ इस बात से भी अवगत रहिए कि सिर्फ केन्द्रीय बिन्दु के पास के शब्द ही स्पष्ट हैं, बाकी सभी अस्पष्ट। इसी प्रकार से लिखते समय इस बात के प्रति सचेत रहें कि सिर्फ पेन की नोंक के पास के शब्द ही स्पष्ट हैं, बाकी अस्पष्ट। इस अभ्यास के द्वारा अपने दृष्टि-क्षेत्र की स्पष्टता का विस्तार करने की कोशिश कीजिए, क्योंकि जब हम न केवल केन्द्रीय, वरन् बाहर के अस्पष्ट क्षेत्र के प्रति सजगता बढ़ाते हैं तो तनाव की अपेक्षा शिथिलीकरण होता है।

शिथिलीकरण

इस वैज्ञानिक युग की सभी शिथिलीकरण प्रक्रियाओं में महानतम आविष्कार है, योगनिद्रा। यह हमारी चेतना के गहनतम स्तरों तक पहुँचकर उन सभी संस्कारों एवं तनावों को दूर करने में सक्षम है जो रोग उत्पन्न करते हैं। अभ्यास के दौरान जब चेतना को सभी अंगों पर घुमाया जाता है तो आँखों पर विशेष प्रभाव डालने के लिए आँखों, भौंहों तथा चेहरे पर ज्यादा समय तक रुकते हैं। सजगतापूर्वक श्वसन क्रिया करते समय श्वास के प्रवाह को भ्रूमध्य से होता हुआ महसूस करें। कल्पना करें कि श्वास लेते समय श्वास भ्रूमध्य से प्रवेश कर सिर के पीछे तक जाती है, व श्वास छोड़ते समय पीछे से सामने

की ओर आकर भ्रूमध्य से बाहर निकल रही है। इसी प्रकार दूसरे अभ्यास में दोनों नासिकाओं से प्रविष्ट होने वाली श्वास-धाराओं को भ्रूमध्य में संयुक्त होते हुए तथा प्रश्वास को वहाँ से दो धाराओं में विभक्त हो दोनों नासिकाओं से (अंग्रेजी के उल्टे अक्षर 'वी' की तरह) नि:सृत होते हुए परिकल्पित करें।

उपर्युक्त वर्णित सभी विधियों का अभ्यास (किसी योग्य व्यक्ति के निर्देशन में) दृष्टि दोष से मुक्ति पाने का शक्तिशाली एवं स्थायी उपाय है। धैर्यपूर्वक नियमित अभ्यास ही सामान्य दृष्टि पाने और अन्तत: अन्तर्दृष्टि जाग्रत करने का मूलमंत्र है।

सरदर्द

भौतिकवाद की तेज रफ्तार से दौड़ती हुई दुनिया में सबसे आम समस्या है, सरदर्द। शायद ही कोई ऐसा विरला व्यक्ति हो जिसने सरदर्द का अनुभव न किया हो। परन्तु इसका समुचित समाधान खोजे एवं जाने बगैर ही या तो हम इसे एस्प्रीन की गोली से दबा देते हैं या अपने जीवन के एक अंग के रूप में स्वीकृत कर लेते हैं। एक चिकित्सक के पास आने वाले रोगियों में भी सबसे अधिक संख्या सरदर्द के मरीजों की ही होती है। सरदर्द के कई प्रकार आयुर्विज्ञान में वर्णित हैं एवं प्रत्येक प्रकार में दर्द का मूल स्थान भिन्न होता है। सामान्य मान्यताओं के विपरीत मस्तिष्क स्वयं तो संज्ञा-शून्य होता है, मगर खोपड़ी के भीतर तथा बाहर बहुत-सी पीड़ा संवेदी संरचनाएँ होती हैं। नामानुसार वे हैं – मस्तिष्क की धमनियाँ तथा शिरानाल मस्तिष्क की बाह्य झिल्ली (ड्यूरामेटर) तथा सिर की त्वचा के नीचे की मांसपेशियाँ।

रोग लक्षण

लम्बे समय तक, बार-बार होने वाले क्रॉनिक सरदर्द या बहुत तीव्र सरदर्द या दर्द के साथ अंगदौर्बल्य, झटके अथवा बेहोशी आने पर मरीज का संपूर्ण मेडिकल चेकअप तथा इलाज एक योग्य चिकित्सक के निर्देशन में होना चाहिए, क्योंकि कई गम्भीर बीमारियाँ, जैसे – ब्रेन ट्यूमर तथा मस्तिष्क ज्वर, इत्यादि मात्र सरदर्द के रूप में शुरू होते हैं।

रक्त नलिकाओं से उठने वाले दर्द – इस प्रकारान्तर की विशेष पहचान दर्द का प्रत्येक धड़कन के साथ बढ़ना और घटना है, जिसे लौहकना भी कहते हैं। इस प्रकार का दर्द, स्थानीय जैव रासायनिक-स्नायविक प्रक्रिया या

रक्त दबाव के कारण रक्त नलिकाओं के फैल जाने (डायलेशन) से व उनकी भित्तियों में अवस्थित पीड़ा सम्बन्धी तन्तुओं पर खिंचाव पड़ने से होता है। सिर पर चोट लगने के पश्चात् या मिरगी के दौरे के बाद, ऊँचे पहाड़ी स्थानों पर अथवा मदिरा सेवन के बाद जो सरदर्द होता है, वह इसी प्रकार की प्रक्रिया के फलस्वरूप होता है, जो मुख्यत: अंत: कपालिक संवहनियों में होती है। आधासीसी या माइग्रेन तथा उच्च रक्तचाप में होने वाले सरदर्द का सम्बन्ध मुख्यत: बाह्य कपालिक रक्त नलिकाओं के फैलने (डायलेशन) से है।

1. *पेशीय अति संकुचन*– यह सरदर्द के मुख्य कारणों में सबसे प्रथम है। सिर एवं ग्रीवा पृष्ठ की माँसपेशियाँ मानसिक या भावनात्मक तनाव के स्नायविक प्रतिफलस्वरूप अतिसंकुचित हो एक खिंचावपूर्ण या दबाव पूर्ण पीड़ा का अनुभव उत्पन्न करती हैं। तीव्रता के अनुरूप लम्बे समय तक निरन्तर कड़ेपन की अनुभूति से लेकर काफी तीव्र पीड़ा तक का अनुभव हो सकता है। यह दर्द सिर के दोनों ओर एक सम होता है। सिर एवं गर्दन की कड़ी मांसपेशियों को दबाने पर कई स्थानों पर संवेदनशील पीड़ा बिन्दु महसूस किए जा सकते हैं। लगातार सिर झुकाकर कार्य करना या चिन्ता व परेशानी अक्सर इसके शुरुआती कारण होते हैं।
2. *संप्रेषित सरदर्द*– जब आँखों से या नासिका से दर्द संप्रेषित होकर सिर में महसूस होता है तब उसे संप्रेषित सरदर्द कहते हैं। आँखों के दृष्टि दोष या ग्लॉकोमा, नासिकाओं में सर्दी, जुकाम, अतिसंवेदनशीलता या साइनोसाइटिस जैसे रोग इत्यादि सभी से प्रेषित स्नायविक स्पंदन प्रतिवर्ती तौर पर सरदर्द उत्पन्न करते हैं।
3. *आधिज (तनाव-जन्य) सरदर्द*– पूर्व कथनानुसार मानसिक अथवा भावनात्मक तनाव से होने वाले सरदर्द को यह संज्ञा भी दी जाती है। इसमें सिर के ऊपर भारीपन-सा, चारों ओर एक पट्टे की भाँति कसाव जैसा महसूस होता है। माइग्रेन के मूल में भी यही तनाव रहता है, हालाँकि उसे चिकित्सा विज्ञान में एक अलग प्रकार का रोग माना गया है।

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रकार

सरदर्द के दो सबसे महत्त्वपूर्ण प्रकार हैं– माइग्रेन एवं तनावजन्य सरदर्द।

1. माइग्रेन – समय-समय पर उठने वाले इस अत्यन्त तीव्र सरदर्द की विशेषता यह है कि दर्द आधे सिर में ही होता है तथा अक्सर इसके साथ

उल्टियाँ तथा दृष्टि वैषम्य संबद्ध रहते हैं। यह रोग पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक होता है। ऐसा समझा जाता है कि माइग्रेन का दर्द स्वचालित या ऑटोनॉमिक तंत्रिकाओं के असन्तुलन के कारण बाह्य कपालिक रक्त नलिकाओं के फैलने से होता है। ये तंत्रिकाएँ नलिका आकुंचन बनाए रखकर सिर के रक्त प्रवाह को नियंत्रित करती हैं। नलिकाओं के फैलने से उनकी भित्ति में स्थित पीड़ा-संवेदी तन्तु उत्तेजित हो दर्द उत्पन्न करते हैं।

माइग्रेन में पारिवारिक प्रवणता पाई जाती है। लगभग तीन चौथाई मरीजों के किसी-न-किसी सगे सम्बन्धी को भी इसी रोग से प्रभावित पाया गया है। मगर यह तथ्य अभी प्रमाणित नहीं हुआ है कि रोग अनुवांशिक है या व्यावहारात्मक विरासत है। सामान्यत: लगभग वय:सन्धि की अवस्था से शुरू होकर मध्यवय के उत्तरार्द्ध तक माइग्रेन का दर्द समय-समय पर उठता रहता है। दर्द के दौरे कुछ दिनों से लेकर कई महीनों तक के अन्तराल से उठते हैं। अक्सर इनका सम्बन्ध भावनात्मक दबाव से अपूरित महत्त्वाकांक्षाओं या अनाभिव्यक्त लैंगिक समस्याओं से रहता है, जो चिड़चिड़ापन व खीज उत्पन्न करते हैं। आश्चर्यजनक रूप से कई बार दर्द तनाव रहित अवस्था में उठता है, जब तनावपूर्ण स्थिति लगभग समाप्त दृष्टिगोचर होती है। विभिन्न व्यक्तियों में माइग्रेन के लक्षण विविध व विचित्र रूप धारण कर सामने आते हैं, पर माइग्रेन के प्रकोप का पहला लक्षण सामान्यत: श्वेत या रंग-बिरंगे प्रकाश का झिलमिलाना या प्रकाश बिन्दुओं की तीव्र कौंध, आड़ी तिरछी रेखायें या अन्य दृष्टि वैषम्यों का होना होता है। शरीर के आधे हिस्से में संज्ञाशून्यता या कमजोरी महसूस होना अथवा दोनों हाथों की या होठों की सुन्नता का भी अनुभव हो सकता है। यह लक्षणकाल लगभग आधे घण्टे तक चलता है तथा इसे पूर्वाभास का दौर कहते हैं।

इसके पश्चात् वास्तविक सरदर्द का दौर चालू होता है। दर्द एक बिन्दु से शुरू होकर धीरे-धीरे आधे सिर में (या कभी-कभी पूरे सिर में) फैल जाता है। दर्द अत्यन्त तीव्र एवं प्रतिस्पन्द करता हुआ महसूस होता है। व्यक्ति पसीने-पसीने होकर उल्टियाँ करने लगता है तथा प्रकाश एवं ध्वनि बर्दाश्त नहीं कर सकता, अतएव उसे अंधेरे शान्त कमरे में बिस्तर पर पड़े रहना बेहतर लगता है। यह दौरा कुछ घण्टों से लेकर कुछ दिनों तक चलता है तथा रोगी को लस्त/पस्त एवं शक्तिहीन बना देता है।

माइग्रेन का दौरा बहुत कारणों से अवक्षेपित हो सकता है, मगर हर रोगी के लिए एक अलग या विशिष्ट परिस्थिति होती है, जिससे दर्द प्रवर्तित

होता है। यह कुछ विशेष पदार्थों जैसे चीज, चॉकलेट या शराब के सेवन से, जिसमें टायरामीन नामक तत्त्व अधिकता में रहता है, हो सकता है। इसी प्रकार कुछ लोगों को दौरा सूर्योदय के साथ शुरू होकर दोपहर तक चलता है, आकाश बादलों से आच्छादित होने पर वे पूर्ण स्वस्थ रहते हैं। अन्य लोगों में चन्द्रमा की स्थिति से दर्द का सम्बन्ध रहता है। दर्द के सम्बन्धित कारण को एक बार में ही ताड़ लेना इतना आसान नहीं है, मगर मरीज को स्वयं सचेत रह कर कारण ढूँढ़ना होगा। दर्द का स्थान भी लोगों में अलग-अलग रहता है, कुछ को आधे सिर में, कुछ को शीर्ष पर या कुछ को सिर के पीछे में दर्द हो सकता है।

2. तनावजन्य सरदर्द – माइग्रेन एवं तनावजन्य सरदर्द दोनों ही मानसिक भावनात्मक तनाव से सम्बन्धित हैं, अन्तर इतना ही है कि माइग्रेन स्वसंचालित तंत्रिकाओं के माध्यम से तथा तनावजन्य सरदर्द कायिक तंत्रिकाओं के माध्यम से दर्द की अनुभूति उत्पन्न करता है। तनाव के कारण तंत्रिका तन्तु सिर की त्वचा के नीचे की पतली मांसपेशीय को या ग्रीवा पृष्ठ की पेशियों को प्रेरित कर लगातार आकुंचित बनाए रहते हैं। इसके कारण उन पेशियों में दर्द की संवेदना उत्पन्न होती है।

इस लगातार एक समान बने रहने वाले दर्द से, जो माइग्रेन के विपरीत स्पंदनहीन होता है, हम सभी परिचित हैं। इस दर्द की तीव्रता हल्की या अधिक या धीरे-धीरे शुरू होकर असहनीय तक हो सकती है। यह सिर के एक स्थान पर या पूरे सिर में हो सकता है। अक्सर व्यक्ति को पूरे सिर पर दबाव-सा पड़ता हुआ महसूस होता है। बिना दर्द निवारक औषधि के दर्द कुछ घण्टों तक या और लम्बे समय तक बना रह सकता है। लम्बे समय तक दर्द बने रहने पर सिर, जबड़े, गले एवं पीठ की मांसपेशियों में कड़ापन आ जाता है एवं उनकी क्रियाशीलता सीमित हो जाती है। उन्हें दबाने पर दर्द महसूस होता है तथा उनमें कड़े संवेदनशील पीड़ा बिन्दु महसूस किए जा सकते हैं।

दर्द अक्सर तनावपूर्ण स्थितियों से गुजरने के बाद या उसके दौरान ही उठता है। इसके अलावा आँखों पर जोर डालने या दृष्टि दोष होने से भी हो सकता है। कान, नाक, दाँत या साइनस इन्फेक्शन के कारण प्रतिवर्ती रूप से सिर एवं कनपट्टी की पेशियाँ अतिसंकुचित हो पीड़ानुभव में वृद्धि करती है। इसी प्रकार से सर्वाइकल स्पॉडिलाइटिस या डिस्क ह्रास में होने वाला सरदर्द भी पेशीय अतिसंकुचन द्वारा ही उत्पन्न होता है।

माइग्रेन एवं तनावजन्य सरदर्द एक ही व्यक्ति में एक साथ हो सकते हैं। कब्ज या मासिक धर्म की अनियमितताओं में सरदर्द होना काफी आम है। ऐसे सरदर्द, मूल समस्या का समाधान होते ही स्वत: ठीक हो जाते हैं।

सरदर्द की आधुनिक चिकित्सा

विभिन्न प्रकारों के दर्द का उपचार उनके मूल कारण पर निर्भर रहता है। प्राथमिक व्याधि, जैसे, आँखों की तकलीफ, जुकाम या बुखार का इलाज होते ही उनके द्वारा उत्पन्न होने वाला सरदर्द अपने आप ठीक हो जाता है। पूर्व वर्णित अन्य गम्भीर बीमारियों का इलाज भी उनके अनुरूप होना चाहिए, जिसका विवरण यहाँ संभव नहीं है। माइग्रेन तथा तनावजन्य सरदर्द, जो व्यक्ति की आम परेशानियाँ हैं, उनके लिए लाक्षणिक या दर्द निवारक ओषधियों का सेवन ही एकमात्र उपाय है। आधुनिक चिकित्सा प्रणाली इनका मूल कारण एवं निदान नहीं खोज पाई है।

दर्द की अवस्था में ओषधियों के सेवन से प्रभावकारी राहत तो मिलती है, मगर यह प्रभाव अल्पकालिक अथवा अस्थायी होता है। पेशीय तनाव से उत्पन्न होने वाले दर्द एस्प्रीन, प्रशान्तक, मालिश, सेंक एवं मन:चिकित्सा से प्रभावित होते हैं।

माइग्रेन या इसके प्रकारान्तरों के उपचार में अरगॉट क्षारेद से परिष्कृत ओषधियाँ प्रदिष्ट की जाती हैं। इनसे लाभान्वित होने के लिए इन्हें दौरे का पूर्वाभास होते ही लेना आवश्यक है। कुछ नई ओषधियाँ, जो स्नायविक रासायनिक प्रक्रियाओं को संतुलित करती हैं, वे लम्बे समय तक लेने से दौरा पड़ने से रोकती हैं, मगर रोग को समूल नष्ट करने में सभी अक्षम हैं। अत: लम्बे समय तक बारम्बार होने वाले सरदर्द मरीज एवं डॉक्टर दोनों के लिए पूर्ववत् एक समस्या बने हुए हैं।

यौगिक उपचार

इन समस्याओं के निदान में मेडिकल साइन्स की जो कमियाँ एवं खामियाँ हैं, यौगिक अभ्यास उन्हें दूर कर इलाज पद्धति को एक सम्पूर्णता प्रदान करते हैं। अक्सर सभी प्रकार के तनावजन्य और संवहनीय सरदर्द (माइग्रेन एवं पेशीय अतिसंकुचन सहित) मात्र यौगिक क्रियाओं द्वारा पूर्णत: उन्मूलित किए जा सकते हैं।

आधुनिक शोधों से इस बात की पुष्टि होती है कि माइग्रेन के लक्षणों के प्रकटीकरण के कारणों व क्रियाविधि को समझना इतना सरल नहीं है। इसमें अनेक जटिल प्रक्रियाएँ शामिल हैं, जिनमें मस्तिष्क के रसायन (न्यूरोट्रांसमिटर्स) एवं रक्त कणिकाओं से स्रावित होने वाले रसायन अन्योन्याश्रित तौर पर विकृत रूप से कार्य करने लगते हैं। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया का भावनाओं से निकट का सम्बन्ध भी समुचित रूप से दर्शाया गया है। सामान्य निरीक्षण से, आधुनिक शोध पत्रों से, लक्षणों की विशिष्टता से एवं आधुनिक चिकित्सा पद्धति की असफलता से यह बात स्पष्टत: साबित होती है कि इस मनोकायिक रोग की समुचित चिकित्सा एक अन्य स्तर से करने की आवश्यकता है, जो शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, प्राणिक और अन्य सूक्ष्म स्तरों तक इस विकृति को प्रभावित कर रोग को समूल नष्ट कर सके। इस परिप्रेक्ष्य में योग चिकित्सा इन सभी स्तरों को प्रभावित करने का एक सशक्त विकल्प बन कर हमारे सामने आती है।

योग की क्रियाएँ मस्तिष्क में सेरेटॉनिन-मेलाटॉनिन इत्यादि रासायनों के स्रवण चक्र को, उनकी मात्रा को एवं अनुपात को पुनर्व्यवस्थित करती हैं। वे व्यक्ति को संवेदनात्मक तौर पर अधिक सन्तुलित बनाती हैं तथा जीवन के प्रति दृष्टिकोण में व जीवनशैली में परिवर्तन लाकर मनोकायिक सम्बन्धों को सन्तुलित करती हैं। योग द्वारा प्राणशक्ति के प्रवाह के अवरोध दूर होतें हैं व पूरे शरीर में प्राणों का संचार बेहतर तरीके से होना प्रारम्भ हो जाता है।

नेति एवं कुंजल, माइग्रेन एवं अधिक सरदर्द के उपचार हेतु दो आधारभूत हठयौगिक क्रियाएँ हैं। यदि उनका अभ्यास माइग्रेन के दौरे का पूर्वाभास होते ही कर लिया जाय तो व्यक्ति को तुरन्त आराम मिल जाता है। जो भी पूर्व संग्रहीत मनो-भावनात्मक तनाव, जो दर्द के दौरे को अवक्षेपित कर रहे थे, इन क्रियाओं द्वारा मुक्त हो जाते हैं। यह सर्वविदित है कि यदि माइग्रेन के रोगी को स्वत: उल्टियाँ हो जाय तो लक्षण की तीव्रता घट जाती है। यह तथ्य इसी बात की पुष्टि करता है कि कुंजल की कायोमानसिक प्रतिक्रिया अनाभिव्यक्त तनावों को या भावनाओं को अचेतन मन से मुक्त करने में सक्षम है। रोग को जड़ से मिटाने के लिए इन क्रियाओं का प्रात:काल दैनिक अभ्यास करना चाहिए। साथ-ही-साथ निम्नलिखित अभ्यास क्रम का भी दो से तीन महीने तक अभ्यास करना चाहिए।

1. *हठयोग*
   - कुंजल प्रतिदिन कुछ दिनों तक, फिर हफ्ते में एक या दो दिन
   - नेति प्रतिदिन
   - शंख प्रक्षालन एक बार, किसी आश्रम में ही करें। कभी-कभी प्रक्षालन द्वारा लक्षण तीव्रता से उभर सकते हैं, अत: सावधानी बरतें।
   - लघु शंख प्रक्षालन हफ्ते में एक बार।
2. *आसन*
   - पवन मुक्तासन – भाग 1
   - सूर्य नमस्कार – शक्ति अनुसार, शक्ति बंध समूह, शशांकासन, प्रणामासन
   - सामान्य सामने और पीछे झुकने वाले आसन
3. *प्राणायाम*
   - हल्का भस्त्रिका प्रणायाम
   - नाड़ी शोधन
   - भ्रामरी
4. *योग निद्रा* – प्रतिदिन, साथ में अन्तर्मौन या चिदाकाश धारणा, इत्यादि ध्यान के अभ्यास।
5. *भोजन* – अभ्यासों के साथ सादा शाकाहारी भोजन अनुसंशित है। भारी पदार्थ, खासकर चीज़, चॉकलेट, शराब, इत्यादि का सेवन वर्जित है। भोजन अधिक मात्रा में न खाएँ।

   तनावपूर्ण अवस्था में एक समय भोजन न करने एवं शवासन में दस मिनट तक शिथिलीकरण से सरदर्द का सन्निकट दौर टाला जा सकता है।
6. *अन्य सुझाव*
   - कब्ज, मासिक धर्म की अनियमितता, नाक, कान, गले का रोग या रीढ़ की हड्डी की समस्या जुड़ी हो तो उसका भी समुचित इलाज करना आवश्यक है।
   - पारिवारिक, दफ्तर के या काम के बोझ के तनाव को कम करने हेतु सूझबूझ से निर्णय लें, अपनी जीवनचर्या व परिवेश को बदलने का प्रयास करें तथा बीच-बीच में कृत्रिम जीवन से दूर कुछ समय प्रकृति के साथ बिताएँ।

- जीवन की समस्याओं से घबराएँ नहीं, वरन् उन्हें स्वीकार कर एक सकारात्मक रूप देने का प्रयास करें।
- वातानुकूलित कक्ष में लम्बे समय तक रहने से व लगातार नजदीकी काम करने से दर्द बढ़ता है, अत: बीच-बीच में अन्तराल देते रहें।
- समय पर सोयें, समय पर जागें, देर तक सोते रहने पर स्फूर्ति तथा स्वास्थ्य के आनन्द से आप वंचित ही रहेंगे तथा दिनभर सिर का भारीपन सताता रहेगा।

थायराइड ग्रंथि के रोग

हम अपने दैनिक जीवन में किन्हीं ऐसे व्यक्तियों से अवश्य परिचित होंगे, जो खाते ही चले जाते हैं, मगर मोटापा उनके पास तक नहीं फटकता और कुछ लोग खाने से तो क्या खाने की कल्पना मात्र से मोटे होते जाते हैं। कुछ लोग दिनभर शक्ति और ऊर्जा से भरे हुए अपने कार्य फटाफट निपटाते जाते हैं तथा कुछ अन्य लोगों को अपना शरीर भारी वजन के समान घसीटना पड़ता है। ये सभी उदाहरण शारीरिक चयापचय में या ऊर्जा तंत्र की गतिविधियों में विविधता की सीमाएँ दर्शाते हैं।

चयापचय

स्वास्थ्य के संदर्भ में चयापचय की महत्ता को समझना बहुत महत्त्वपूर्ण है। हमारे शरीर में संचित एवं व्ययित ऊर्जा का कुछ संग्रह दो भागों में विभक्त किया जा सकता है–

1. *उपचय*– ऊर्जा एवं ऊर्जादायक पदार्थों का अवशोषण एवं संग्रहण तथा ऊत्तकों का पुनर्सर्जन एवं वृद्धि इत्यादि प्रक्रियाएँ, जैसे–उम्र के साथ शरीर का बढ़ना, घावों का भरना, उपचयन कहलाती हैं, जिनमें शरीर द्वारा संचय की प्रक्रिया का प्रभुत्व रहता है।
2. *अपचय*– ऊर्जा का उपयोग या ऊतकों का ह्रास अपचयन या केटाबॉलिज्म कहलाता है। जिसमें शरीर द्वारा ऊर्जा का व्यय या हानि होती है।

चयापचय की वास्तविक प्रक्रिया सत्यत: अत्यन्त जटिल एवं रहस्यपूर्ण है, तथा आधुनिक विज्ञान को भी उसके सम्पूर्ण रहस्यों की थाह नहीं प्राप्त हुई है। मगर यह बात अवश्य प्रमाणित है कि थायरायड ग्रंथि के हॉरमोनों

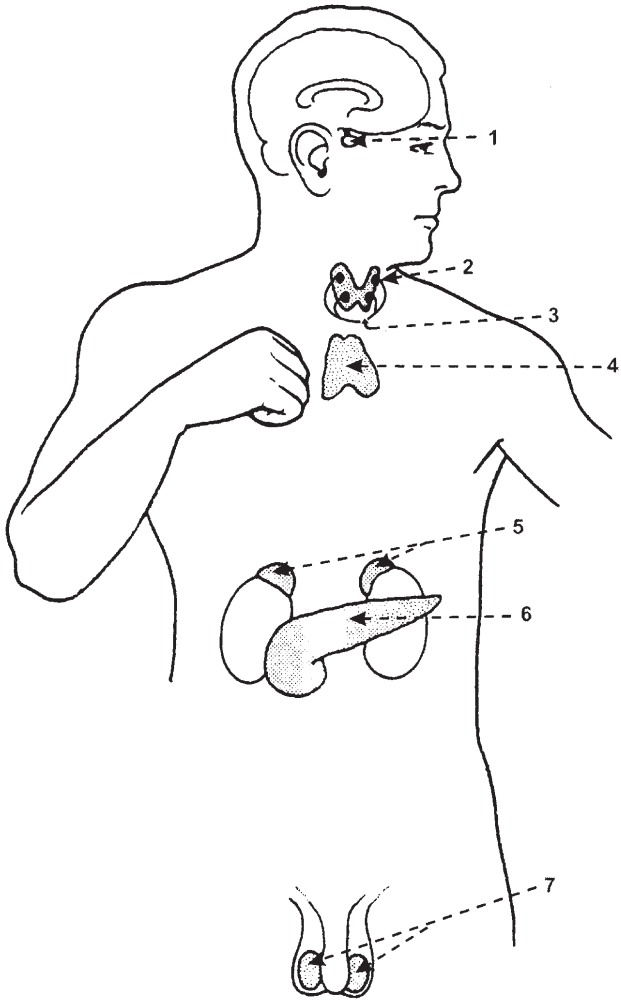

अन्तःस्रावी तंत्र

1. पिट्यूटरी ग्रन्थि
2. पैराथायरॉइड ग्रन्थि
3. थायरॉइड ग्रन्थि
4. थाइमस ग्रन्थि
5. एड्रीनल ग्रन्थि
6. पैन्क्रियाज ग्रन्थि
7. यौन ग्रन्थियाँ (पुरुषों में अण्डकोष) (स्त्रियों में डिम्ब ग्रन्थि)

द्वारा शारीरिक चयापचय नियंत्रित होता है और यह ग्रंथि पिट्यूटरी ग्रंथि (जो मस्तिष्क के निचले भाग में रहती है) के द्वारा नियंत्रित होती है, पिट्यूटरी ग्रंथि का सम्बन्ध सीधा मस्तिष्क से रहता है। अत: स्वस्थ व्यक्तियों के चयापचय की गति शारीरिक एवं भावनात्मक प्रतिक्रियाओं एवं माँगों के आधार पर मस्तिष्क एवं अन्त:स्रावी तंत्र के माध्यम से निर्धारित होती है।

थायराइड ग्रंथि (चुल्लिका ग्रंथि या अवटु ग्रंथि)

यह ग्रंथि गरदन के सामने मुख्य श्वास नलिका के चारों ओर लिपटी रहती है। इस ग्रंथि के दो पिण्ड होते हैं, एक श्वास नली के दायीं ओर तथा दूसरा बायीं ओर।

इस ग्रंथि को गुटकने की प्रक्रिया के दौरान श्वास नलिका के सामने ऊपर-नीचे हिलते हुए गले के सबसे निचले भाग में महसूस किया जा सकता है। इससे दो रसायन स्रावित होते हैं, जिन्हें हम 'थायरॉक्सीन' एवं 'ट्राइआइडोथॉयरॉनिन' कहते हैं। इन दोनों रसायनों की रक्त में उपस्थित मात्रा ही हमारे चयापचय की गति निर्धारित करती है। इन हॉरमोनों के संश्लेषण के लिए 'आयोडीन' नामक पदार्थ आवश्यक है, जो समुद्री लवण, समुद्री खर-पतवार, हरी सब्जियों एवं फलों में उपस्थित होता है। आयोडीन की कमी होने से ग्रंथि का आकार बढ़ने लगता है। इस आकार वृद्धि को गलगंड अथवा गॉयटर कहा जाता है। पहाड़ी हिस्सों में, जहाँ समुद्री लवण नहीं पहुँच पाते और भूमि में बचा-खुचा आयोडीन वर्षा के पानी के प्रवाह के साथ घुल कर नीचे बह जाता है, वहाँ पर यह रोग आम तौर पर अधिक पाया जाता है। थायरॉयड ग्रंथि की स्वस्थ्य क्रियाशीलता के लिए मस्तिष्क एवं उच्च अंत:स्रावी शृंखला का स्वस्थ होना आवश्यक है।

चुल्लिका रोग

1. चुल्लिका अतिक्रियता या चुल्लिका विषक्तता – इस रोग में ग्रंथि द्वारा रसायनों का स्रवण अत्यधिक मात्रा में होने लगता है। इस समस्या के अनेक कारण हो सकते हैं। सबसे मुख्य प्रकारान्तर 'ग्रेव्स डिसीज' है। यह रोग पुरुषों की अपेक्षा उन स्त्रियों में अधिक पाया जाता है, जिनकी अवस्था लगभग 30 से 50 वर्ष के बीच है। इस रोग के सभी लक्षण चयापचय की प्रक्रिया अत्यधिक बढ़ने के कारण हर तंत्र में दिखाई पड़ते

हैं। ऊर्जा का क्षय अधिक होता है तो उतनी ही ज्यादा भूख लगती है। मगर विशेषता यह है कि बहुत खाने पर भी व्यक्ति दुबला होता जाता है। इसके अलावा मांसपेशियों की अतिकार्यशीलता से हाथ-पैर काँपने लगते हैं। मानसिक स्तर पर विचारों की गति एवं अस्थिरता, क्रोध, चिड़चिड़ापन एवं उद्विग्नता इत्यादि बढ़ जाते हैं। यहाँ तक कि हिस्टीरिया या विक्षिप्तता के दौरे पड़ सकते हैं। चूँकि सभी अंगों का चयापचय बढ़ा हुआ होता है, अत: हृदय की धड़कन एवं नाड़ी की गति बढ़ जाती है। श्वास उथली और तेज हो जाती है, आँतों की अतिक्रियाशीलता से दस्त लगते हैं, अत्यधिक गर्मी लगती है, पसीना आता है तथा मासिक धर्म अनियमित हो जाता है। कई रोगियों की आँखें बाहर उभरती हुई प्रतीत होती हैं। मरीज अपने आपको एक विरोधाभासी परिस्थिति में पाता है, जहाँ पर उसे थकान एवं शक्तिहीनता लगती है, मगर फिर भी चलने-फिरने, बात करने या काम करने के लिए विवश हो जाता है। वे हमेशा कुड़बुड़ाते रहते हैं और एक छोटी-सी बात पर भी हंगामा खड़ा कर देते हैं।

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली में स्रवणों का संश्लेषण रोकने की दवाएँ देकर या रेडियोधर्मी आयोडीन द्वारा ग्रंथि का विनाश कर या शल्य क्रिया द्वारा ग्रंथि को बाहर निकाल कर चयापचय को नियंत्रित करने की कोशिश की जाती है।

2. चुल्लिका मन्दता – यह रोग पूर्ववर्णित समस्या की विपरीत अवस्था है, जिसमें हॉरमोन्स का संश्लेषण अल्प या अनुपस्थित हो जाता है। इस मन्दता को वयस्कों में 'मिक्सिडीमा' कहते हैं तथा जन्म के समय से ही होने पर 'क्रेटिनिज्म' कहते हैं। मिक्सिडीमा का सबसे प्रमुख कारण शल्य-क्रिया या रेडियोधर्मी आयोडीन द्वारा थायरायड ग्रंथि का विनाश है। यह रोग बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के भी हो सकता है, हालाँकि यह उतना आम नहीं है, मगर यह भी मध्यवय स्त्रियों को ज्यादातर प्रभावित करता है।

कमजोरी, सुस्ती एवं भावशून्यता के कारण मरीज को अपनी चिन्ता ही नहीं रहती तथा उसको इलाज में भी कोई दिलचस्पी नहीं रहती। अक्सर परिवारजनों या मित्रों का अनुरोध ही उन्हें चिकित्सक तक लेकर आता है। इसके लक्षण चयापचय की मन्दता से सम्बन्धित हैं, जैसे – मानसिक एवं शारीरिक क्रियाओं का धीमापन, कब्ज, कमजोरी, थकावट, पेशीय दर्द, बहरापन, भूख न लगना, मगर फिर भी वजन में वृद्धि, सूजन जो दबाने से

दबती नहीं, सूखी त्वचा, कड़े बाल, आवाज में भारीपन, स्मृतिक्षीणता एवं मासिक धर्म की अनियमितताएँ इत्यादि प्रमुख लक्षण हैं। इन सभी लक्षणों को कभी-कभी 'महज बुढ़ापा' मान कर ध्यान नहीं दिया जाता। मरीज का चेहरा गोल, सूजी पलकें, लटके होंठ, मोटी जीभ एवं पीतवर्णी होकर एक विशिष्ट आकृति का हो जाता है। अंततः हृदयघात या बेहोशी के दौरे से मरीज की अवस्था गंभीर हो जाती है। इन मरीजों को थायरायड हॉरमोन की कृत्रिम ओषधि देने पर चमत्कारिक लाभ होता है, परन्तु कृत्रिम ओषधियों के सेवन से ग्रंथि की बची-खुची संश्लेषण क्षमता भी नष्ट हो जाती है, तथा रोगी के पास आजीवन हॉरमोन की कृत्रिम गोलियों पर निर्भर रहने के अलावा और कोई विकल्प नहीं बचता। दवाओं को कम करने या उन्हें बन्द करने के लिए यौगिक उपचार में भी बहुत समय लगता है।

यौगिक दृष्टिकोण

योग में थायराइड ग्रंथि का सम्बन्ध विशुद्धि चक्र से माना गया है। विशुद्धि चक्र जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, आन्तरिक 'विष' की शुद्धि कर उसे अमृत में परिवर्तित करता है। चयापचयन की प्रक्रिया भी एक तरह की शुद्धिकरण प्रक्रिया है, जिसमें भोजन से आवश्यक तत्त्व परिष्कृत कर शुद्ध पदार्थों का ऊर्जा निर्माण के लिए उपयोग करना तथा उत्सर्जित विषाक्त तत्त्वों का निष्कासन करना निहित है।

इससे पहले कि विशुद्धि चक्र शुद्धिकरण की क्रिया सुचारु रूप से कर सके, उसे शारीरिक माँगों के अनुरूप सन्तुलित रखना होगा। जब विशुद्धि चक्र सन्तुलित होगा तो उससे सम्बन्धित थायराइड ग्रंथि भी सन्तुलित कार्य कर पूरी चयापचय प्रक्रिया को ठीक से संपादित कर पायेगी।

अधिकतर लोगों में कुछ-न-कुछ चयापचय की गड़बड़ी रहती है तथा पूर्ण सन्तुलन का अभाव होता है। चिकित्सक के लिए हर व्यक्ति हेतु आवश्यक ओषधि मात्रा को निर्धारित करना सम्भव नहीं होता। अक्सर ओषधियों में फेरबदल और समायोजन किया जाता है। यह असन्तुलन मोटापा, चिड़चिड़ापन, उत्तेजना या आलस्य के रूप में परिलक्षित होता है। अगर इस सन्तुलन की विकृति सामान्यता की परिधि को लाँघकर किसी ओर बहुत अधिक झुक जाती है, तभी हाइपर या हाइपोथायरॉइडिज्म जैसे पूर्ववर्णित रोग प्रकट होते हैं।

थायरॉइड का रोग सम्पूर्ण अंत:स्रावी प्रणाली के सूक्ष्म सन्तुलन को गड़बड़ा देता है। यहाँ पर यौगिक उपचार का महत्त्व स्पष्ट होता है। यौगिक उपचार न केवल थायराइड, वरन् सम्पूर्ण प्रणाली को सन्तुलित कर अनुकूलतम परिस्थिति में ले आता है।

यौगिक उपचार

आधुनिक विज्ञान द्वारा थायरॉइड ग्रंथि की खोज करने से सैकड़ों वर्ष पूर्व योगियों ने ऐसी तकनीकों एवं अभ्यासों का आविष्कार कर लिया था जो न केवल अंतस्रावी ग्रंथियों को एवं चयापचय को स्वस्थ रखें, वरन् आत्मानुभूति की अवस्था प्राप्त कराने में भी सहायक हों। अंत:स्रावी तंत्र का स्वस्थ होना उच्चतर अनुभूतियों के लिए अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। योगाभ्यास की भूमिका, उपचार से अधिक स्वास्थ्यवर्द्धक है।

सर्वांगासन थायराइड ग्रंथि को स्वस्थ रखने के लिए सर्वमान्य रूप से महत्त्वपूर्ण आसन है। इस आसन द्वारा ग्रंथि पर शक्तिशाली प्रभाव पड़ता है। थायरॉइड उन अंगों में से एक है जिनमें रक्त परिसंचरण सामान्य से अधिक है, और आसनों के दबाव का ग्रंथि की क्रियाशीलता पर नाटकीय प्रभाव होता है। आसन रुके हुए स्रावों को प्रवाहित करने के अलावा रक्त संचरण बढ़ाते हैं। ये स्राव पुनर्निवेश प्रणाली को प्रभावित कर अन्त:स्रावी सन्तुलन की क्षमता बढ़ाते हैं। मालिश के प्रेरण से ग्रीवा क्षेत्र के प्रति जागरूकता बढ़ती है और जागरूकता के साथ आरोग्य प्रदायनी प्राण शक्ति भी वहाँ पर खिंची चली आती है। जब हम उस क्षेत्र पर एकाग्रता बढ़ाते हैं तो वहाँ के संवेदी तन्तु उत्तेजित हो मस्तिष्क को संदेश सम्प्रेषण करते हैं। इस पूरी प्रक्रिया द्वारा मस्तिष्क स्वचालित रूप से अपने नियंत्रण केन्द्रों का पुनर्समायोजन कर लेता है। फलस्वरूप ग्रीवा क्षेत्र की मांसपेशियों की स्थिति एवं क्रियाशीलता भी तदनुरूप पुनर्नियोजित हो जाती है। अत: सर्वांगासन थायरॉइड के सभी रोगों में, चाहे वह अतिक्रियता हो या मन्दता, सकारात्मक प्रभाव डालता है, क्योंकि सन्तुलन तो दोनों ही अवस्थाओं में सुधार करेगा। सर्वांगासन करते समय गले में श्वास की गति पर सजगता रखने से आसन का प्रभाव और अधिक बढ़ जाता है।

सर्वांगासन के पश्चात् मत्स्यासन का अभ्यास करना चाहिए। सर्वांगासन के अलावा उसी स्थिति से हलासन, पाशिनी मुद्रा, पद्म सर्वांगासन, तथा अन्य सम्बन्धित रूपान्तरों का अभ्यास किया जा सकता है। इन सभी अभ्यासों से

चुल्लिका ग्रंथि का स्वास्थ्यवर्द्धन होता है। साथ ही स्मरणीय बात यह है कि ये अभ्यास किसी भी रोग की गंभीर अवस्था में वर्जित है। इन स्थितियों में ओषधिक या शल्य चिकित्सा को प्राथमिकता देनी चाहिए।

विपरीतकरणी मुद्रा से हालाँकि ग्रंथि पर उतना दबाव तो नहीं पड़ता, मगर फिर भी सर्वांगासन से अधिक शक्तिशाली प्रभाव उत्पन्न होता है, क्योंकि इसमें उज्जायी प्राणायाम के साथ नाड़ी पथ अवलोकन किया जाता है। इसका अभ्यास गलगंड में भी किया जा सकता है, मगर भोजन में आयोडीन की मात्रा बढ़ाना आवश्यक प्राथमिक उपाय है। अन्य प्रभावी आसनों में सूर्य-नमस्कार, पवनमुक्तासन, (सिर एवं गले की गतिविधियों पर विशेष ध्यान देकर), योग मुद्रा, सुप्त वज्रासन, सभी पीछे झुकने वाले आसन, कंधरासन, ग्रीवासन एवं सिंहासन इत्यादि आते हैं। वृद्ध एवं शक्तिहीन व्यक्तियों में एवं तुलनात्मक रूप से गंभीर रोगियों में पवनमुक्तासन एक उपयोगी शुरुआती अभ्यास है।

चुल्लिका रोगों में सबसे प्रभावी प्राणायाम है – उज्जायी। इस अभ्यास द्वारा गले की अंदरूनी त्वचा में रहने वाली संवेदनशील नस-नाड़ियों का उत्तेजन होता है। गले की प्रतिवर्ती क्रियाओं का सम्बन्ध चूँकि सीधा मस्तिष्क से रहता है, अत: हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि प्राणायाम द्वारा उत्पन्न कम्पन इन क्षेत्रों को प्रभावित कर अन्त:स्रावी सन्तुलन की स्थिति लाने में सहायक सिद्ध हो सकता है। उज्जायी प्राणायाम के द्वारा प्राणिक एवं आध्यात्मिक स्तरों तक के सभी मूल संचालन केन्द्रों को प्रभावित करना सम्भव है। उज्जायी का अभ्यास विशुद्धि चक्र की शुद्धि एवं अजपा-जप जैसी शक्तिशाली क्रियाओं के लिए प्राथमिक आवश्यकता है। अन्य उच्च क्रियाओं का प्रशिक्षण आधारभूत अभ्यासों में निपुणता प्राप्त करने के पश्चात् ही दिया जाना चाहिए।

कुछ अभ्यास चुल्लिका के साथ-साथ सम्पूर्ण शारीरिक चयापचय को प्रभावित करते हैं, जैसे – नाड़ी शोधन प्राणायाम। शीतली एवं शीतकारी प्राणायाम चुल्लिका अधिक्रियता में होने वाले अत्यधिक चयापचय क्रिया के दुष्प्रभावों को कम करते हैं, एवं शरीर की बढ़ी हुई गर्मी को ठंढा करते हैं। इसी प्रकार से भास्त्रिका प्राणायाम जो गर्मी उत्पन्न करता है, उसका अभ्यास चुल्लिका मन्दता में उपयोगी सिद्ध होगा एवं चयापचय गति में तीव्रता लाएगा।

बन्धों का अभ्यास प्रारम्भिक अभ्यासों में दक्षता आने के बाद किया जाना चाहिए। जैसे कि जालन्धर बन्ध, जो ग्रन्थि पर दबाव डालता है, उसे प्राणायाम के साथ-साथ सावधानीपूर्वक सिखलाया जा सकता है। प्राणायाम के प्रभाव बढ़ाने हेतु अन्य बन्धों को भी प्राणायाम अभ्यास क्रम में शामिल किया जा सकता है। कुछ महीने बाद सबसे उन्नत एवं शक्तिशाली अभ्यास, जैसे – महाबन्ध, महामुद्रा, महाभेद मुद्रा, इत्यादि जो सभी शारीरिक तंत्रों को स्वास्थ्य एवं समस्वरता प्रदान करते हैं, अभ्यास क्रम में शामिल किया जा सकता है।

भावनात्मक विश्रान्ति का महत्त्व

चुल्लिका रोगों के अनेक कारणों में सबसे महत्त्वपूर्ण अवक्षेपी कारण दीर्घकालीन दमन एवं भावनाओं का प्रवाहरोधन है। इसी कारण से गले से सम्बन्धित अन्य रोग भी जन्म लेते हैं। मानस तल की अचेतन गहराई में दबे हुए तनाव या संस्कार शारीरिक स्तर पर भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई देते हैं। योग की रोगों के प्रति यही विचारधारा है। यौगिक उपचार के दौरान ये तनाव कभी-कभी योगनिद्रा अथवा गहन ध्यान में चेतना के सतही तल पर पहली बार उभर कर अनुभव होते हैं।

भावनात्मक सन्तुलन एवं भावनाओं का उचित अभिव्यक्तिकरण थायरॉइड के रोगों की योग चिकित्सा का महत्त्वपूर्ण आयाम है। कीर्तन (आत्मविस्मरण एवं आनन्दानुभूति की सीमा तक सामूहिक मंत्र गायन) एक बहुत अच्छा माध्यम है। दूसरा अजपा-जप ध्यान का अभ्यास है, जिसमें उज्जायी प्राणायाम के साथ मंत्र की चेतना को गले से नाभि तक शरीर के सामने वाले हिस्से में ऊपर-नीचे संचालित किया जाता है।

थायरॉइड के रोगों में खासकर विकसित अवस्था में कैंसर जैसी बीमारियों की सम्भावना चिकित्सीय जाँच द्वारा दूर करके, अभ्यासों को धैर्यपूर्वक लम्बे समय तक करना चाहिए। कभी-कभी ग्रन्थि की क्रियाशीलता वापस आने में बहुत समय लग सकता है, उस अवस्था में प्रारम्भ में ओषधियों का सहारा लेना उचित होगा, फिर योग्य चिकित्सक के निर्देशन में उन्हें कम करते हुए योगाभ्यास पर निर्भरता बढ़ाई जा सकती है।

द्वितीय खण्ड

हृदय एवं परिसंचरण तंत्र

हृदय एवं परिसंचरण तंत्र

हृदय रोग एवं धमनीकाठिन्य, जिसमें रक्त नलिकाओं की भित्ति में ह्रासीय परिवर्तन होने लगते हैं, आज विश्व के आधुनिक मानव समाज के सबसे घातक रोगों में से एक हैं। प्रतिवर्ष लाखों लोग हृदय रोगों से पीड़ित हो काल के ग्रास बन जाते हैं। इन रोगों में हृदयाघात के अलावा उच्च रक्तचाप, रक्ताधिक्य हृत्पात् एवं लकवा तथा गुर्दे की खराबी इत्यादि आते हैं। अत: इस तंत्र के रोग अन्य सभी तंत्रों को प्रभावित करने में सक्षम हैं। इनके अलावा कई व्यक्ति बार-बार सीने में उठने वाले दर्द 'हृदयशूल' का अनुभव करते हैं। ये सभी समस्याएँ हमारी दैनिक जीवनचर्या में शामिल तनावों का हृदय पर कुप्रभाव प्रदर्शित करती हैं।

हृदय पर पड़ने वाले दबाव एवं क्षति के कारणों एवं प्रभावों की सूची लम्बी एवं जटिल है, जिसमें आहार के अलावा, हृदय पर मानसिक एवं भावनात्मक प्रक्रियाओं के प्रभाव तथा चयापचयी असन्तुलन शामिल हैं। पाचन एवं प्रजनन तंत्र की प्रक्रियाएँ भी दिल से अक्सर अत्यधिक दबाव की अवस्था में क्रियाशीलता अपेक्षित करती हैं।

भौतिक क्रिया विज्ञान

हृदय, जो मानव की क्रियाशीलता एवं जीवन का केन्द्र है, एक ऐसा अनूठा मांसपेशीय पम्प है जो अपनी विद्युत-यांत्रिकी गतिविधि द्वारा पूरे शरीर की प्रत्येक कोशिका तक रक्त के माध्यम से आवश्यक तत्त्व पहुँचाता है। साथ ही रक्त को फेफड़ों द्वारा शुद्ध करा कर परिसंचरित करता है। हृदय पर पूरे शरीर का जीवन निर्भर है, और इसी निर्भरता के कारण धड़कन रुकने के

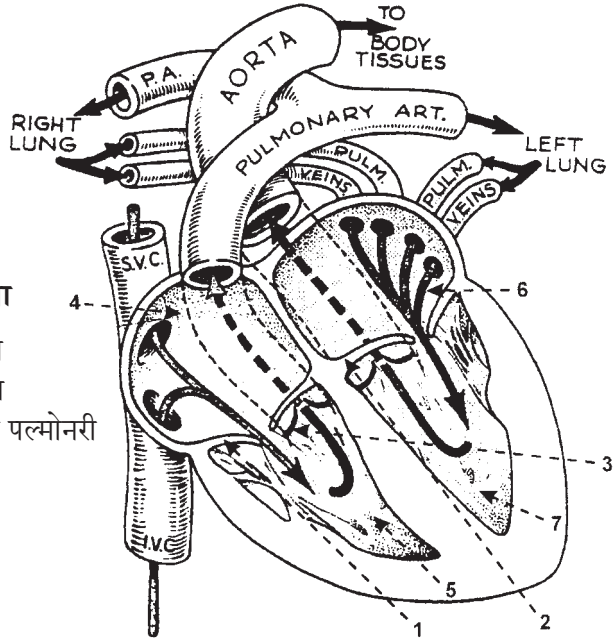

हृदय की संरचना

1. त्रिकपर्दी वाल्व
2. द्विकपर्दी वाल्व
3. एओर्टिक तथा पल्मोनरी वाल्व
4. दायाँ आलिन्द
5. दायाँ निलय
6. बायाँ आलिन्द
7. बायाँ निलय

रक्त संचरण

शरीर से अशुद्ध रक्त → दायाँ आलिन्द → दायाँ निलय ↓ फेफड़ों को शुद्धिकरण हेतु ↓ शुद्ध रक्त ← बायाँ आलिन्द ← बायाँ निलय ← शरीर को ↑ शरीर द्वारा उपयोग ↑

साथ मिनटों में ही सम्पूर्ण शारीरिक क्रियाएँ ठप्प हो जाती हैं। हृदय बिना थके रात-दिन जीवन के अंकुर फूटने से लेकर अन्तिम श्वास तक कर्मयोगी की तरह अनवरत रूप से गतिशील रहता है। जब शरीर आराम करता है तो इसकी गति मन्द हो जाती है, तथा व्यायाम करते समय दूरस्थ मांसपेशियों एवं कोशिकाओं तक रक्त की अधिक मात्रा पहुँचाने हेतु फौरन अपनी गति बढ़ा लेता है।

हृदय की रक्त फेंकने की शक्ति उसकी मांसपेशीय भित्ति में अन्तर्निहित है। ये मांसपेशियाँ पूरे शरीर से भिन्न विशेष प्रकार की होती हैं, जो शरीर की किसी भी अन्य मांसपेशी की अपेक्षा अधिक मजबूत एवं सहनशील होती हैं। इसलिए हृदय आराम किये बिना ही अपनी और पूरे शरीर की जरूरतों को पूरा करने में सक्षम है। शरीर का कोई दूसरा अंग कर्मठता में हृदय की बराबरी नहीं कर सकता। इसीलिए अपने हृदय को स्वस्थ बनाए रखने के लिए सन्तुलित भोजन, संयत जीवनशैली तथा आराम एवं व्यायाम में सन्तुलन रखना हमारा प्रथम कर्तव्य है। मांसपेशियों तथा तन्तुओं में थोड़ा-सा भी नुकसान रक्त संचरण की कार्यकुशलता में काफी अन्तर उत्पन्न कर देता है।

हृदय संरचना

हृदय भीतर से चार प्रकोष्ठों में विभाजित रहता है। ऊपर के दो 'आलिंद' तथा नीचे के दो 'निलय' कहलाते हैं। रक्त बायें आलिंद से बायें निलय में पहुँचता है। बायाँ निलय रक्त से भरने के बाद अकुंचन करता है, जिसके फलस्वरूप रक्त मुख्य धमनी का वाल्व खोलकर मुख्य धमनी में प्रवेश करता है, तथा नलिओं की सैकड़ों शाखाओं, प्रशाखाओं में से होते हुए पूरे शरीर में फैल जाता है। यह शुद्ध रक्त पूरे शरीर की कोशिकाओं को आवश्यक पोषक तत्व एवं ऑक्सीजन प्रदान करने के बाद अशुद्धियों तथा कार्बन-डाइ-ऑक्साइड को निकाल लेता है। यह अशुद्ध रक्त 'शिरा' नामक नलियों से होते हुए दायें आलिंद में आता है तथा दायें आलिंद से होते हुए दायें निलय में पहुँचता है, जो उसे फेफड़ों की ओर फेंक देता है। रक्त फेफड़ों में कार्बन-डाइ-ऑक्साइड छोड़कर ऑक्सीजन ले लेता है तथा शुद्ध हो जाता है। यह शुद्ध रक्त फिर बायें आलिंद में पहुँचकर पूरी प्रक्रिया को दुहराता है। इस प्रकार चौबीसों घण्टे यही प्रक्रिया बारम्बार हर धड़कन के साथ एक लयबद्ध तरीके

से सम्पन्न होती रहती है। हृदय प्रति मिनट 70 से 100 बार धड़कन कर एक मिनट में 4-5 बार रक्त को सम्पूर्ण शरीर में परिसंचारित करता है।

रक्त परिसंचरण

शारीरिक अंगों और हृदय के मध्य रक्त का आदान-प्रदान अनेक छोटी-बड़ी नलिकाओं से होता है, जिन्हें कार्यानुरूप अलग-अलग नाम दिए गये हैं। हृदय से शरीर के अन्य हिस्सों तक जिन नलिकाओं से रक्त जाता है उन्हें 'धमनी' कहते हैं। धमनियाँ सबसे लचीली, मोटी एवं मजबूत होती हैं ताकि हृदय से आने वाले रक्त का सीधा दबाव सह सकें। कलाई में नाड़ी की धड़कन एक धमनी का उदाहरण है जो इसी तथ्य को दर्शाती है। एक बड़ी धमनी अंगो तक पहुँचते-पहुँचते अनेक छोटी-छोटी शाखाओं में विभाजित होते हुए महीन नलिकाओं के जाल में परिवर्तित हो जाती हैं जिन्हें 'कैपिलरी' कहते हैं। ये महीन धागों के सदृश नलिकाएँ (कैपिलरी) ऊतकों एवं कोशिकाओं के सीधे सम्पर्क में आती हैं। इनकी महीन भित्ति से होकर रक्त से कोशिकाओं तक ऑक्सीजन तथा पोषक पदार्थ चले जाते हैं। साथ ही कोशिकाओं से उत्सर्जित कार्बन-डाइ-ऑक्साइड तथा अवशिष्ट पदार्थ खून में आकर मिल जाते हैं।

इस प्रकार से कैपिलरी में शुद्ध रक्त अशुद्ध रक्त में बदल जाता है। अब यही महीन नलिकाएँ अशुद्ध रक्त लेकर आपस में जुड़ते-जुड़ते बड़ी नलियों में परिवर्तित हो जाती हैं। इन नलियों को हम 'शिराएँ' अथवा 'वेन' कहते हैं। ये शिराएँ धमनियों के विपरीत, पतली भित्ति की होती हैं और सतही होती हैं, इन्हें आप हाथ की त्वचा के नीचे नीली-नीली धारियों के रूप में देख सकते हैं। चूँकि यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते रक्त का दबाव काफी कम हो जाता है, अत: रक्त को गुरुत्वाकर्षण के विपरीत ऊपर चढ़ाने में मुश्किल होने लगती है, विशेषकर पैरों से। इसीलिए प्रकृति ने शिराओं के भीतर वाल्वों (कपाटों) की संरचना की है, ताकि रक्त वापस पीछे न लौट सके।

ये शिराएँ अंतत: रक्त को हृदय के दायें आलिंद में पहुँचा देती हैं, जहाँ से वह दायें निलय में जाता है। तदुपरांत वहाँ से रक्त फेफड़ों में शुद्ध होने के लिए फेंक दिया जाता है, शुद्ध होकर वह फिर हृदय के बाईं ओर आ जाता है, जहाँ से फिर शरीर में संचारित होता है। इस प्रकार पूरी प्रक्रिया दुहराती रहती हैं।

धमनी काठिन्य – रक्त को पूरे शरीर में संचरित करने वाली ये धमनियाँ यदि कड़ी पड़ जायें तो उनकी भित्तियों का लचीलापन कम हो जायेगा एवं भीतरी व्यास कम हो जायेगा। फलस्वरूप रक्त का दबाव बढ़ जाएगा, ठीक वैसे ही जैसे बगीचे में पानी डालते समय पाइप को दबा देने से पानी की धारा का दबाव बढ़ जाता है। इस दबाव से हृदय पर अधिक भार पड़ता है, जिससे वह रोगग्रस्त व कमजोर हो जाता है।

कोरोनरी धमनियाँ

शरीर की सभी मुख्य धमनियाँ, महाधमनी की शाखाएँ हैं। महाधमनी की प्रथम दो शाखाएँ 'कोरोनरी धमनियाँ' कहलाती हैं। इनकी लम्बाई लगभग पाँच इंच तथा मोटाई 1/8 इंच के लगभग होती है। इनका कार्य हृदय की मांसपेशियों को रक्त की आपूर्ति करना है, जिससे हृदय की मांसपेशियों को भोजन व ऑक्सीजन मिलती रहे। यदि इनमें से कोई भी नलिका सिकुड़ जाए या उसके रक्त प्रवाह में थोड़ा-सा भी अवरोध उत्पन्न हो तो सम्पूर्ण परिसंचरण तंत्र के ठप्प होने की सम्भावना है, क्योंकि यदि हृद्मांसपेशी को आवश्यकतानुसार ऑक्सीजन या पोषण नहीं मिला तो वह कार्य करना बन्द कर देगी और उसमें पीड़ा की संवेदना उठने लगेगी। जब ह्रासीय परिवर्तन के कारण या चर्बी जमने से कोरोनरी धमनी के छिद्र का व्यास छोटा हो जाता है तब ऐसा ही होता है। कभी-कभी यही अवस्था खून के थक्के के छोटे-से टुकड़े के फँसने से या अत्यधिक तनाव के फलस्वरूप धमनी संकुचन के कारण उत्पन्न हो जाती है। जब हृदय की तरफ रक्त का स्वत: संचार रुक जाता है तो उसे हम 'हार्ट अटैक' की संज्ञा देते हैं। यदि रक्त संचार में अवरोध आंशिक हो तो अवस्था कम गम्भीर होती है तथा दर्द हमेशा श्रमसाध्य कार्य करने के बाद ही उठता है। इसे हम 'एंजाइना' या 'हृत्शूल/हृदयशूल' कहते हैं।

धमनी काठिन्य रक्त वाहिनियों की ह्रासीय बीमारी है, जिसमें उनकी भित्तियों में चर्बी जम जाती है, उनका छिद्र छोटा हो जाता है तथा वे कड़ी पड़ जाती हैं। इन सबके कारण उनमें बहने वाले रक्त का प्रवाह अवरुद्ध होता है। उनकी भीतरी सतह चिकनी के बजाय खुरदरी हो जाती है, खून जमकर थक्का बनने की संभावना बढ़ जाती है। इस रोग का सम्बन्ध मुख्यत: धूम्रपान, खान-पान की गड़बड़ी, जैसे – वसायुक्त पदार्थों या मांसाहार का

सेवन, शारीरिक व्यायाम की कमी तथा अत्यधिक मानसिक तनाव आदि से जोड़ा जाता है। यौगिक जीवन-पद्धति, भोजन की गड़बड़ी एवं तनावों को दूर कर इस रोग से बचाती है तथा उपचार में भी सहायक है।

हृदय की कार्यक्षमता

प्रतिदिन हृदय जितना कार्य करता है यदि हम उसे जोड़ने बैठें तो बुद्धि चकरा जायेगी। यदि शरीर को जीवित रखना है तो परिसंचरण प्रक्रिया चौबीसों घण्टे अनवरत चलती रहनी चाहिए। जीवनपर्यन्त चौबीसों घंटे हृदय एक मिनट में 50 से 80 बार धड़कता है। यदि हृदय धड़कना बंद कर दे तो जीवन स्वत: समाप्त हो जाएगा। परिकल्पना करने पर हृदय एक दिन में लगभग एक लाख बार, एक वर्ष में लगभग सैंतीस करोड़ बार तथा सत्तर साल की उम्र तक लगभग दो अरब से भी अधिक बार धड़क चुका होता है। आज तक मानव द्वारा इतनी कार्यक्षम, कुशल तथा टिकाऊ मशीन का निर्माण नहीं हुआ है।

किसी अन्य पम्प की तरह हृदय में भी, (खासकर दुरुपयोग किये जाने पर) टूट-फूट की प्रक्रिया तीव्र हो जाती है। लम्बी उम्र तक जीने की कुंजी हृदय को इस दुष्प्रभाव से बचाना है। सभी प्रकार से तनावरहित होकर प्राकृतिक नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करने से ही ऐसा सम्भव है। इस जीवन पद्धति में मानसिक एवं भावनात्मक सन्तुलन बनाए रखना, भोजन पर नियंत्रण, समुचित व्यायाम एवं निद्रा इत्यादि अवश्य शामिल होने चाहिए। ये सभी लाभ यौगिक जीवनचर्या अपनाने से प्रभावी रूप में प्राप्त किये जा सकते हैं।

मान लीजिये यदि दुरुपयोग द्वारा हृदय को कोई नुकसान पहुँचता है, तो उसे सुधारने की प्रक्रिया भी हृदय को कार्यरत रहते हुए ही करनी होगी, वैसे ही जैसे कार के इंजन को चलते-चलते सुधारने की कोशिश की जाय। यदि किसी रोग से हृदय का कपाट खराब हो जाय तो उस कमी की क्षतिपूर्ति के लिए हृदय की मांसपेशियों को विकृत होकर रक्त का दबाव एवं बहाव पूर्ववत् रखने का प्रयास करना होगा और यदि शरीर को अधिक ऑक्सीजन की आवश्यकता है, जैसे–कसरत करते या दौड़ते समय, तो हृदय को अपनी रफ्तार सामान्य गति से दुगुनी या तिगुनी तक बढ़ानी पड़ती है। अत: अपने हृदय की गतिविधियों को इतना हल्के से न लें; दुरुपयोग की गंभीरता को समझें।

पेसमेकर (गति प्रेरक)

हृदय के धड़कने की गति उसमें स्नायविक विद्युत तरंगों के लयबद्ध प्रवाह द्वारा नियंत्रित होती है। इन तरंगों को उत्पन्न करने का मुख्य केन्द्र हृदय की दायीं ओर ऊपर के भाग में स्थित एक स्नायु के छोटे-से टुकड़े में होता है। इसे एस.ए.नोड (पर्व) कहते हैं। यह एक निश्चित कालांतर से रह-रह कर विद्युत तरंगें छोड़ता है। ये तरंगें महीन तंत्रिकाओं के माध्यम से हृद्पेशियों में संचरित हो उनका आकुंचन उत्पन्न करती हैं। यही आकुंचन धड़कन कहलाता है तथा इसी से रक्त-संचार शुरू होता है। हृदय की धड़कन जिस गति-प्रेरक द्वारा नियंत्रित होती है, वह स्वयं प्रतिक्षण बदलती हुई शारीरिक माँगों एवं मानसिक उद्वेगों के प्रति संवेदनशील रहता है।

मानवीय भावनाओं का पीठ

हृदय का हमारी भावनात्मक प्रतिक्रियाओं से बहुत नजदीकी सम्बन्ध है, और इस सम्बन्ध से हम सभी भली-भाँति परिचित हैं। हृदय रोग के जितने भौतिक कारण हैं, उतने ही भावनात्मक कारण भी हैं। चिन्ताओं एवं परेशानियों से ग्रस्त, उत्तेजित एवं अत्यधिक तनावग्रस्त मन एक असन्तुलित मानसिकता को जन्म देता है, जो लगातार क्रोध, ममता एवं दु:ख के उतार-चढ़ाव के झूले में झूलती रहती है। ये उद्वेग हमारे शरीर में स्थित अनुकम्पी तंत्रिका प्रणाली को अनियंत्रित रूप से उत्प्रेरित करते हैं। इस उत्प्रेरण के फलस्वरूप रक्त में उत्तेजक हॉरमोन्स – एड्रीनलीन एवं नॉरएड्रीनलीन की मात्रा अत्यधिक बढ़ जाती है। इनके प्रभाव से हृदय को अपनी सामन्य गति से अधिक बार धड़कने के लिए बाध्य होना पड़ता है, जिससे उस पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

ठीक इसी प्रकार से व्यक्तिगत सम्बन्धों से उपजे तनाव, जो हमारी भावनाओं, प्रवृत्तियों एवं इच्छाओं के टकराने से उत्पन्न होते हैं, वे हमारे हृदय एवं अन्त:स्रावी तंत्र पर लगातार दबाव डालते रहते हैं। इस दबाव तथा अनुकम्पी तंत्र की अतिक्रियाशीलता के कारण सम्पूर्ण शरीर की छोटी-छोटी रक्त वाहिनियाँ अनवरत आकुंचन की अवस्था में पहुँच जाती हैं। इसके कारण हृदय को उनमें से रक्त प्रवाहित करने में अधिक जोर लगाना पड़ता है तथा बहने वाले रक्त का दबाव बढ़ जाता है। इसे ही हम उच्च रक्तचाप या हाइपरटेंशन कहते हैं। अब आप टेन्शन (तनाव) से हाइपरटेन्शन (उच्च रक्तचाप) का सरल सम्बन्ध समझ सकते हैं।

इस सम्पूर्ण प्रक्रिया से हम दो निष्कर्ष निकाल सकते हैं– पहला तो हृदय पर रक्त संचार में प्रतिरोध के कारण अधिक जोर पड़ता रहा है, जिससे उसकी क्षमताएँ चुकने की (या दूसरे शब्दों में हार्ट फेल होने की) संभावना बढ़ जाती है। दूसरा यह कि रक्त नलिकाओं की भित्ति पर रक्त का दबाव बढ़ता जा रहा है, जिससे उनमें ह्रासीय परिवर्तन या टूट-फूट की गति तीव्र हो जाती है, अन्ततः वे अवरुद्ध हो जाती हैं तथा किसी अंग को निष्क्रिय कर देती हैं, जैसे– गुर्दे फेल होना या आँखों की नलियों में सूजन या हृदय की रक्त नलिकाओं का अवरोध। कभी-कभी रक्त नलियाँ दबाव सहन करने में अक्षम हो फट जाती हैं। अक्सर यह मस्तिष्क के भीतर की कोमल नलियों में होता है। खून की नली के फटने से खून खोपड़ी के भीतर जमा होकर मस्तिष्क को निष्क्रिय कर देता है, जिसे हम लकवे का आघात या 'पक्षाघात' कहते हैं। अतः उच्च रक्तचाप के प्रति सावधानी अत्यन्त आवश्यक है।

कुछ वर्ष पहले तक चिकित्साशास्त्री यह मानते थे कि हार्ट अटैक या छाती में तीव्र पीड़ा उठने का मुख्य कारण किसी कोरोनरी संवहनी में खून के थक्के जमना तथा रक्त प्रवाह अवरुद्ध होना है। मगर अब यह दूसरा तथ्य भी सामने आया है कि हार्ट अटैक या हृदयशूल (एन्जाइना) के कई मरीजों की संवहनियों में कोई थक्का नहीं पाया जाता, वरन् प्रवाहवरोध उन संवहनियों के अति आकुंचन या ऐंठन से होता है। यह ऐंठन पुनः अनुकम्पी तंत्र की अतिक्रियाशीलता से होती है, जो तीव्र भावनात्मक प्रतिक्रिया से अवक्षेपित होती है। यह प्रक्रिया छाती में रह-रह कर उठने वाले दर्द (एन्जाइना) में अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

अतः हम देख सकते हैं कि किस प्रकार मनोभावनात्मक तनाव, स्नायविक एवं अन्तःस्रावी तंत्र के माध्यमों से, हार्ट अटैक जैसी गंभीर स्थिति उत्पन्न कर सकते हैं। एक शोध अध्ययन में यह देखा गया है कि कोरोनरी रोग के अधिकतम मरीजों को हृदयघात के एक महीने से एक वर्ष पहले तक बहुत गहरी एवं गंभीर भावनात्मक ठेस पहुँची थी। यह तथ्य भी मनोकायिक सम्बन्ध का प्रमाण है।

हृदय एवं यौन प्रक्रियाओं का सम्बन्ध

मन की गहराइयों से उठने वाली प्रवृत्तियाँ तथा मनोभावनात्मक उत्तेजनाएँ अनेक माध्यमों से अभिव्यक्ति का मार्ग खोजती हैं। सामान्यतः वे यौन आचरण के माध्यम से अभिव्यक्त होती हैं।

यौन अभिव्यक्ति अनेक तरीकों से हृदय पर दुष्प्रभाव डालती है। उनमें से एक है – अन्त:स्रावी-तंत्र की प्रतिक्रियाएँ। हालाँकि ये प्रत्येक मनुष्य में सामान्यत: पायी जाती हैं, मगर कुछ लोगों को विशेष प्रभावित करती हैं, विशेषत: पुरुषों को।

शरीर में यौन हॉरमोन दो प्रकार के होते हैं – 'एण्ड्रोजन्स' या पौरुष हॉरमोन तथा 'एस्ट्रोजन' या स्त्रैण हॉरमोन। ये हॉरमोन मुख्यत: यौन ग्रन्थियों (पुरुषों में अण्डकोष तथा स्त्रियों में डिम्बग्रंथि) में निर्मित होते हैं। इनके निर्माण का नियंत्रण 'पिट्यूटरी ग्रंथि' से होता है, जो स्वयं मस्तिष्क के 'हाइपोथेलेमस' नामक हिस्से के नियंत्रण में रहती है। और मस्तिष्क का यह हिस्सा भावनाओं एवं आवेगों के प्रति अतिसंवेदनशील रहता है। अत: हम देख सकते हैं कि किस प्रकार वीर्य निर्माण तथा मासिक धर्म इत्यादि प्रक्रियाओं का सम्बन्ध हमारी भावनाओं से जुड़ा हुआ है। अतएव यह कहना गलत नहीं होगा कि मानसिक अवस्था से यौन प्रतिक्रियाएँ निकट का सम्बन्ध रखती हैं।

जब कुछ प्रकार के संवेग या भावनाएँ, अनियंत्रित या त्वरित होते हैं, तो इन यौन हॉरमोनों की अधिक मात्रा रक्त प्रवाह में स्रावित हो जाती है। ये स्रवण प्रजनन अंगों को उत्तेजित करते हैं, जो भावनात्मक अभिव्यक्ति एवं दबाव मुक्ति का माध्यम बन जाते हैं। शोधकर्ताओं का कहना है कि पौरुष स्राव या एण्ड्रोजेन ही पुरुषों की आक्रमणशील या उद्यमशील विशिष्टता के साथ-साथ 'हृदयाघाती' व्यक्तित्व भी प्रदान करते हैं। इसीलिए स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में हृदय रोग आमतौर पर अधिक देखा जाता है।

नवीन शोध के द्वारा हृदय की प्रकोष्ठ भित्तियों एवं बड़ी धमनियों की भित्तियों में विशिष्ट एण्ड्रोजेन अभिग्राहकों की उपस्थिति प्रमाणित की गई हैं। अनुमान लगाया जाता है कि हृदय पर क्षतिकारक प्रभाव इन्हीं अभिग्राहकों के माध्यम से होता है। चूँकि स्त्रियों में एण्ड्रोजन कम तथा एस्ट्रोजन ज्यादा होता है जो एण्ड्रोजन के दुष्प्रभावों से रक्षा करता है, इसलिए स्त्रियों में हृदयाघात की संभावना बहुत कम होती है। मगर यह अन्त:स्रावी प्रक्रिया रजोनिवृत्ति के बाद बदल जाती है। रजोनिवृत्ति के साथ ही एस्ट्रोजन कम होता है, फलस्वरूप हृदयाघात की संभावना बढ़ जाती है।

इस प्रतिपादन के प्रमाणस्वरूप यह पाया गया है कि रजोनिवृत्ति के पहले स्त्रियों में हृदयाघात की संभावना पुरुषों की अपेक्षा पचास प्रतिशत होती है।

यानी स्त्रियाँ पुरुषों से आधी मात्रा में प्रभावित होती हैं। मगर रजोनिवृत्ति के कुछ वर्षों के भीतर ही दोनों लिंगों में हृदयाघात की संभावना बराबर हो जाती है।

योगियों का कहना है कि भावनाओं एवं यौन प्रक्रियाओं को योगाभ्यास द्वारा सन्तुलित करने से इन स्रावों की मात्रा में सन्तुलन आता है। इस प्रकार से सन्तुलित व्यक्ति अपने हृदय की स्वास्थ्य रक्षा कर सकता है। हालाँकि कई अन्य प्रतिक्रियाएँ एवं अवयव भी साथ-साथ कार्य करते हैं, जिनका भी ख्याल रखना आवश्यक है।

प्रथम सफल हृदय प्रत्यारोपण करने वाले, विश्व विख्यात हृदय शल्य चिकित्सक डॉक्टर क्रिश्चियन बर्नार्ड का कहना है कि 'सिद्धासन' (जिसका यौन अंगों पर प्रभाव पड़ता है) का अभ्यास प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए, जिससे उसे हृदय रोग न हो, तथा प्रत्येक हृदय रोगी को ओषधिपत्र में इस आसन को करने की सलाह होनी चाहिए।

आहार की भूमिका

चिकित्सा वैज्ञानिकों ने यह पाया है कि हृदय एवं संवहनियों को होने वाले नुकसान का, भोजन में ग्रहण की जाने वाली चर्बी एवं कोलेस्ट्रॉल से निकट का सम्बन्ध है। अधिकतर चिकित्सक यह मानते हैं कि आधुनिक एवं पश्चिमी सभ्यताओं के भोजन में आवश्यकता से अधिक मात्रा में चर्बी, प्रोटीन तथा कैलोरी रहती है। अत्यधिक गरिष्ठ भोजन पाचन तंत्र पर आवश्यकता से अधिक कार्यभार डालता है। आधुनिक कहलाने वाले व्यक्तियों के शरीर में उत्पन्न होने वाले अधिकतर रोगों की जड़ यही है।

वृहद् रूप से प्रकाशित एक अमेरिकन शोध-पत्र में आकस्मिक कारणों से मरने वाले नौजवान स्वस्थ सैनिकों का पोस्टमार्टम कर उनके हृदय की कोरोनरी धमनियों का अध्ययन प्रकाशित किया गया था। अध्ययन में यह देखा गया कि इन नौजवान सैनिकों की कोरोनरी धमनियों में, 20 से 30 वर्ष की उम्र में ही चर्बी जमना तथा ह्रासीय परिवर्तन शुरू हो गये थे। उनकी धमनियों की अन्दरूनी सतह पर सफेद चर्बी युक्त पदार्थ जम चुका था, जिसे मेडिकल साईंस की भाषा में 'एथीरोमेटस प्लेक' कहा जाता है। और यही आगे चलकर हृदय रोग उत्पन्न कर देती है। इस शोधपत्र के प्रकाशित होते ही चिकित्सकों में खलबली मच गई, क्योंकि पहले यह माना जाता था कि 55 से 60 वर्ष के ऊपर यह प्रक्रिया शुरू होकर रोग उत्पन्न करती है। मगर इस

शोधपत्र ने यह प्रमाणित कर दिया कि यह रोग बुढ़ापे का नहीं, वरन् छोटी उम्र से ही इसकी बुनियादी प्रक्रिया शुरू हो जाती है। शायद यह प्रक्रिया कम उम्र में ही शुरू होकर आगामी वर्षों में जानलेवा सिद्ध हो जाती है। इस जानकारी के उपलब्ध होते ही अनेक चिकित्सकों ने स्वयं अपनी जीवनशैली बदल दी।

धमनियों में वसा एवं कोलेस्ट्रॉल का जमना अब हृदयसंवहनी तंत्र में ह्रासीय परिवर्तनों तथा मृत्यु का एक मूलभूत कारण माना जाता है। रक्त में बढ़े हुए कोलेस्ट्रॉल की मात्रा को साधारण शाकाहारी भोजन के सेवन द्वारा कम किया जा सकता है। यह भोजन मुख्यत: अनाज, ताजे फल एवं सब्जियों पर आधारित होता है। वसायुक्त मांस, मक्खन एवं घी, इत्यादि पदार्थों में वसा अधिक होती है। इनकी बजाय मूँगफली या सनफ्लॉवर इत्यादि तेलों का प्रयोग ज्यादा स्वास्थ्यप्रद होता है। इस प्रकार का शाकाहारी भोजन प्रत्येक हृदय रोगी को अनुशंसित किया जाता है, और अब चिकित्सक यह भी मानने लगे हैं कि ऐसा भोजन न केवल कोलेस्ट्रॉल जमने से रोकता है, वरन् धमनियों की भित्ति में जमे वसात्मक जमाव को पुन: द्रवीभूत कर, रोग की प्रक्रिया को व्युत्क्रमित कर देता है।

आधुनिक शोधों में यह भी दर्शाया गया है कि 'ध्यान' के द्वारा भी रक्त में कोलेस्ट्रॉल की मात्रा काफी कम हो जाती है। यह एक महत्त्वपूर्ण कारण है कि क्यों हमें हृदय रोगियों के योग कार्यक्रम में शिथिलीकरण एवं ध्यान के अभ्यासों को इतना महत्त्व देना चाहिए।

एक व्यक्ति जो अधिक वसायुक्त, अधिक कोलेस्ट्रॉल युक्त भोजन ग्रहण करता है, उसका रक्त द्रव (सीरम) गाढ़ा दूधिया तथा धुँधला दिखाई देता है। इसके विपरीत शाकाहारी भोजन करने वाले का सीरम साफ तथा रंगहीन दिखाई देता है। अब हम इस तथ्य का आसानी से अनुमान लगा सकते हैं कि हृदय को इस वसा कणों से लदे गाढ़े द्रव को दिन-रात निरन्तर वर्षों तक फेंकते रहने में कितना अधिक श्रम करना पड़ता होगा।

हृदय रोग तथा व्यक्तित्व

जिन व्यक्तियों को हृदय रोग होता है, उनके व्यक्तित्व की एक विशिष्टि पहचान होती है, जिसे खास नाम भी दिया गया है– 'हृदय रोग व्यक्तित्व' या कार्डियक पर्सनाल्टी। ऐसा व्यक्ति प्राय: अधेड़ उम्र का होता है, जो अत्यन्त लगनशील, हठधर्मी तथा प्रतिस्पर्धात्मक स्वभाव का होता है। अपने

कार्य क्षेत्र में अधिकतर सफल होता है। वह अपनी क्षमताओं को चरम सीमा तक खींच कर ही जीवन में कुछ बन पाता है। उसके व्यक्तिगत आदर्श ऊँचे होते हैं तथा दूसरों से भी उसकी अपेक्षाएँ उन्हीं आदर्शों के अनुरूप होती हैं। वह काम करने की ऐसी लत पाल लेता है कि अपने कार्य को ही वह आत्मसन्तुष्टि का एकमात्र माध्यम बना लेता है। बहुत बार वह पारिवारिक जिम्मेदारियों तथा पीड़ादायी भावनात्मक परिस्थितियों की उपेक्षा कर उन्हें टाल जाता है। हालाँकि ऊपर से तो वह बहुत सशक्त इच्छाशक्ति वाला, स्वतंत्र व्यक्तित्व का दिखाई पड़ता है, मगर उसकी अंदरूनी व्यक्तिगत प्रवृत्ति बिल्कुल विपरीत हो सकती है। वह अन्दर से प्राय: अत्यन्त संवेदनशील तथा कलात्मक अभिरुचियों वाला हो सकता है, मगर उसने अपने व्यक्तित्व के इस कोमल पहलू को दमित कर दिया होता है और यही वैषम्य उसके अन्तर्द्वन्द्व, मानसिक तनाव तथा हृदय रोग का मूल है।

योग चिकित्सा के दौरान ऐसे व्यक्तित्व वाले लोगों को शन्तिपूर्वक बिना प्रतिस्पर्धात्मक रुख अपनाए अभ्यास करना अक्सर मुश्किल हो जाता है। उसका मन सफलता एवं तुरन्त उपलब्धि की ओर इतना अभिमुख होता है कि उसे शुरू-शुरू में शिथिलीकरण, समर्पण, प्रतिग्रहण तथा विश्वास जैसी चीजें बड़ी अप्राकृतिक जान पड़ती हैं। उसके मानसिक संकुचन उसे अपने आपको ढीला छोड़ने तथा स्थितियों को प्रवाह के अनुसार बहने देने में बाधक बन जाते हैं। हालाँकि यदि यही प्रथम शिक्षा ग्रहण कर ली जाए तो तीव्र उन्नति सम्भव है। चिकित्सा की सफलता एवं शीघ्र लाभ की आशा के पीछे भागने की बजाय निश्चिन्त रहने पर ही सफलता तेजी से समीप आएगी।

योग द्वारा भावनात्मक सन्तुलन

चूँकि हृदय रोग उत्पन्न करने में भावनाओं की भूमिका आधारभूत है, अत: रोग की स्थिति में सुधार करने हेतु सिर्फ वसा रहित भोजन लेने से काम नहीं चलेगा। योग विज्ञान के अनुसार तनावग्रस्त तथा हृदय रोग से पीड़ित व्यक्तियों के लिए अपने भावनात्मक ढाँचे की संरचना तथा उसके हृदय तथा मन पर पड़ने वाले प्रभावों को पहचानना एवं समझना अत्यन्त आवश्यक है। यौगिक शिथिलीकरण के अभ्यासों, जैसे – योग निद्रा एवं ध्यान के अभ्यासों से यह बोधगम्यता सहज ही प्राप्त हो सकती है। योगनिद्रा की

सम्पूर्ण वैज्ञानिक शिथिलीकरण प्रक्रिया में निपुणता हासिल करना इस दिशा में पहला कदम होगा, क्योंकि हृदय रोगी अक्सर अपनी भावनात्मक स्थितियों द्वारा अधिक प्रभावित होते हैं। हालाँकि सतही तौर पर वे कितने ही शान्त, सौम्य एवं सुदृढ़ व्यक्तित्व के मालिक हों, उनका अवचेतन तो संवेदनशील रहता ही है। दमित भावनाएँ, जो वर्षों तक भीतर-ही-भीतर सड़ती रही हों और उनकी अभिव्यक्ति शर्म, कुंठा या अस्वीकृति के कारण नहीं हो पाई हो, वे अन्दर-ही-अन्दर अवचेतन तनाव में परिवर्तित हो हृदय रोग के रूप में अभिव्यक्त होती हैं।

योग के अभ्यास से व्यक्ति धीरे-धीरे अपने अन्तश्चेतन के गह्वर से इन दमित वासनाओं, अपर्याप्तताओं, असुरक्षाओं तथा भावनात्मक जटिलताओं को मुक्त करने में सफल होता है। अक्सर ये पूर्व बाल्यकाल के कड़वे अनुभव होते हैं, जो संस्कार के रूप में अचेतन मन में प्रविष्ट हो जाते हैं। हो सकता है कि इन अनुभवों की व्यक्ति को चेतन स्तर पर कोई स्मृति न हो, मगर वे रोजमर्रा के जीवन में एक उच्च-स्तरीय प्लवनशील उत्तेजना उत्पन्न करते हैं, जो प्रत्येक सम्बन्ध प्रतिक्रिया, दृष्टिकोण एवं निर्णय को प्रभावित करती है।

योगाभ्यास से जैसे-जैसे शिथिलीकरण होता है, तथा प्रतिबन्ध हटते हैं, भीतर के दबे संस्कार सतह पर आकर मुक्त हो जाते हैं तथा रोगी धीरे-धीरे अपने जीवन से सम्बन्धित विचारों तथा पूर्वाग्रहों को सीधे-सादे तथा उन्मुक्त भाव से महसूस करने लगता है। वह अपनी भावनाओं को खुल कर ईमानदारी से अभिव्यक्त करना सीख जाता है। यौगिक अभ्यास व्यक्ति को एक बालक की तरह खुला, सहज तथा सरल व्यक्तित्व प्रदान कर, दिल पर पड़ने वाले बोझ को हल्का कर देते हैं। इस भय, खिन्नता, आक्रामकता, विश्वासघात तथा क्रोध इत्यादि के गूढ़ भावनात्मक जाल का बोझ उतरते ही मन तथा हृदय को बहुत राहत मिलती है। व्यक्तित्व की विकृतियाँ समाप्त हो जाती हैं, और क्रोध, उत्तेजना तथा भावावेश के विस्फोट न तो मन को अभिभूत करते हैं, न ही हृदय पर श्रम का अतिभार डालते हैं।

अब आप अनुमान लगा सकते हैं कि इन मनोभावनात्मक दुष्प्रभावों से मुक्त होने पर हृदय को किस शिथिलीकरण एवं शान्ति की अनुभूति होगी। यही शान्ति हृदय रोगियों के लिए अन्य किसी भी चीज से ज्यादा जरूरी है, और ये सब योग के अभ्यासों – ध्यान, योगनिद्रा इत्यादि से प्राप्त होता है।

आधुनिक चिकित्सा समाधान की अपर्याप्तता

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने अनेक शक्तिशाली ओषधियों का आविष्कार किया है, जो उच्च रक्तचाप तथा हृदयाघात के लक्षणों एवं खतरनाक कुप्रभावों को नियंत्रित करने में सक्षम हैं। ये औषधियाँ संकटावस्था में जीवनरक्षक सिद्ध होती हैं तथा खतरनाक रूप से बढ़े हुए रक्तदाब को नीचे लाने, तेजी से अवरुद्ध होते हृदय की गतिशीलता को स्थिर बनाए रखने, या हृद्शूल में उठने वाली तीव्र पीड़ा को कम करने में पूर्णत: सक्षम हैं। मगर ओषधियाँ सिर्फ लक्षणों तथा खतरनाक दुष्प्रभावों को नियंत्रित कर सकती हैं, वे हृदय रोग के सूक्ष्म मूल कारणों की तह तक नहीं पहुँच सकतीं। वे रोग का प्रतिरोध कर उसे समूल नष्ट नहीं कर सकतीं।

अनेक व्यक्ति अपनी इस स्थिति का कारण जाने बिना सिर्फ लाक्षणिक लाभ के लिए इन दवाओं पर महीनों या वर्षों तक निर्भर रहते हैं। वे जीवनभर रोग की जड़ को पालते तथा ऊपरी शाखाओं को काटने का प्रयत्न करते रहते हैं। अन्तत: थके-हारे, बिना यह जाने कि उनके मानसिक तथा हृदय के स्वास्थ्य में कहाँ क्या गड़बड़ी है, जीवन में बचे-खुचे वर्ष कष्ट और मानसिक पीड़ा में गुजारते हुए काल कवलित हो जाते हैं।

जब भावनाओं एवं संस्कारों का ज्ञान, परिचय और अनुभव सचेतन रूप से किया जाता है, तो हृदय-तनाव का मूल कारण ही नष्ट हो जाता है। इसलिए हृदय रोगियों को ओषधि सेवन के साथ-साथ कुशल चिकित्सक के निर्देशन में योग का अभ्यास अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। फिर वे धीरे-धीरे अपनी प्रतिबन्धात्मक सीमाओं को पहचान कर उनसे ऊपर उठ सकते हैं, जो उनके हृदय-परिसंचरण तंत्र का ह्रास तथा मन को कष्टकर अनुभूतियाँ प्रदान कर रही थी।

यौगिक समाधान प्रस्तुति

दमित भावनात्मक द्वन्द्वों से उत्पन्न रोगों के लिए योग एक आदर्श, अनुभूत तथा प्रामाणिक समाधान प्रस्तुत करता है। योग एक ऐसी जीवनशैली दर्शाता है जिससे हृदय अनुकूलतम अवस्था में जीवनपर्यन्त स्वस्थ रहे तथा तनावों और रोगों से भी मुक्ति मिल सके।

हृदय को भारमुक्त करने हेतु सर्वप्रथम भावनात्मक द्वन्द्वों, निर्भरताओं एवं जरूरतों को जानना, स्वीकार करना तथा अभिव्यक्त करना अत्यन्त आवश्यक

है, केवल तभी उनके परे जाना सम्भव होगा। भावावेगों की अन्तर्प्रतिक्रिया को अप्राकृतिक तौर पर दबाया नहीं जा सकता, क्योंकि इस दमन से ही तो मनोविकृति उत्पन्न होती है तथा शारीरिक रोग उपजते हैं। मगर सुव्यवस्थित ढंग से योग मार्ग पर चलने से भावों को पहचानना सम्भव है, तदुपरांत उनको स्वस्थ, सम्पूर्ण तथा प्राकृतिक ढंग से अभिव्यक्त किया जा सकता है। इस प्रकार मुक्त अभिव्यक्तिकरण से ही 'दिल हल्का' होगा। यही भाव स्वास्थ्य की रक्षा करता है तथा हृदय की सुरक्षा कर अकाल मृत्यु से बचाता है।

ध्यान यौगिक जीवन का आधार है। यह धीरे-धीरे व्यक्ति के जीवन से पीड़ा, भय, असुरक्षा इत्यादि कंटक सदृश मनोभावों को दूर करता है तथा उसे शांति, संतुलन एवं सतत् वर्द्धमान चेतना से भर देता है। ध्यानाभ्यास से शरीर तथा मन, दोनों में गहरा परिवर्तन आता है। शरीर के तापमान, चयापचय गति तथा अन्त:स्रावी संस्थानों के व्यवहार में सहज ही बहुत बड़ा परिवर्तन आता है। मन संपूर्ण विश्रांति तथा हल्केपन का अनुभव करता है, और हृदय बहुत शान्त हो जाता है। भावनाओं का गला नहीं दबाया जाता, वरन् उनका अभिव्यक्तिकरण बदल जाता है। क्रमश: हृदय भारमुक्ति का आनन्द अनुभव कर भावनाओं तथा प्रवृत्तियों से ऊपर उठ कर सम्पूर्ण स्वास्थ्य की ओर ऊर्ध्वोन्मुख होता है।

हृद्-परिसंचारी रोगों के लिए यौगिक कार्यक्रम

एक बोझ तले दबे तथा थके हुए हृदय की प्राथमिक आवश्यकता है 'आराम', क्योंकि आराम से खोई हुई जीवनीशक्ति का संचय होगा और पुनरुद्भवन की प्रक्रिया पुन: प्रारम्भ हो सकेगी। यथोचित आराम के साथ सादगीपूर्ण जीवनचर्या, कुछ घूमना-फिरना तथा आसन-प्राणायाम इत्यादि को समायोजित करना होगा, तभी पूरा-पूरा लाभ सम्भव होगा। आहार-विहार, विचार और व्यवहार – इन सभी का सन्तुलन स्वास्थ्य की कुंजी है।

आसनाभ्यास अति महत्त्वपूर्ण हैं, मगर उन्हें अपने सामर्थ्य से अधिक नहीं करना चाहिए। हृदय पर जरा भी जोर न पड़े तथा जैसे ही यह महसूस हो कि जोर पड़ रहा है या हल्का-सा भी दर्द हो तो फौरन आसन बन्द कर शिथिलीकरण का अभ्यास करना चाहिए।

1. *आसन* – पवनमुक्तासन भाग 1 से प्रारम्भ करें। प्रतिदिन प्रात: स्नान, गर्मियों में ठंढे पानी तथा सर्दियों में गर्म पानी से करना चाहिए। इसके

बाद आसनों का अभ्यास करें। यदि कहीं भी कठिनाई महसूस हो या जब भी थकावट महसूस हो, शवासन का अभ्यास करें। अभ्यास जल्दी से खत्म करने का प्रयास कभी न करें। योगाभ्यास से आराम, शान्ति तथा शिथिलीकरण प्राप्त होना चाहिए। इस एक घंटे में मिली शान्ति की कालावधि धीरे-धीरे बढ़ती जाएगी और सम्पूर्ण जीवन को रूपान्तरित कर देगी। इन आसनों का अभ्यास दैनिक रूप से दो महीनों तक करना चाहिए। निम्नलिखित मुख्य आसन अनुसंशित हैं – वज्रासन, शशांकासन (इस आसन में कुछ मिनटों के लिए शिथिलीकरण) सर्पासन, योग-मुद्रा आसन, भू-नमनासन, गोमुखासन, सेतु आसन इत्यादि।

2. *प्राणायाम* – हृदय रोगी की हालत में सुधार के दरम्यान तथा उसके बाद भी स्वास्थ्यवर्द्धन एवं पुनरुज्जीवन की प्रक्रिया को द्रुत बनाने में प्राणायाम का अभ्यास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्राणायाम फेफड़ों तथा हृदय के लिए कभी कष्टकर नहीं होना चाहिए। यदि ऐसा होता है तो नकारात्मक प्रभाव होने की संभावना है। प्राणायाम से विक्षिप्त मन शान्त होता है। इससे उत्तेजित स्नायुओं का शिथिलीकरण तथा अनियमित हृदय गति का नियमन होता है। हृदय के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्राणायाम हैं नाड़ी-शोधन तथा उज्जायी। प्राणायाम करते समय श्वास सामान्य से थोड़ी ही अधिक गहरी होनी चाहिए। अभ्यास में कुम्भक वर्जित है (विशेषत: शुरू में)। श्वास जितनी शान्त या ध्वनि रहित तथा प्राकृतिक बनी रहे, उतना अच्छा है। श्वास-प्रश्वास का पूरी सजगता से अवलोकन करने का प्रयास करें। श्वास का अवलोकन मन का अवलोकन है। इस साधारण प्रक्रिया से फौरन ही तनाव एवं चिन्ता से मुक्ति की अनुभूति होने लगती है। ऑक्सीकरण की प्रक्रिया अधिक सुचारु होने से हृदय को बहुत लाभ पहुँचता है तथा ऊत्तक तेजी से पुनरुज्जीवित होने लगते हैं। नाड़ी शोधन प्राणायाम के दस चक्र तथा दस मिनट तक उज्जायी प्राणायाम अनुशंसित है।

3. *योगनिद्रा* – आसन कार्यक्रम के दौरान बीच-बीच में शिथिलीकरण करते रहना चाहिए। शवासन, मत्स्य क्रीड़ासन या अद्वासन में से किसी भी आसन का प्रयोग कर सकते हैं। योगनिद्रा का पूर्ण अभ्यास दिन में एक बार कभी भी अवश्य करें।

4. *ध्यान* – हृदय रोगियों को ध्यान एक नियमबद्ध अभ्यास के रूप में नहीं वरन् एक आनन्ददायी कार्यकलाप के रूप में सीखना चाहिए। खासकर बीमारी

के बाद वाले समय में, जब बिस्तर से उठ पाना सम्भव नहीं हो अथवा बाद में भी स्वास्थ्य लाभ के दौरान। ध्यान के द्वारा हृदय, मस्तिष्क और भावनाओं में कहर बरपाने वाले तनावों को जानना लाभदायक अनुभव होगा।

ध्यान की अनेक तकनीकें हैं, जो भावनात्मक तनावों के प्रति सजगता बढ़ाने हेतु अत्यन्त उपयोगी अभ्यास हैं। सबसे उपयुक्त अभ्यास अजपा-जप (सोऽहं मंत्र के साथ) तथा अन्तर्मौन हैं। ये अभ्यास असुरक्षा तथा चिन्ताओं के प्रति निश्चिन्तता का भाव पैदा करते हैं, जो मानसिक उद्वेलनों तथा तनावों के मूल कारण हैं।

5. *षट्क्रियाएँ*– हृदय रोगियों के लिए जल नेति एक आदर्श अभ्यास है। इसका अभ्यास बिस्तर पर बैठे-बैठे ही सीखा तथा किया जा सकता है। मगर उसके पश्चात् भस्त्रिका नहीं करें, न ही नासिका को सुखाने के लिए श्वास पर जोर डालें। नेति प्रतिदिन प्रात: करें। कुंजल तथा शंख-प्रक्षालन हृदय पर काफी जोर डालते हैं, अत: उनका अभ्यास हृदय रोगियों को कम-से-कम कुछ महीनों तक नहीं करना चाहिए।
6. *कर्मयोग*– हृदय रोगियों को पूर्ण सजगता, सावधानी तथा नि:स्वार्थ भावना से कार्य करना चाहिए। जहाँ पर कार्य के बदले में पुरस्कार या लाभ की आशा न हो, ऐसी मानसिकता द्वारा जीवनयापन करने से हृदय रोग सफलतापूर्वक ठीक किया जा सकता है।
7. *जीवनशैली में परिवर्तन*– हृदय पर तनाव तथा हृदय रोग की परिस्थिति उन्हीं लोगों में अधिकतर उत्पन्न होती है, जिनकी मन:स्थिति राजसिक, क्रियाशील एवं प्रतिस्पर्धात्मक है। मुख्यत: व्यवसायी लोग, जो अपने व्यवसाय में एक ही धुन से जुटे रहते हैं, हृदयाघात के प्रति सर्वाधिक प्रवण होते हैं, क्योंकि वे अंगों को पुनरूज्जीवित करने वाले 'विश्राम' के लिए समय नहीं निकाल पाते। अपने कार्य में इस प्रकार उलझे रहते हैं कि दैनिक जीवनचर्या में भाग-दौड़ के सिवाय उन्हें फुरसत ही नहीं रहती।

अधिकतर लोग 'विश्राम' की वास्तविकता नहीं जानते, और इसके बदले उन्होंने एक 'रिलैक्स' होने की भ्रामक धारणा पाल रखी है, जो वास्तव में उत्तेजित करने वाली आदतें हैं, जैसे– धूमपान, मदिरापान, तेज संगीत, पार्टियाँ तथा सामाजिक गतिविधियाँ। ये विश्रांति की बजाय उत्तेजना तथा थकावट उत्पन्न करती हैं। न केवल मन में, वरन् शरीर, विशेषत: हृद्परिसंचारी तंत्र में परिश्रांति की अवस्था उत्पन्न हो जाती

है। देर रात तक जागना और अधिक मात्रा में गरिष्ठ भोजन बची-खुची कमी पूरी कर देता है।

हृदयरोगी को सम्पूर्ण स्वास्थ्य लाभ के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह काम-काज की चिन्ताओं से बिलकुल अलग रहे और ऐसे वातावरण में रहे जो पूर्णत: प्राकृतिक तथा विश्रांतिदायक हो। आश्रम का वातावरण बहुधा आदर्श सिद्ध होता है। प्रकृति अपने आप ऐसा सम्पूर्ण अवकाश लेने पर मजबूर कर देती है जिससे वे वर्षों तक वंचित रहे। इस कालावधि में उनका परिचय नयी रचनात्मक शान्ति प्रदायी तथा गैर प्रतिस्पर्धात्मक अभिरुचियों से कराया जा सकता है, जो प्रकृति चक्र तथा प्राकृतिक नियमों से तालमेल रखती हों। उदाहरण के तौर पर सरल बागवानी, जहाँ पर लाभ की दर शेयर बाजार के उतार-चढ़ाव पर नहीं, वरन् मातृवत् पृथ्वी की प्रचुरता पर निर्भर करती है। ये छोटी-छोटी बातें महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति को मानसिक शान्ति देती है, तथा जीवन की गति को प्रकृति की लय के अनुसार स्वीकार करने में सहायता देती हैं। इसी प्रकार साधारण कार्य, जैसे, लकड़ी का काम उस व्यक्ति को एक आश्चर्यजनक सुखद अनुभूति दे सकता है, जिसने अपने हाथों का पूर्व में केवल चेक पर दस्तखत करने में ही उपयोग किया हो।

8. *स्वाध्याय*– विभिन्न धर्मग्रंथों, उपदेशों, तथा महान व्यक्तियों के जीवन तथा कार्य का अध्ययन करना, जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन परम सत्य की खोज व सेवा में लगा दिया है। स्वाध्याय पुराने आर्थिक एवं भावनात्मक हिसाब-किताब से ऊपर उठकर सोचने की दिशा तथा नवीनता प्रदान करता है। यह हृदय रोगी के लिए एक नयी तनावमुक्त जीवनशैली का रहस्योद्घाटन तथा पथ प्रदर्शन करने वाला होगा।
9. *भक्तियोग*– भावनात्मक ऊर्जा को व्यक्तिगत विषय वस्तुओं तथा वासनाओं के बन्धनों से परे उच्च चेतना या ईश्वर की ओर अभिमुख करने का विज्ञान भक्ति योग कहलाता है। कीर्त्तन या भजन हृदय रोगियों के लिए अत्यन्त लाभकारी है, तथा व्यक्तिगत आसक्तियों के जाल में उलझी भावनाओं से भार मुक्ति का एक प्रभावी साधन है।
10. *भोजन*– भोजन नियमपूर्वक हल्का होना चाहिए। मांस तथा अधिक प्रोटीन युक्त आहार जैसे दूध तथा दूध से बनी चीजों, तेल अथवा मसालेदार भोज्य पदार्थों का सेवन वर्जित है। उनकी जगह अन्न, दालें,

फल तथा ताजी सब्जियाँ लें। इससे मोटापा भी कम होगा जिससे लगातार हृदय पर पड़ने वाला भार कम होगा। भोजन का समय नियमित हो, मुख्य भोजन के बीच में कुछ भी खाते रहने की आदत जीवनभर के लिए नियमपूर्वक त्याग देनी चाहिए। आवश्यकता से अधिक मात्रा में भोजन न लें, क्योंकि नि:सन्देह इससे हृदय पर अधिक भार पड़ता है। वस्तुत: बहुधा दिल का दौरा भारी भोजन के कुछ समय बाद ही पड़ता है, क्योंकि भारी भोजन को पचाने के लिए रक्त को ज्यादा मात्रा में पेट में पहुँचाना होता है। अत: हृदय में रक्त की आपूर्त्ति कम हो जाती है, और हृत्शूल या हृदयाघात अवक्षेपित हो जाता है। संध्या का भोजन सात बजे से पहले ही कर लें, क्योंकि यह नियम इस बात से आश्वस्त कर देता है कि पाचन संस्थान पर ज्यादा भार नहीं पड़ रहा है और ऊर्जा, पाचन की बजाय रोग को स्वस्थ करने में लग रही है।

दूसरी आवश्यक बात यह है कि हृदय रोगियों को कब्ज नहीं होनी चाहिए, क्योंकि इससे आँतों में प्राणिक ऊर्जा का प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है। शौच के समय ज्यादा जोर लगाने से भी हृदय पर जोर पड़ता है। इसी कारण तथा उपर्युक्त वर्णित अन्य कारणों को हृदयाघात के पश्चात् व्यक्ति के लिए सुपाच्य, पतला भोजन अनुशंसित किया जाता है। हृदय की कार्य क्षमता के ठीक होते समय धीरे-धीरे भोजन सामान्य स्थिति में लाया जा सकता है।

11. *व्यसन*– मद्यपान, धूमपान, तम्बाकू सेवन इत्यादि हृदय रोगियों के लिए जहर हैं। इनका सेवन तुरन्त त्याग दें।

तृतीय खण्ड

श्वसन तंत्र

श्वसन प्रणाली के रोग

श्वसन प्रणाली की संरचना में नासिका से ग्रसनी, कंठच्छद, श्वसन नली, श्वसनियाँ तथा फेफड़े आते हैं। छाती की पसलियाँ फेफड़ों की रक्षा करती हैं तथा मांसपेशियों एवं मध्यपटल के साथ मिलकर धौंकनी की तरह फेफड़ों में हवा भरती और निकालती हैं। इनके अलावा मस्तिष्क से जोड़ने वाली तंत्रिकाएँ, जो इस धौंकनी की मांसपेशियों को उत्तेजित एवं नियंत्रित करती हैं, सभी श्वसन-तंत्र के अंग हैं।

वर्णन की सुविधा हेतु श्वसन-तंत्र को दो भागों में विभाजित किया जाता है– ऊपरी श्वास पथ एवं अध: श्वास पथ। इन्हें विभाजित करने वाली अनुमानित रेखा कंठ में मानी जाती है, जो बाहर से उभार के रूप में दिखाई देती है।

मगर इस विभाजन रेखा से यह अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए कि दोनों हिस्सों के रोग हमेशा अलग-अलग होंगे। वास्तव में नाक एवं गले में होने वाले रोगों का श्वास नलिकाओं तथा फेफड़े के रोगों से निकट का सम्बन्ध है। उदाहरण के तौर पर ऊपरी श्वास पथ के इन्फेक्शन, जैसे, सर्दी-जुकाम या सायनोसाइटिस, विशेष परिस्थितियों में नीचे फेफड़ों में जाकर ब्रोंकाइटिस या निमोनिया जैसे रोग उत्पन्न कर सकते हैं।

ऊर्ध्व श्वास पथ

इसमें नासिका, नासिका पुट, सायनस, ग्रसनी तथा कण्ठ इत्यादि भाग सम्मिलित हैं। नासिका के अगल-बगल में स्थित खोखली गुहिकाओं को परानासिका सायनसेस कहते हैं। दरअसल प्रकृति ने चेहरे का आकार बनाए रखने के लिए मजबूत हड्डियाँ बनाई, मगर खोपड़ी का भार हल्का ही

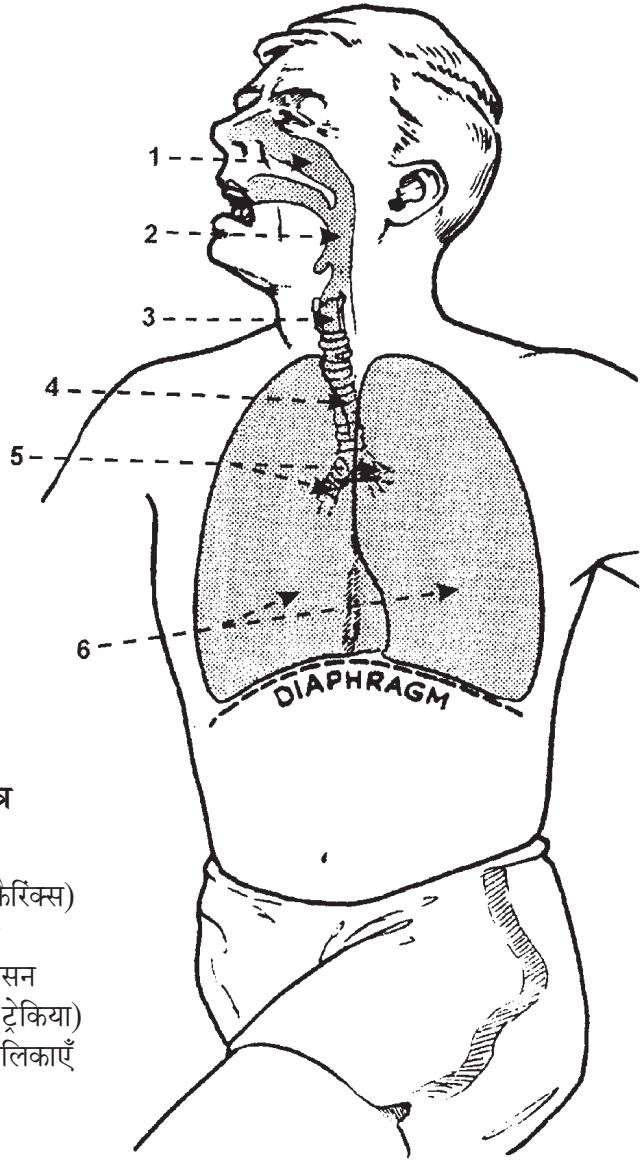

श्वसन तन्त्र

1. नासिका
2. ग्रसनी (फैरिंक्स)
3. स्वर यन्त्र
4. मुख्य श्वसन नलिका (ट्रेकिया)
5. श्वसन नलिकाएँ (ब्रोंकाई)
6. फेफड़े

रहे, इसीलिए उन हड्डियों में खोखली कोटरें बनाना आवश्यक था। इन खोखली कोटरों में भीतर से श्लेष्मा झिल्ली मढ़ी रहती है तथा वे नासिका से एक छिद्र के माध्यम से जुड़ी रहती है।

ताकि उनके भीतर द्रव या स्राव जमा न होकर लगातार निष्कासित होता रहे। इन्हीं परिसंरचनाओं को साइनस कहते हैं। कभी-कभी सर्दी होने पर नासिका की भीतरी झिल्ली सूज कर इनके निष्कासन छिद्र को बन्द कर देती है, जिसके फलस्वरूप इन्फेक्शन तथा स्राव दोनों भीतर पीब सदृश पदार्थ के रूप में जमा हो जाते हैं। इस अवरोध के कारण स्वास्थ्य-लाभ की प्रक्रिया भी धीमी होकर अक्सर अपूर्ण रह जाती है।

श्वास अन्दर लेते समय वायु नासिकाओं, कण्ठ तथा मुख्य श्वास नली से गुजरते समय अनुकूलित हो फेफड़ों में पहुँचती है। बाहर की वायु शरीर के अनुपात में प्राय: काफी शुष्क तथा ठंडी होती है, अत: फेफड़ों में प्रवेश करने से पहले इसे अनुकूल, अर्थात् गर्म तथा आर्द्र बनाना आवश्यक होता है, अन्यथा यह फेफड़ों की झिल्ली को सुखाकर नष्ट कर देगी। इसके अतिरिक्त वातावरण की हवा में (खासकर शहरों में) अनेक प्रदूषण, जैसे– धूल, धुआँ, इत्यादि के साथ-साथ करोड़ों कीटाणु भी विद्यमान रहते हैं। इनकी भी सफाई आवश्यक है, अन्यथा फेफड़े आसानी से रोगग्रस्त हो जाएँगे या धुएँ अथवा धूलकणों से बुरी तरह भर जाएँगे।

इन खतरों से सुरक्षा हेतु शरीर को वायु शुद्धिकरण तथा वातानुकूलन उपकरण प्रदान किए गए हैं। यह प्रक्रिया नासिका छिद्रों से शुरू हो जाती हैं, जहाँ पर नासिका के भीतरी ओर के बाल बड़े धूलकणों तथा कचरे को प्रवेश-मार्ग पर ही रोक देते हैं। नासिका की भीतरी दीवार पर दोनों ओर तीन विशेष हड्डियाँ उभरी रहती हैं, जिनमें रक्त प्रवाह प्रचुर मात्रा में होता रहता है। श्वास जब इनसे गुजरती है तब वे रेडिएटर की भाँति वायु को गर्म कर देते हैं तथा श्लेष्मा वाष्पित हो उसे आर्द्रता प्रदान करती है।

ऊर्ध्व श्वास पथ के रोगों में सामान्य सर्दी-जुकाम, साइनोसाइटिस, परागज बुखार, टाँसिलाइटिस तथा एडीनॉयड की सूजन इत्यादि मुख्य हैं।

श्लेष्मा (म्यूकस) स्त्रवण प्रक्रिया

हम पहले देख चुके हैं कि वायु किस प्रकार छन कर प्रवेश करती है, मगर इसके बावजूद भी श्वास में महीन धूलकण घातक मात्रा में उपस्थित रहते

हैं। इनके निष्कासन के हेतु सम्पूर्ण श्वास पथ की भीतरी सतह पर श्लेष्मा कोशिकाएँ लगातार श्लेष्मा (म्यूकस) स्रावित करती रहती हैं, जिसकी चिपचिपी गीली सतह पर सभी धूलकण चिपक जाते हैं तथा भीतर नहीं जा पाते। अब एक और सम्भावना पर विचार करें कि क्यों धूल से युक्त श्लेष्मा कीचड़ की तरह श्वास पथ में अवरोध उत्पन्न नहीं करती – इसके समाधान के लिए भी प्रकृति ने दूसरी अनूठी प्रणाली विकसित की है। श्वास पथ की सतह पर एक स्वचालित झाड़ू प्रणाली कार्यरत रहती है, जिसमें करोड़ों महीन रोम रहते हैं, जिसे सीलिया कहते हैं तथा जो सिर्फ सूक्ष्मदर्शी की सहायता से देखे जा सकते हैं, वे लगातार म्यूकस तथा धूलकणों को गले की ओर धकलते रहते हैं। गले या कण्ठ से यह पदार्थ या तो खाँसी द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है या निगल लिया जाता है। चूँकि इसका पाचन नलियों पर कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ता, पूरी निष्कासन प्रक्रिया निरापद रूप से सम्पन्न हो जाती है।

खाँसने की प्रतिवर्ती क्रिया

कभी-कभी हम अपनी श्वास में, श्वास नली की सफाई क्षमता से कहीं ज्यादा, कचरा तथा प्रदाहात्मक पदार्थ भीतर खींच लेते हैं, जैसे – धूमपान, औद्योगिक प्रदूषण या वाहनों का धुँआ इत्यादि। इस प्रकार के करोड़ों धूम्रकणों की सफाई हेतु श्वास नली अधिक म्यूकस स्रावित करती है। यह म्यूकस धूल कणों से मिलकर स्वयं दूषित तथा अत्यन्त भारी हो जाता है, जिसका निष्कासन, मात्र महीन सीलिया रोमों की क्षमता से परे हो जाता है। अत: इसे खाँस कर बाहर निकालना पड़ता है। श्वास नली में स्थित सम्बन्धी तन्तुओं के उत्तेजन से एक जटिल स्नायविक प्रतिक्रिया होती है, जिसके फलस्वरूप वायु फेफड़ों के भीतर कण्ठ के वाल्व (कपाट) द्वारा रोक ली जाती है। तत्पश्चात् इस वाल्व के अचानक खुलने और मांसपेशियों के दबाव के कारण वायु विस्फोटक वेग से बाहर निकलती है और अपने साथ दूषित म्यूकस (श्लेष्मा) को भी बाहर निष्कासित कर देती है।

अत: जिस खाँसी को हम एक उपद्रव मानते हैं, वास्तव में वह श्वास नली को खुला रखने तथा जीवित रहने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह एक आपातकालीन सफाई प्रक्रिया है जो शरीर के दूषित पदार्थों को श्वास नली में प्रवेश करने से रोकती है।

स्वर-यंत्र ध्वनि उत्पन्न करने के महत्त्वपूर्ण कार्य के अतिरिक्त खाँसी के माध्यम से धूलकणों को अधः श्वास-पथ में जाने से रोकता है। गले के संक्रामक रोगों की चपेट में वह भी अक्सर आ जाता है। स्वर-यंत्र की सूजन तथा दर्द इत्यादि को लेरिन्जाइटिस कहते हैं, जिसके लक्षणों में सूखी खाँसी, आवाज का भारीपन तथा गले में खराश इत्यादि प्रमुख हैं।

अधः श्वास पथ

कण्ठद्वार से प्रारम्भ होने वाले इस हिस्से में मुख्य श्वास नली, श्वसनिकाएँ तथा फेफड़े आते हैं। मुख्य श्वास नली (ट्रेकिया) एक मोटे पाइप की सदृश कण्ठ द्वार से प्रारम्भ होती है तथा हृदय के ऊपर दो नलियों में विभक्त हो जाती है जिन्हें दायीं तथा बायीं श्वसनी (ब्रांकि) कहते हैं। प्रत्येक श्वसनी लगभग 4 इंच लंबी होती है तथा फेफड़ों तक जाकर अनेक पतली नलिकाओं में विभक्त होती जाती है। इन नलिकाओं को श्वसनिका (ब्रोंकियोल) कहते हैं। इस प्रकार शाखा-प्रशाखाओं के विभाजन तथा विस्तार से जो संरचना बनती है वह एक वृक्ष के तने तथा उसकी शाखाओं से मिलती-जुलती है, अतः इसका भी नाम दिया गया है – श्वसनी वृक्ष। सबसे महीन श्वसनिका का सम्बन्ध छोटी-छोटी वायु-थैलियों से रहता है, जिन्हें एल्वीयोलाई अथवा वायुकोष कहते हैं। इस प्रकार श्वसनी तथा वायुकोष समूह की अनेक ईकाईयाँ मिलकर फेफड़ों की आधारभूत संरचना करती हैं। करोड़ों वायु-थैलियों के कारण ही फेफड़े स्पंज की तरह महसूस होते हैं।

वास्तव में सूक्ष्मदर्शी से देखने पर ये वायुकोष स्पंज के छेदों या मधुमक्खी के छत्ते की भाँति दिखाई पड़ते हैं। प्रत्येक कोष की भित्ति के चारों ओर मकड़ी की जाली की भाँति महीन रक्त-कोशिकाओं का जाल बिछा रहता है।

ये कोशिकाएँ इतनी महीन होती हैं कि इनसे गुजरते समय लाल रक्तकणों को एक कतार में होकर एक-दूसरे को धक्का देते हुए घुसना पड़ता है। इससे इन कणिकाओं तथा वायुकोष की भित्तियाँ इतनी नजदीक आ जाती हैं कि इनके बीच ऑक्सीजन तथा कार्बन-डाइ-ऑक्साइड का स्थानांतरण आसानी से होना सम्भव हो जाता है। अशुद्ध रक्त से कार्बन-डाइ-ऑक्साइड निकलकर वायुकोषों से होती हुई प्रश्वास द्वारा बाहर निकल जाती है तथा श्वास द्वारा अन्दर लिया गया शुद्ध ऑक्सीजन रक्त में प्रवेश कर जाता है। यह शुद्ध रक्त फिर हृदय द्वारा पम्प कर सम्पूर्ण

शरीर में भेज दिया जाता है। इस प्रकार हृदय और फेफड़े, दोनों मिलकर पूरे शरीर का रक्त हर कुछ मिनटों में शुद्ध करते तथा अशुद्धियाँ बाहर निष्कासित करते हैं। फेफड़ों की इन महीन संरचनाओं के शुद्धिकरण की कार्यकुशलता आँखों से नहीं देखी जा सकती – जो अशुद्ध रक्त फेफड़ों में प्रवेश करता है उसका रंग नीला-सा होता है और बाहर आने पर उसी का रंग चमकदार लाल हो जाता है। दिन-रात यही महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया अनवरत कार्यरत रहकर पूरे शरीर को ऑक्सीजन तथा ऊर्जा प्रदान करती रहती है, जो शरीर की सभी जीवनी-प्रणालियों को संचारित करती है।

अध: श्वास पथ के रोगों में ब्रोंकाइटिस, दमा (अस्थमा), कुकुर खाँसी, निमोनिया, एम्फाइसीमा, कैंसर, टी.बी., पसली चलना या उनमें पानी भरना अथवा वातवक्ष इत्यादि आते हैं।

श्वसन प्रक्रिया

सामान्यत: हम प्रति मिनट पन्द्रह बार श्वास लेते-छोड़ते हैं। हर श्वास के साथ लगभग आधा लीटर वायु फेफड़ों में प्रवेश करती है। शारीरिक श्रम करते समय कोशिकाएँ ज्यादा ऑक्सीजन उपयोग में लाती हैं। इस बढ़ी हुई आवश्यकता की पूर्ति हेतु श्वसन की गहराई तथा गति दोनों बढ़ जाती है, जिससे फेफड़े सामान्य अवस्था से दस गुणा से भी अधिक वायु अन्दर खींचने लगते हैं।

श्वसन-यंत्र तथा कार्यप्रणाली एक जटिल प्रक्रिया है। दोनों फेफड़े वक्ष के भीतर दोनों ओर दो भिन्न प्रकोष्ठों में प्रलम्बित रहते हैं। इन दोनों के बीच में हृदय रहता है। फेफड़ों तथा वक्ष गुहा की भीतरी सतह के बीच एक निर्वात स्थिति रहती है। अत: मांसपेशीय क्रिया द्वारा जब वक्ष का आकार (आयतन) बढ़ाया जाता है तो यह निर्वात स्थिति फेफड़ों को भी बाहर की ओर खींच कर फुलाती है, फलस्वरूप वायु फेफड़ों के भीतर प्रवेश कर जाती है। साथ-ही-साथ मध्यपटल (डायफ्राम) भी नीचे की ओर खिंचता है, जिसके कारण पेट फूलता हुआ मालूम पड़ता है। पसलियों सहित मांसपेशियाँ तथा डायफ्राम, दोनों मिलकर श्वास अन्दर लेने की प्रक्रिया सक्रिय रूप से पूरी करते हैं। इन मांसपेशीय के शिथिल होते ही लचीले फेफड़े पुन: सिकुड़ कर पूर्व आयतन की स्थिति में आ जाते हैं, फलस्वरूप प्रश्वसित वायु अपने आप बाहर निष्कासित हो जाती है। इस प्रकार हम देख सकते है कि श्वसन विश्रामावस्था

में निश्चेष्ट रूप से होता है। मगर जब श्वास नलिकाओं की भित्ति में ऐंठन से या कफ जमने से अवरोध उत्पन्न हो जाता है, जैसे, दमे (अस्थमा) की बीमारी में, तो वायु बाहर निष्कासित करने के लिए भी सक्रिय मांसपेशीय ताकत की आवश्यकता पड़ती है।

यदि श्वसन तंत्र को सम्पूर्ण प्रमुखता से कार्य करना है तो नाक से श्वास लेना आवश्यक है। मुँह से श्वास लेना स्वास्थ्य के लिए हितकर नहीं है। दूसरी बात – कई लोग छाती अथवा पेट को फुलाए बिना छोटी एवं उथली साँसें लेते हैं, ये दोनों श्वसन के गलत तरीके हैं, जो अनेक शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों को जन्म देते हैं। योग विज्ञान के अनुसार श्वसन का सही तरीका प्राणायाम के अभ्यास से सीखा जा सकता है। प्राणायाम, अर्थात् प्राणिक ऊर्जा का नियंत्रण एवं विस्तार यौगिक चिकित्सा का आधारभूत स्तंभ है। सजगता एवं कुशलता से श्वास लेने की कला एवं विज्ञान के पूर्ण प्रशिक्षण से प्राणायाम सीखने की शुरुआत होती है। तब श्वास सम्पूर्ण शरीर एवं मन को ऊर्जा प्रदान करने का तथा चेतना विस्तार द्वारा उच्च आध्यात्मिक अनुभूतियों के द्वार खोलने का सशक्त माध्यम बन जाती है।

यौगिक विकल्प

यौगिक विज्ञान श्वसन प्रणाली के रोगों को, आधुनिक चिकित्सा प्रणाली की तुलना में अलग दृष्टिकोण से देखता है। उदाहरण के लिए श्लेष्मा (म्यूकस) निष्कासन को यह शरीर से विषाक्त पदार्थों के निष्कासन की लाभदायक प्रक्रिया मानता है। इस निष्कासन की प्रक्रिया को हठयौगिक षट्क्रियाओं के अभ्यास द्वारा अधिक प्रोत्साहित कर रोग को समूल नष्ट किया जाता है। साथ-ही-साथ ऊष्मावर्द्धक अभ्यास करने की सलाह भी दी जाती है, क्योंकि अत्यधिक श्लेष्मा तथा कफ की शिकायत अक्सर ठण्ढे अथवा बदलते मौसम में होती है। अत: इसे शारीरिक ऊष्मा के असन्तुलन के द्वारा उत्पन्न रोग माना जाता है। इन अभ्यासों में सूर्य नमस्कार, भस्त्रिका तथा अग्निसार क्रिया इत्यादि आते हैं।

योग द्वारा श्वसन तंत्र में सन्तुलन लाने की चेष्टा धीरे-धीरे की जानी चाहिए। ज्यादा ध्यान सूक्ष्म ऊर्जाओं को पुनर्सन्तुलित करने पर देना चाहिए।

सायनोसाइटिस के पुराने रोग में सायनस से मवाद की सफाई शल्य क्रिया (ऐन्ट्रल वाश आऊट) से की जाती है। इसके विपरीत योग की जल

नेति क्रिया द्वारा यही प्रक्रिया अत्यन्त आसानी तथा पीड़ा रहित तरीके से हो जाती है। इस क्रिया में नमक का कुनकुना पानी एक नासिका से डालते हुए सिर को तिरछा कर, दूसरी नासिका द्वारा निकाल दिया जाता है। यह पानी अन्दर-ही-अन्दर सभी साइनसों की सफाई करता हुआ बाहर निकल जाता है। पुराने साइनोसाइटिस में इसका सकारात्मक प्रभाव बहुत जल्दी होता देखा गया है। नेति क्रिया ऊपरी श्वास पथ के सभी रोगों के लिए अचूक औषधि है। कफ या म्यूकस के निष्कासन के लिए इसका अभ्यास परागज (हेइ फीवर), एलर्जी, मध्यकर्ण संक्रमण, सर्दी-जुकाम, इयोसिनोफीलिया, दमा अथवा ब्रोंकाइटिस का कोई भी मरीज कर सकता है। इसका अभ्यास दिन में दो या अधिक बार करना चाहिए।

मेडिकल चिकित्सा में नेति का प्रयोग नाक, कान, गले के सभी रोगों के इलाज में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन ला सकता है तथा मेडिकल चिकित्सा में योग का समागम कई श्वास रोगों की चिकित्सा के नये आयाम खोलेगा।

सामान्य जुकाम

चिकित्सा विज्ञान में सामान्य जुकाम को अनेक नामों से जाना जाता है। यह एक हल्की सामान्य शारीरिक गड़बड़ी है, जो अल्पकाल के लिए होती है। किन्तु जब यह गम्भीर रूप धारण करती है तो इसे फ्लू या इनफ्लूएंजा कहते हैं, जो संसर्गजनित रोग है तथा जिनकी रोग प्रतिरोधन क्षमता अपेक्षाकृत न्यून होती है वही इसके प्रबल आक्रमण के शिकार होते हैं।

जब व्यक्ति खुले वातावरण में सर्दी की चपेट में आता है तो उसे सर्दी लग जाती है, जैसे – बरसात में भींगना, ऋतु संधिकाल (विशेष रूप से शीतकाल के अन्त और वसन्त का प्रारम्भ काल) में जब शरीर का आन्तरिक तापमान बाह्य तापमान से तालमेल बैठाने का प्रयास करता है, तभी वह जुकाम के हमले का शिकार हो जाता है। यह ज्ञातव्य है कि एक स्वस्थ शरीर समय-समय पर अपने संचित विषाक्त तत्त्वों को बाहर निकालता रहता है। सर्दी-जुकाम इस महान् कार्य का एक सशक्त माध्यम कहा जाता है। अत: इसे आन्तरिक साफ-सफाई तथा समायोजन का एक सशक्त माध्यम कहा जाता है। सर्दी के सामान्य लक्षण, जैसे – खाँसी, छींक, नाक बहना, बुखार तथा पसीना आना, आदि सभी आन्तरिक सफाई के माध्यम कहे जाते हैं। जुकाम के अनेक कारणों में अनुपयुक्त आहार, मन्द जठराग्नि, अधिक समय तक बैठकर काम करना, व्यायाम का अभाव, मांसपेशियों की क्रिया मंदता तथा मंद रक्त परिसंचरण आदि हैं।

नैदानिक लक्षण

जुकाम का हमला अक्सर एकाएक होता है। प्रारम्भ में नाक के अन्दर तथा गले में उत्तेजना अथवा झुनझुनी की संवेदना के साथ छींके भी आती हैं। गले

में रुक्षता और खराश के साथ खाँसी भी आती है। सिर में भारीपन, आँखों में टीस तथा नाक से पानी बहना इत्यादि लक्षण दिखते हैं। किसी-किसी को प्रारम्भ से ही कंपकंपी के साथ बुखार भी आता है। त्वचा गर्म और सूखी होती तथा अधिक प्यास के साथ जीभ में सूखापन एवं भूख न लगना जैसे लक्षणों का अनुभव होता है। पेशाब का रंग गहरा और पेशाब कम मात्रा में बनने के अलावा कब्ज की भी शिकायत होती है।

जुकाम की गम्भीर अवस्था में पीठ और शरीर के अंगों में पीड़ा होती है जो एक अंग से दूसरे अंग में सरकती रहती है। नाक की झिल्ली में सूजन के कारण मुँह से श्वास लेना अनिवार्य लगने लगता है। निरन्तर नाक बहते रहने और बार-बार पोंछने के कारण नथुनों के किनारे में जलन होने लगती है। नेत्रों की अश्रु ग्रंथियों की सूजन के कारण उनमें अश्रुप्रवाह होता है तथा लालिमा रहती है। मुँह का स्वाद बिगड़ जाता है तथा सूँघने की शक्ति में भारी कमी का अनुभव होता है। कदाचित् स्वर यंत्र भी जुकाम की लपेट में आ जाय तो गले में खराश के साथ आवाज भी बैठ जाती है। बहुधा सूजन का दायरा बढ़कर कानों तक फैल जाता है। अत: कभी-कभी सुनने की क्षमता पर भी इसका विपरीत प्रभाव पड़ता है।

अक्सर एक-दो दिनों बाद नासिका प्रवाह बढ़ने लग जाता है, जिसके फलस्वरूप नाक की झिल्लियों की सूजन घट जाती तथा थोड़ी राहत का अनुभव होता है। मरीज अब नाक से श्वास लेने लगता है तथा चार-पाँच दिनों में जुकाम की तीव्रता कम हो जाती है। अधिक गम्भीर मामलों में जब सूजन का क्षेत्र बढ़कर अध:श्वास पथ को प्रभावित करता है तो श्वासनली में उत्तेजना के साथ-साथ खाँसी की भी शिकायत होती है।

गम्भीर जुकाम की जटिलता

यदि आवश्यक सावधानी बरतें और उचित उपचार ले लें तो सामान्यतया साधारण जुकाम के कष्टकर अनुभव नहीं होते हैं। किन्तु यदि व्यक्ति की रोग प्रतिरोधन क्षमता न्यून हो तथा उसका सामान्य स्वास्थ्य औसत से निम्न हो तो जुकाम जटिल रूप धारण कर सकता है। ऐसी अवस्था में शरीर के अन्य अंगों पर उसका दुष्प्रभाव देखा जा सकता है। महामारी के रूप में गंभीर इन्फ्लूएंजा (फ्लू) का बच्चों और वयस्कों पर दुष्प्रभाव स्पष्टत: देखा जा सकता है। जुकाम की सामान्य जटिलताएँ प्राय: निम्नलिखित होती हैं–

- अनुषंगी विषाणु संक्रमण – इसके अन्तर्गत स्राव गाढ़े और पीबदार होते हैं।
- साइनोसाइटिस – शिरानाल (साइनस) में सूजन एवं अवरोधन के कारण पीतवर्णी पीबदार श्लेष्मा का विसर्जन होता है।
- मध्यकर्ण संदूषण – जब नासिका से कानों तक संक्रमण पहुँच जाता है तो ज्वर, बधिरता, कर्णशूल इत्यादि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।
- निम्न श्वासनली का संदूषण – श्वास नली में सूजन, श्वासनली के शोथ, न्यूमोनिया, तथा फेफड़ों के अन्य रोग हो सकते हैं।

गंभीर जुकाम का योगोपचार

आज तक चिकित्सा विज्ञान जुकाम और इन्फ्लूएँजा का कोई कारगर उपचार प्रस्तुत नहीं कर पाया है। वह केवल लाक्षणिक चिकित्सा तक ही जाकर रुक जाता है। उसमें केवल प्रतिजैविकी (एंटिबायोटिक) ओषधियाँ ही अनुशंसित की जाती है ताकि अनुषंगी विषाणु संदूषण न होने पाए। जब शरीर में प्राण ऊर्जा अथवा रोग प्रतिरोधात्मक क्षमता पर्याप्त हो तथा शारीरिक अंगों में सन्तुलन हो, तो जुकाम के आक्रमण को प्राकृतिक उपायों द्वारा टाला जा सकता है।

अति आहार बहुधा जुकाम को तीव्र बनाता है। अत: उपवास अथवा आहार नियंत्रण द्वारा या तो जुकाम को टाला जा सकता है अथवा उसकी तीव्रता को कम किया जाता है। जैसे ही रोग के प्रारंभिक लक्षण दिखें, एक समय का भोजन टाल दें, नेति-कुंजल करें तथा कुछ ऊर्जावर्द्धक प्राणायाम का अभ्यास करें। तत्पश्चात् अदरक, काली मिर्च तथा दालचीनी की चाय लेकर विश्राम करें। संभव हो तो मौन रह कर बातचीत द्वारा होने वाली ऊर्जा क्षय को रोकने का प्रयास करें। यदि उपर्युक्त सावधानियाँ बरती जाएँ तो जुकाम की रोकथाम हो सकती है और तीव्रता में निश्चय ही कमी आती है। जब बहुत तीव्र लक्षण हों तो इस प्रारम्भिक चरण में जुकाम छूत के रोग की भाँति फैलता है। ऐसी स्थिति में एकांतवास और विश्राम आपके तथा दूसरों के लिए भी लाभदायक सिद्ध होंगे।

रोग की अवस्था में भारी आहार और शारीरिक परिश्रम बन्द न करें तो हालत गंभीर हो सकती है। एस्प्रीन आदि लेकर सामान्य कार्यकलाप चलाते रहे तो जुकाम अपने भयंकर रूप में आ सकती है और यह अवस्था बेरोकटोक पाँच-छह दिनों तक रह सकती है।

अनेक अवस्थाओं में जुकाम का दौर हल्का होता है और रोगी अपने दैनिक कार्य पूर्ववत् करता रहता है। ऐसी स्थिति में रोज कुंजल और दो-तीन बार नेति का अभ्यास करने से नाक के अवरोधन दूर होते हैं, तथा खाँसी और अन्य तकलीफों में राहत मिलती है। यदि बुखार और अन्य शारीरिक गड़बड़ियाँ अनुभव हों तो बिस्तर में विश्राम करें और नीबू का रस डालकर एक गिलास कुनकुना जल हर दो घण्टे में लें। बुखार की अवस्था में कुंजल-नेति का निषेध है। योगनिद्रा और अन्तर्मौन के सिवाय अन्य योग साधना बन्द कर देनी चाहिए।

अन्य सुझाव

- जुकाम के दौरान फलों की प्रचुरता वाला हल्का सुपाच्य भोजन हितकर होगा, किन्तु कमजोरी होने पर तरल आहार लें तो अति उत्तम होगा। सामयिक सब्जियों (गाजर, आलू, धनिया पत्ती, काली मिर्च, अदरक) का गरम सूप लें, विटामिन ए और सी युक्त भोज्य पदार्थ लेना फायदेमन्द है।
- नाक के अवरोध में वाष्प लेने से फायदा होता है। इसमें सिर में हल्कापन अनुभव होता है तथा श्वास लेने में कोई कठिनाई नहीं होती। खाँसी, गले की खराश जैसी तकलीफ में गरम नमकीन जल में गरारे करना उपयोगी होगा।
- जुकाम की अवस्था में धूम्रपान बड़ा हानिकारक है, अत: इसे बन्द कर देना ही उचित होगा।
- यदि स्वस्थ अवस्था में ही क्षमतानुसार सूर्य नमस्कार का दैनिक अभ्यास करें तो खाँसी और जुकाम होने की सम्भावना घट जायेगी।

ब्रोंकाइटिस तथा इयोसीनोफीलिया

श्वसनी शोथ (ब्रोंकाइटिस), मुख्य श्वास नली एवं इसकी शाखाओं के संक्रमण (इन्फेक्शन) तथा सूजन इत्यादि को कहते हैं। यह अचानक शुरू होने वाले, अल्पकालीन रोग (एक्यूट) तथा लम्बे समय तक रहने वाले पुराने रोग (क्रॉनिक), दोनों रूपों में पाया जाता है। अक्सर इसकी शुरुआत सर्दी-जुकाम अथवा फ्लू इत्यादि से होती है, जो फैलते-फैलते निम्न श्वास नलिकाओं को भी ग्रस्त कर लेती है। इस बीमारी के प्रति प्रवणता बढ़ाने वाले अन्य कारक हैं–ठण्ढ, नमीयुक्त वातावरण, धुन्ध तथा धुआँयुक्त वायुमंडल तथा धूम्रपान। चिरकालीन मुख-श्वसन से भी अशुद्ध ठण्डी हवा श्वसनिकाओं तक बिना अनुकूलन के पहुँच जाती है तथा स्थानीय प्रतिरोधन क्षमता कम कर देती है। यह रोग सर्वाधिक अधेड़ एवं वृद्ध व्यक्तियों, बच्चों में तथा सभी धूम्रपान करने वाले व्यक्तियों में, चाहे वे किसी भी उम्र के हों, पाया जाता है।

ब्रोंकाइटिस के रोगियों की संख्या बहुत कम हो जाएगी यदि लोग उचित भोजन करें, तथा उनकी शरीर प्रणाली कफ तथा विषाक्त अपशिष्ट पदार्थों से दूषित न हो एवं वे ठीक ढंग से कपड़े पहने। ब्रोंकाइटिस जब भी होगी, उसके साथ अक्सर पेट की गड़बड़ी अथवा कब्ज होती है। इसका प्रारम्भ बदलते मौसम में बाहर की हवा लगने, गीले बदन में ठण्ढ पकड़ लेने अथवा शीत लगने से होता है।

जब अतिपाती (एक्यूट) रोग का पूर्ण इलाज किया जाए और वह धीरे-धीरे लम्बे समय तक भीतर सुलगता रहे तो वह क्रॉनिक कहलाने लगता है। यदि सामान्य जुकाम या शीत पर ध्यान न दे उसे चलने दिया जाए तो वह

नीचे उतरकर श्वसनियों तथा फेफड़ों को रोग्रगस्त कर ब्रोंकाइटिस अथवा निमोनिया या पीब पड़ना तथा अन्य गंभीर रोग उत्पन्न कर सकता है।

ब्रोंकाटिस के लक्षण

सूखी खाँसी तथा ऊपरी वक्ष में पीड़ा का अनुभव इत्यादि प्रारम्भिक लक्षण हैं। जैसे-जैसे रोग बढ़कर अन्य श्वसनिकाओं में फैलता जाता है, छाती में जकड़न सी महसूस होने लगती है, श्वसन में थरथराहट (व्हीजिंग) होती है तथा श्वास फूलने लगती है। इस प्रकार का लक्षण समूह कभी-कभी इयोसीनोफीलिया नामक रोग में भी मिलता है, जिसे 'व्हीजी ब्रोंकाइटिस' भी कहते हैं। यदि पुराने क्रॉनिक ब्रोंकाइटिस या एम्फाइसीमा के रोग के ऊपर से अतिपाती ब्रोंकाइटिस भी एक जटिलता के रूप में हो जाए तो कष्टपूर्ण श्वसन तथा श्वास का फूलना एक गम्भीर अवस्था तक जा सकते हैं।

ब्रोंकाइटिस की शुरुआत में श्लेष्मायुक्त कफ कम मात्रा में बनता है तथा आसानी से बाहर नहीं आता। कभी-कभी रक्त के छींटे भी दिखाई पड़ सकते हैं। एक या दो दिन के भीतर कफ गाढ़ा तथा पीबयुक्त होने लगता है। जैसे-जैसे श्वसन वृक्ष में संक्रमण नीचे उतरता है, मध्यम तीव्र बुखार चढ़ने लग जाता है। अधिकतर मरीज अगले चार से आठ दिनों के भीतर बिना गम्भीर अवस्था तक पहुँचे पूर्णत: स्वस्थ हो जाते हैं।

कभी-कभी यह रोग नियंत्रण से बाहर हो गम्भीर रूप धारण कर लेता है तथा श्वासों का फूलना या श्वास की अल्पता जैसे लक्षण बदतर होते जाते हैं, तथा बुखार बढ़ता जाता है। इससे यह प्रदर्शित होता है कि शरीर की जीवनरक्षक प्रतिरोधक क्षमता इतनी घट गई है कि रोग फेफड़े तथा वायुथैलियों तक में फैल गया है। रोग की इस अवस्था को निमोनिया के नाम से सम्बोधित किया जाता है। ऐसे रोगी की जीवनरक्षा सिर्फ एंटीबायोटिक्स की अधिक मात्रा से हो सकती है।

इयोसीनोफीलिया

इयोसीनोफीलिया का रोग निरूपण तब किया जाता है जब मरीज के रक्त में इयोसीनोफीलिया नामक रक्त कणों के प्रतिशत में वृद्धि हो जाए। इयोसीनोफिल श्वेत रक्त कणों का ही एक प्रकार है, जो अनेक रासायनिक प्रतिक्रियाओं के प्रदर्शन में मध्यस्थता करता है। इन कणों की संख्या में

वृद्धि, एलर्जी के रूप में मुख्यत: फेफड़ों को प्रभावित करती है तथा यह प्रभाव दमा से मिलते-जुलते रोग के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

अत: इयोसीनोफीलिया श्वसन तंत्र का एक ऐसा रोग है जिसके लक्षण ब्रोंकाइटिस तथा दमा (अस्थमा) दोनों से मिलते-जुलते हैं, तथा व्यक्ति विशेष जो इस रोग से पीड़ित है, उसे किसी एक निदानात्मक श्रेणी में रखने का निर्णय लेना अक्सर मुश्किल हो जाता है।

बहुधा समझा जाता है कि यह विकार श्वसन रोग की एक परिवर्ती अवस्था है, जब चिरकालिक सर्दी-जुकाम या ब्रोंकाइटिस का रोगी धीरे-धीरे अस्थमा की पूर्ण उन्नत अवस्था की ओर बढ़ रहा हो।

इयोसीनोफीलिया के कारण

ऐसा समझा जाता है कि यह विकार एक एलर्जिक प्रतिक्रिया है, जो अनेक बाह्य प्रोटीन तथा ओषधियों के शरीर में प्रवेश करने से होती है। विषुवतीय प्रदेशों में यह फाइलेरिया के रोगाणुओं या पेट के कीड़ों के प्रति एलर्जी के प्रकटीकरण के रूप में देखा जाता है। यह औद्योगिक इलाकों में भी बहुत आम है, जहाँ पर यह विश्वास किया जाता है कि प्रदूषण इसकी शुरुआत करने में मुख्य भूमिका निभाता है। यह रोग अक्सर बच्चों में तब पकड़ में आता है जब उनमें बार-बार या लगातार सर्दी-खाँसी के लक्षणों को देखते हुए उनके रक्त की जाँच की जाती है।

मेडिकल उपचार

इयोसीनोफीलिया का मेडिकल उपचार प्रभावहीन सिद्ध होता है। जब फाइलेरिया का संक्रमण शंकित हो तब डाइऐथिल कार्बेमेजाईन नामक ओषधि उपयोग की जाती है। लम्बे अन्तराल में यह ओषधि प्राय: प्रभावशून्य हो जाती है। जब भी कोई शुरुआती कारण हों, उन्हें शीघ्रातिशीघ्र बन्द कर देना चाहिए। बहुधा हल्के अस्थमा से इस रोग का प्रभेद नहीं किया जा सकता।

क्रॉनिक ब्रोंकाइटिस तथा इयोसीनोफीलिया का योगोपचार

यौगिक चिकित्सा द्वारा इन दोनों रोगों का काफी प्रभावी उपचार सम्भव है। पीड़ित व्यक्ति यौगिक क्रियाओं से न केवल तकलीफों से राहत पाता है, वरन् उसके कमजोर एवं अति संवेदनशील अंगों को भी शान्ति प्राप्त होती है।

हालाँकि तीव्र प्रारम्भिक लक्षणों के दौरान कोई भी आसन या क्रिया नहीं करनी चाहिए एवं पूर्ण विश्राम अति आवश्यक है। इस अवस्था के गुजरते ही धीरे-धीरे शक्ति अनुसार अभ्यास कार्यक्रम शुरू करें।

3. *आसन* – पवन मुक्तासन समूह से प्रारम्भ करें। कमजोर तथा अधिक आयु वाले व्यक्ति सिर्फ इसी अभ्यास समूह को तथा मकरासन कर सकेंगे। अन्य व्यक्तियों को सलाह दी जाती है कि उचित निर्देशन में निम्नलिखित आसनों में से क्षमतानुसार अभ्यास निर्धारित कर लें –
   शक्ति बंध समूह, सूर्य नमस्कार, वज्रासन तथा सम्बन्धित आसन समूह (शशांकासन, शशांक भुजंगासन, उष्ट्रासन, मार्जारी आसन, सुप्त वज्रासन), पाद हस्तासन, भुजंगासन, धनुरासन, कंधरासन, चक्रासन, पश्चिमोत्तानासन, अर्धमत्स्येन्द्रासन, पद्मासन, सर्वांगासन, हलासन, मत्स्यासन। सिंहासन विशेषत: अनुशंसित है। खड़े होकर एवं झुककर किये जाने वाले आसन, जिनमें त्रिकोणासन, हस्त उत्थानासन, द्विकोणासन, लोलासन इत्यादि आते हैं, सभी छाती को मजबूत बनाते हैं।
4. *प्राणायाम* – सभी प्राणायाम श्वसन मांसपेशियों एवं श्वसन क्षमता को प्रभावित कर उनकी क्षमता में वृद्धि करेंगे। विशेषत: उज्जायी, कपालभाति, भस्त्रिका तथा नाड़ी शोधन (तीसरी अवस्था तक), किन्तु अभ्यास धीरे-धीरे प्रारम्भ कर क्षमतानुसार तथा अत्यन्त सावधानीपूर्वक आगे बढ़ें।
5. *मुद्रा एवं बन्ध* – योगमुद्रा, प्राणमुद्रा तथा महाबन्ध।
6. *षट्क्रिया* – जल नेति का अभ्यास प्रतिदिन करें तथा कुंजल प्रतिदिन एक सप्ताह तक करें।
7. *शिथिलीकरण* – योग निद्रा से न केवल गहन शिथिलीकरण होता है, वरन् चेतना का भी विकास होता है। अक्सर क्रॉनिक ब्रोंकाइटिस के मरीजों में खाँसी लगातार आदत बनकर उनके व्यक्तित्व का एक हिस्सा बन जाती है। बहुधा देखा गया है कि शुरू में जब योग निद्रा का अभ्यास किया जाता है तो खाँसी ज्यादा उठती है। यह एक मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया है। जो व्यक्ति खाँसी का आदी हो गया हो, उसके लिए अवचेतन स्तर पर खाँसी तनावमुक्ति का जरिया बन जाती है। जब योग निद्रा करते समय सभी हरकतें तथा चेतन अभिव्यक्ति की क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं तब

खाँसी की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया प्रारम्भ होने से खाँसी की इच्छा तीव्र हो जाती है। रोगी शीघ्र ही अपने रोग को समझ उससे पार पा सकता है यदि वह मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से अपनी जीवनचर्या का अवलोकन कर इन सूक्ष्म कारकों की पहचान कर ले, तथा इनका प्रतिरोध कर अपना विकास करे।

8. *ध्यान* – खेचरी मुद्रा तथा उज्जायी श्वसन के साथ अजपा जप का अभ्यास, जिसमें चेतना को सामने की तरफ वाले चेतना पथ में नाभि से कण्ठ के बीच में घुमाया जाता है, सबसे अधिक प्रभावशाली पाया गया है। इससे शनैः-शनैः पुरानी खाँसी को पहचानने तथा उससे मुक्ति पाने में काफी सहायता मिलती है। साथ-ही-साथ श्वसन सम्बन्धी मांसपेशियों का भी विकास होता है।
9. *भोजन* – प्रारम्भिक दौरे में सिर्फ फलों का रस या सब्जियों का पानी लेना सबसे हितकारी होगा। तत्पश्चात् बार्ली वाटर (उबली जौ का पानी), पतली खिचड़ी तथा सब्जियों का सूप लिया जा सकता है। ठण्ढे खाद्य एवं पेय पदार्थों का सेवन न करें। हल्की उबली हुई या कच्ची सब्जियों का सेवन प्रचुर मात्रा में किया जा सकता है। प्याज, लहसुन, मूली तथा नीबू-संतरे इत्यादि फलों से कफ ढीला पड़ आसानी से बाहर आ जाता है। गर्म दूध में थोड़ी-सी अदरक तथा हल्दी डाल कर पीने से भी कफ आसानी से बाहर निकलता है। यह पेय रात्रि में सोने से पहले या भोजन के स्थान पर लिया जा सकता है।
10. *उपवास* – उपवास रोग के शीघ्र निवारण हेतु अत्यन्त उपयोगी उपाय है। यदि पूर्ण उपवास सम्भव न हो तो प्रतिदिन शाम का भोजन बन्द किये जाने की सलाह दी जाती है।

अन्य उपयोगी सुझाव

- अधिक तप्त, या घुटन भरे कमरे में न रहें, जहाँ वायु-संचार की व्यवस्था अपर्याप्त हो। छाती तथा गले को ढक कर गर्म रखें, किन्तु हमेशा खुली हवा के संचार का ख्याल रखें (खासकर सोते समय), शुष्कता से तथा ठण्ढे फर्श पर बैठने से परहेज करें।
- ब्रोंकाइटिस के रोगियों को सवेरे ठण्ढे पानी से स्नान नहीं करना चाहिए तथा दौरे के समय गर्म वाष्पयुक्त जल से स्नान करना चाहिए।

- खाँसी को दबाने या रोकने की चेष्टा न करें। यह श्वसन नलियों से खखार तथा संक्रमणयुक्त पदार्थों को बाहर निकालने का प्राकृतिक तरीका है। इस खखार की निष्कासन प्रक्रिया तीव्र करने हेतु बफारे लेना (भाप सूंघना), तथा छाती और पीठ की सेंक प्रभावकारी होती है। गर्म पानी के सेंक के अन्त में ठण्डे पानी से सेंक करें।
- धूम्रपान अवश्य त्याग दें, क्योंकि यह श्वसनियों की श्लेष्मा झिल्ली को बहुत उत्तेजित करता है। धूम्रपान छोड़े बिना कोई भी इलाज का तरीका क्रॉनिक ब्रोंकाइटिस या इयोसीनोफीलिया को ठीक करने में प्रभावहीन रहेगा।
- प्रतिदिन थोड़ा घूमना-फिरना स्वास्थ्यप्रद है। दिनभर थोड़े-थोड़े अन्तराल से गहरी-गहरी श्वासें लेनी चाहिए।
- रात्रि में सोने से पहले भाप लेना तथा गर्म पानी में एक चम्मच सरसों का तेल डालकर पैर धोना भी सहायक होते हैं।
- यदि व्यक्ति को श्वास लेने में बहुत तकलीफ हो तो हाथ और पैरों की सख्त मालिश हृदय की दिशा में करें।

दमा

दमा अथवा अस्थमा एक आम तथा काफी कष्टप्रद रोग है, जिसकी विशेषता बार-बार फेफड़ों की श्वसन नलियों का आकुंचन होना है, जिससे श्वास लेने में तकलीफ, दम घुटने की अनुभूति तथा खाँसी इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। श्वास-वायु के संकरी श्वास-नलियों में अधिक वेग से प्रवेश करने पर सीटी की भाँति स्वर उत्पन्न होते हैं, जिसे व्हीजिंग कहते हैं। श्वास-नलिकाएँ संकुचित तथा अवरुद्ध हो जाती हैं। इस अवरोधन का कारण अत्यधिक मात्रा में गाढ़े म्यूकस (श्लेष्मा) का स्राव होता है।

दमा का दौरा कुछ मिनटों से लेकर कुछ घण्टों या दिनों तक भी चल सकता है और रोगी को शारीरिक, मानसिक तथा भावनात्मक रूप से परिक्लान्त अवस्था में छोड़ जाता है। अत्यन्त उग्र रोग लक्षणों की अवस्था, जिसे सतत् दमा अथवा स्टेटस अस्थमेटिक्स कहते हैं, रोगी के लिए जानलेवा सिद्ध हो सकता है।

दमा का दौरा

दमे का दौरा रोगी तथा उसके परिवार, दोनों के लिए एक भयावह तथा थका देने वाला अनुभव होता है। वास्तविक दौरा आने के कुछ घण्टों पूर्व से ही लाक्षणिक आभास होने लगता है। यह पूर्वाभास प्रत्येक व्यक्ति विशेष के लिए हमेशा एक-सा तथा चिर-परिचित होता है। दौरा सामान्यत: भावनात्मक या मनोवैज्ञानिक तनाव, परिश्रम अथवा खान-पान की गड़बड़ी से अवक्षेपित होता है। एक बच्चे में दौरा आने के पूर्व हल्की सीटीनुमा व्हीजिंग सुनाई पड़ती है तथा व्यवहार-परिवर्तन के रूप में आभासी लक्षण प्रकट होते हैं।

वह चिड़चिड़ा हो जाता है तथा छोटी-सी बात पर भी रोना प्रारम्भ कर देता है अथवा वह चुप, सुस्त तथा अन्तर्मुखी भी हो सकता है। कभी-कभी त्वचा पर दाने उभर सकते हैं तथा चेहरा एवं ओठ सूज जाते हैं। ये इस बात को प्रदर्शित करते हैं कि भावनात्मक तथा प्रतिरोधी तनाव इस हद तक प्रबल हो गया है कि विस्फोट की चरम स्थिति सन्निकट है।

अधिकतर दमा पीड़ितों में अचानक सर्दी-खाँसी के लक्षण उभर आते हैं – नाक का बन्द होना या नासिका में कष्ट की अनुभूति, छींकने के दौरे, इत्यादि। ये सभी लक्षण यह प्रदर्शित करते हैं कि किसी मनोभावनात्मक अथवा बाह्य वातावरण के प्रभाव से नासिका की श्लेष्मा झिल्ली में सूजन आती जा रही है तथा स्राव की प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी है। जैसे ही दौरा प्रारम्भ होता है, श्वास की अल्पता महसूस होने लगती है तथा श्वास फूलने लगती है, जिससे रोगी को काफी अधिक कष्ट तथा परेशानी महसूस होती है। जैसे-जैसे श्वसन में होने वाली कठिनाई बढ़ती जाती है, इस अनुभूति में भी वृद्धि होती जाती है। म्यूकस अधिक मात्रा में तथा चिपचिपा एवं गाढ़ा होकर जमने लगता है तथा इसी कफ के साथ खाँसी भी प्रारम्भ हो जाती है।

श्वास नलिकाओं के आकुंचन के फलस्वरूप वायु भीतर खींचने में दिक्कत तो होती है, उस वायु को बाहर निकालने में और भी अधिक कठिनाई होती है। अत: श्वास बाहर निकालने में लगातार मांसपेशीय बल लगाना पड़ता है और ऊपर से गाढ़े चिपचिपे म्यूकस से श्वास पथ अवरूद्ध हो जाता है। अत: वायु निष्कासन करने हेतु श्रम के परिमाण में वृद्धि हो जाती है और इतनी कोशिशों के बावजूद भी पूरी हवा बाहर नहीं निकल पाती। फलस्वरूप छाती और फेफड़े आयतन में फूलने लगते हैं। रोगी प्रश्वसन दबाव बनाये रखने के लिए होठों को सिकोड़ कर सीटी-सा बजाते हुए धीरे-धीरे वायु को निकालता है।

जैसे-जैसे दौरा बढ़ता है, ऑक्सीजन की कमी से व्यक्ति की श्लेष्मा झिल्लियों का रंग नीला पड़ने लगता है। बिना उपचार के यह दौरा एक दुर्दम्य चक्र की भाँति चलता जाता है। जितनी अधिक देर तक रोगी श्वास लेने के लिए जूझता है, दौरा उतना ही लम्बा तथा उतना ही तीव्र तथा कष्टप्रद होता है। जितना प्रचण्ड दौरा होगा, उतना ही व्यक्ति व्यथित तथा परेशान होगा तथा उसके लिए शिथिल होना उतना ही मुश्किल होगा। यह प्रक्रिया

एक चरम बिन्दु पर पहुँच कर अपने आप धीमी पड़ जाती है तथा सामान्य श्वसन प्रक्रिया चालू हो जाती है। यह तथ्य इस रोग की अनूठी मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक प्रकृति की एक झलक दिखाता है।

लम्बी अवधि की जटिलताएँ

बीमारी की कालावधि बढ़ने के साथ-साथ जटिलताओं में भी वृद्धि होती है। शरीर दुर्बल तथा कृषकाय होता जाता है। दमा पीड़ित बच्चे अपने हमउम्र साथियों से वजन तथा ऊँचाई में पिछड़ जाते हैं। इसके अलावा अंगविन्यास की विकृतियाँ, जैसे – पसली पिंजर का स्थायी फैलाव, झुके कन्धे तथा पीठ का कूबड़ा सदृश उभार जैसी विकृतियाँ लम्बी अवधि के दमा से उत्पन्न हो जाती हैं।

सम्पूर्ण सक्रिय जीवन जीने की तथा सामान्य सामाजिक तथा व्यक्तिगत सम्बन्धों को बनाए रखने की क्षमता में कमी आने से दमे का रोगी एक अत्यन्त सुरक्षित जीवन अपनाने के लिए बाध्य हो जाता है, जिस पर अनगिनत प्रतिबन्ध लगे होते हैं। कई बार तो वह अपनी तथा परिवारजनों की इस मानसिकता पर अचेतन रूप से इतना निर्भर हो जाता है कि कमजोर बीमार पात्र की भूमिका अदा करने का अनुषंगी लाभ उठाना उसे अच्छा लगने लगता है। उसे खास ओषधियाँ लेनी होती हैं, खेलकूद तथा बाह्य क्रियाकलापों से परहेज करना होता है। अत: वह रोग के जाल में उत्तरोत्तर फँसता जाता है तथा रोग के प्रति उसका प्रतिरोधन क्षीण होने लगता है।

दमे का कारण

दमे का कारण बहुक्रमगुणित है। मनोवैज्ञानिक, अनुवांशिक तथा एलर्जिक इत्यादि कई कारण आरोपित किए जाते हैं तथा वे आपस में विविध मात्राओं में एक-दूसरे से मिले-जुले रहते हैं, जिनका अनुपात एक रोगी से दूसरे रोगी में भिन्न होता है। मनोवैज्ञानिक स्तर पर नकारात्मक भावनाओं, जैसे – ईर्ष्या, क्रोध, विद्वेष, घृणा इत्यादि का प्रतिबन्धन अथवा दमन अक्सर एक अवक्षेपी कारण होता है। वैसे ही अकेलापन, प्रेम पाने की चाह, भावनात्मकता, अतिसंवेदनशीलता, ठुकराए जाने का भय एवं झिझक, इत्यादि जीवन के अनेक पहलू भी इससे जुड़े हैं। योग के द्वारा दमे की चिकित्सा में ये कारक अचेतन की गहराई से निकाल कर चेतन मन के स्तर

पर लाए जाते हैं। रोगी उन्हें पहचान कर, स्वीकार कर धीरे-धीरे उनका विलय करना सीख जाता है।

दमा किसी भी उम्र में हो सकता है, मगर यह विशेषत: बच्चों तथा किशोर युवकों में आम है। शुरूआत क्रमश: या अचानक हो जाती है। दमे के रोगियों से अक्सर यह सुनने में आता है कि रोग बचपन, किशोरावस्था या वयस्क उम्र में किसी दुर्घटना, अस्वीकरण या व्यक्तिगत सुरक्षा पर गम्भीर आक्षेप के पश्चात् अपने आप शुरू हो गया। उदाहरण के तौर पर माता, पिता या पुत्र के निधन या विछोह, या किसी नौकरी अथवा सुयोग की समाप्ति इत्यादि।

एक अन्य कारक है किसी एलर्जी उत्पन्न करने वाले पदार्थ का प्रभाव। ये पदार्थ हैं – ओषधियाँ, विभिन्न प्रकार की धूल, जानवरों के बाल, पक्षियों के पंख, वातावरण या वायुमण्डलीय प्रदूषण इत्यादि।

दमा बदलते हुए मौसम के दौरान भी उभर सकता है तथा दौरे की आवृत्ति ठण्ड तथा उष्णकटिबन्धीय क्षेत्रों में वर्षा के मौसम में बढ़ जाती है। छींक पर छींक आना, परागज (हेइ फीवर), व्हीजी ब्रोंकाइटिस या इयोसीनोफीलिया कालान्तर में दमा के रूप में परिवर्तित होते देखे गए हैं। इयोसीनोफीलिया को वास्तव में शुरुआती दमा कहा जा सकता है, जो यह दर्शाता है कि शरीर की आत्मरक्षक प्रतिरोधन प्रणाली किसी बाह्य कारक के विरोध में उद्दीप्त हो रही है। यह कारक – मानसिक आशंका, भयोत्पादक परिस्थिति या भौतिक एलर्जी पदार्थ, जैसे, औद्योगिक धूम्रोत्पाद या डीजल का धुँआ इत्यादि हो सकते हैं।

अस्वस्थ भोजन एवं जीवनचर्या भी दमा उत्पन्न करने में भूमिका निभाते हैं, जैसे – अल्पअवशेषी श्लेष्मा उत्पादक भोज्य पदार्थ, परिशुद्ध कार्बोहाइड्रेट युक्त पदार्थ, जैसे – ब्रेड, केक, घी, तैलीय भोजन, दूध तथा दूध से बने पदार्थ इत्यादि। इनके अलावा फलों, सब्जियों तथा प्राकृतिक अनाजों का प्रयोग कम करना भी एक कारण माना जाता है। इस प्रकार का भोजन म्यूकस तथा कफ तो बढ़ाता ही है, वरन् दमे के रोगी के पहले से ही कमजोर पाचन संस्थान पर अत्यधिक बोझ डालता है।

दमा में अनुवांशिक कारक भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए देखे गए हैं, क्योंकि अक्सर देखा जाता है कि यह रोग परिवार में एक से दूसरी पीढ़ी में पैतृक ढंग से चलता है। यहाँ तक कि कई बार परिवार में दमे की नहीं तो

किसी अन्य मनोकायिक, एलर्जिक या अतिसंवेदनशीलता वाली बीमारी के प्रति प्रवणता रहती है। उदाहरण के लिए, एक्जीमा। दमा एक ऐसी बीमारी है जो शरीर की ऊर्जा किसी भी कारण से कम होने पर अवक्षेपित हो सकती है। उदाहरण के रूप में कमजोर पाचन शक्ति एवं चिरकालिक कब्ज के द्वितीयक प्रभाव से दमा उत्पन्न होता देखा गया है।

मनोवैज्ञानिक कारण

सामान्यत: दमा पीड़ित रोगी वह व्यक्ति होता है जो बचपन में किसी वेदनापूर्ण बिछोह, अभाव या क्षति की परिस्थिति से गुजरा हो और जिसे वह अचेतन स्तर पर स्वीकार नहीं कर पाया हो, भले ही चेतन धरातल पर उसने उस परिस्थिति से समझौता कर लिया हो। उदाहरण के लिए, एक छोटे बच्चे को अपनी माता के संरक्षण से वंचित कर अकेले पूरी दुनिया का सामना करने के लिए छोड़ दिया जाए तो वह किसी और पर भरोसा करना नहीं सीख सकता, क्योंकि किसी के निर्देशन में पलने वाले व्यक्ति के मन में यह बात बैठ जाती है कि वह उस पर क्यों विश्वास करे जिसने उसे इतना बड़ा अस्वीकरणीय एवं वेदनात्मक झटका दिया है। फलस्वरूप वह बड़ा होकर अपनी या अपने आधिपत्य की वस्तुओं के प्रति अत्यधिक संवेदनशील हो जाता है, क्योंकि उसे डर बना रहता है कि कहीं फिर से उसकी सबसे प्रिय वस्तु निर्दयतापूर्वक उससे छीन न ली जाए।

यदि बच्चा अपनी माँ की वृहद् सुरक्षा से वंचित रह जाता है तो वह अपने आपको किसी भी वास्तविकता से वंचित महसूस करने लगता है। फलत: वह हर चीज को पकड़ना चाहता है जो उसके जीवन को अर्थ प्रदान करे, और श्वास इसके जीवन की सबसे अर्थपूर्ण वस्तु है।

अत: हर बार मनोवैज्ञानिक या वातावरणीय कारकों के आक्षेपन के होते ही वह अपनी श्वास को पकड़ने की कोशिश करता है। और विरोधाभासी रूप से जैसे-जैसे उसको घबराहट महसूस होती है वह श्वास को और अधिक पकड़ने की कोशिश करता है तथा स्थिति बद से बदतर होती जाती है। यह घटनाक्रम जितना शारीरिक है उतना ही मनोभावनात्मक भी। रोगी को महसूस होता है कि वह बिना किसी सहारे के अकेला ही अपने अस्तित्व के लिए लड़ रहा है, और यही तथ्य उसकी श्वास से प्रतीकात्मक रूप में दृष्टिगोचर होता है।

दमा के सम्पूर्ण इलाज के लिए यह बहुत आवश्यक है कि वह हृदय खोलकर अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करें तथा विश्वास जाग्रत करे।

ओषधियों की भूमिका

चिकित्सा विज्ञान द्वारा कई शक्तिशाली ओषधियों का आविष्कार किया गया है, जो दमा के दौरे के लक्षणों को प्रभावी रूप से नियंत्रित करने में सक्षम हैं तथा दौरे की संख्या में भी बहुत कमी लाती हैं।

मगर उनसे बीमारी का सम्पूर्ण इलाज होना सम्भव नहीं है, बल्कि कई बार तो दवाओं, विशेषत: स्टीरॉयड्स के प्रयोग के पश्चात्, रोगी पहले की अपेक्षा अधिक कमजोर तथा रुग्ण महसूस करने लगता है। व्यक्ति मनोवैज्ञानिक तथा कभी-कभी भौतिक रूप से भी ओषधियों पर निर्भर हो जाता है। अधिकतर दमा पीड़ित व्यक्तियों को बिना ओषधियों का सहारा लिए किसी भी विषम परिस्थिति का सामना करने में भय लगता है।

यौगिक चिकित्सा का प्रथम सोपान है रोगी को यौगिक अभ्यासों द्वारा रोग पर काबू रखने की स्वयं की क्षमता पर विश्वास कराना, इससे शनैः-शनैः ओषधियों पर निर्भरता खत्म होने लगती है।

दमा निरोधी ओषधियों का सेवन बिना उचित निर्देशन के एकाएक बन्द नहीं करना चाहिए, क्योंकि कई बार ऐसा होता है कि ओषधियों के प्रभाव से दबा हुआ रोग पुन: उखड़ जाता है। ओषधियों की मात्रा का नियमन आश्रम में या किसी अस्पताल में सबसे सुरक्षित ढंग से किया जा सकता है, विशेषत: जब व्यक्ति स्टीरॉयड्स पर निर्भर रहता हो, जो न केवल शरीर के अन्त:स्रावी तंत्र को दमित कर भौतिक निर्भरता या लत उत्पन्न करते हैं, वरन् अत्यन्त गम्भीर पार्श्व प्रभाव भी डालते हैं। इन ओषधियों को अत्यन्त गंभीर रोगियों के अलावा अन्य लोगों द्वारा उपयोग में नहीं लाना चाहिए।

दमा का यौगिक उपचार

यौगिक उपचार का महत्त्वपूर्ण पक्ष है – शक्तिविहीन तथा अवरुद्ध प्राण-ऊर्जा को मुक्त कर नाड़ियों का पुनरुज्जीवन। इस लक्ष्य की प्राप्ति शनैः-शनैः योगासन, प्राणायाम तथा षट्क्रियाओं के अभ्यास के माध्यम से की जाती है। इन अभ्यासों को आश्रम में कुछ दिन रह कर सीखना चाहिए तथा दृढ़तापूर्वक अभ्यास द्वारा ही पूर्ण और दीर्घकालिक ओषधिविहीन स्वास्थ्य संभव है।

इस प्रकार दमा से कम-से-कम समय में मुक्ति प्राप्त होगी। जिन दमा रोगियों में कब्ज बनी रहती है, उन्हें रोग से दीर्घकालीन आराम मिलना अथवा पूर्ण रोगमुक्ति सम्भव नहीं है। ऐसे लोगों में बीमारी को जड़ से खत्म करने हेतु सर्वप्रथम कब्ज को हटा कर जठराग्नि बढ़ाने का प्रयास करना चाहिए। इस प्रकार अन्तर्निहित मन्द ऊर्जा की प्रवृत्ति पर नियंत्रण पाया जा सकता है, जो व्यक्ति को दमा के प्रति प्रवण बनाती है। कब्ज सिर्फ आँतों की समस्या नहीं है, वरन् मन की भी स्थिति है। मल के अधोप्रवाह से सूखी, कड़ी व जमी हुई मनोभावनात्मक ऊर्जा की भी स्वयं मुक्ति हो जाती है। निम्नलिखित अभ्यास आँतों, फेफड़ों और मन, तीनों की कब्ज दूर करते हैं।

1. *सूर्य नमस्कार* – इसका अभ्यास धीरे-धीरे एवं श्वास की सजगता के साथ करें। सूर्योदय के समय 7 चक्र तक अभ्यास बढ़ायें।
2. *आसन* – जिनके शरीर के जोड़ कड़े हैं, वे सर्वप्रथम पवनमुक्तासन श्रृंखला का अभ्यास कुछ हफ्तों तक करें। तत्पश्चात् निम्न का अभ्यास सामर्थ्यानुसार करें – हस्तोत्तानासन, द्वि-कोणासन, मार्जारी-आसन, शशांकभुजंगासन, धनुरासन, प्रणामासन, कंधरासन, मकरासन, गोमुखासन, सर्वांगासन, मत्स्यासन, सिंहासन, बद्धपद्मासन, लोलासन, तोलांगुलासन, परिवृत्त जानुशीर्षासन।

   ये आसन छाती को निर्मित करते तथा अंगविन्यास में सुधार लाते हैं, रीढ़ की हड्डी को तथा मांसपेशियों को मजबूत बनाते हैं। इनके अभ्यास से अवरुद्ध स्नायविक ऊर्जा का प्रवाहवर्द्धन होगा तथा सम्पूर्ण शरीर सुगठित एवं पुनर्सन्तुलित हो जायेगा। सभी आसनों का अभ्यास श्वास एवं शरीर की सम्पूर्ण जागरूकता के साथ करनी चाहिए।
3. *प्राणायाम* – इस महत्त्वपूर्ण क्रिया से सम्पूर्ण स्नायविक तंत्र शक्तिशाली बनता है तथा क्षीण और असन्तुलित स्वचालित तंत्रिका तंत्र में पुन: सन्तुलन स्थापित होता है। इससे श्वसन प्रणाली पर ऐच्छिक नियंत्रण भी बढ़ता है। जिसके लाभ स्वरूप दमे के दौरे को टाला जा सकता है। नाड़ी शोधन प्राणायाम से श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया के प्रति सजगता एवं उन पर नियंत्रण बढ़ता है। कुंभक व जालंधर बन्ध के साथ भस्त्रिका करने पर फेफड़ों की शक्ति बढ़ती है तथा श्वसन क्षमता में वृद्धि होती है। प्राणायाम के नियमित अभ्यास से दमे का रोगी अपनी श्वास के प्रति उत्तरोत्तर सजग

बनता जाता है एवं स्वाभाविक ढंग से ही वह अपने विचार, भावनाओं एवं मन:स्थितियों के प्रति भी अधिक सजग होने लगता है।

4. *षट्क्रियाएँ*– उपचार का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू यही है। नमकीन गर्म पानी द्वारा नासिका, श्वसनी वृक्ष, पेट तथा निम्न पाचन पथ की श्लेष्मा झिल्ली में जमे हुए गाढ़े म्यूकस (श्लेष्मा) को द्रवीभूत करने और निष्कासित करने में बहुत सहायता मिलती है। नेति तथा कुंजल का अभ्यास सुबह किसी अन्य साधना के पूर्व करना चाहिए।

   कुंजल क्रिया के अभ्यास से दमे के दौरे को समाप्त किया जा सकता है। स्नायविक ऊर्जा के जमा होने से, जो प्रस्फुटन की स्थिति दौरे के रूप में दृष्टिगोचर होती है, उसका पेट से पानी बाहर फेंकने में परिशमन कर दिया जाए, तो दौरे को आने से पहले ही टाला जा सकता है। श्वसनी वृक्ष की अनैच्छिक मांसपेशियों का स्नायविक आकुंचन वैगस नाड़ी की प्रत्यावर्ती क्रिया द्वारा मुक्त हो जाता है। वस्त्र धौति एक अन्य उत्तम अभ्यास है, मगर प्रयोग केवल विशेषज्ञ के मार्गदर्शन में करना चाहिए।

   नेति क्रिया से नासिका पथ के अवरोध दूर होते हैं तथा नासिका से श्वसन आसान हो जाता है। नासिका की श्लेष्मा झिल्ली द्वारा एलर्जिक और अतिसंवेदनशीलन प्रतिक्रियाओं के माध्यम से स्वचालित तंत्रिका तंत्र के स्नायु उत्तेजित होते हैं, इसी से अस्थमा का दौरा अवक्षेपित होता है। नेति के अभ्यास से पूरी प्रक्रिया को टाला जा सकता है।

   शंखप्रक्षालन दमे के रोगी की खोई हुई पाचन शक्ति को लौटाने में तथा कब्ज को हटाने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। पूर्ण शंखप्रक्षालन का प्रारूप काफी लम्बा तथा कुछ हद तक थकाने वाला साबित हो सकता है, अत: इसका अभ्यास केवल एक बार उपचार के शुरू में ही किसी आश्रम के अनुभवी मार्गदर्शन में करना चाहिए। लघु शंखप्रक्षालन का अभ्यास प्रात: एक दिन के अन्तराल से इस प्रकार एक हफ्ते तक किया जा सकता है। तदुपरांत जब कभी भी कब्ज महसूस हो, तो अभ्यास की पुनरावृत्ति करें।

5. *शिथिलीकरण*– योग निद्रा दमा के दौरे को विसारित करने का एक प्रभावी माध्यम है। यह मानसिक शिथिलीकरण की अवस्था उत्पन्न करने में सहायक है, जिसमें यौगिक आत्म-विश्लेषण किया जा सकता है। इसका अभ्यास

प्रतिदिन करें और यदि पूर्ण अभ्यास के लिए समय न हो तो शवासन में लेटकर मात्र उदर श्वसन की चेतना बनाए रखने का अभ्यास करें।

यह अभ्यास दमे के रोगी को अपनी बार-बार उखड़ने वाली असामान्य श्वास से अधिक परिचित बना कर उसे सामान्य अवस्था में लाने में मदद करेगा।

6. *ध्यान*– अजपा जप गले से नाभि तक सामने वाले अतीन्द्रिय श्वास पथ में 'सोऽहं' मंत्र के साथ श्वास को ऊपर-नीचे घुमाने का अभ्यास है। इस अभ्यास से श्वास धीमी एवं उन्मुक्त होती है, जिससे अवचेतन की गहराई में छिपे रोग को जन्म देने वाले संस्कार उभर कर सतह पर आते हैं। यह इलाज का अत्यावश्यक भाग है, जिससे व्यक्ति उन कारणों को पहचानना और स्वीकार करना सीख जाता है, जिन्हें वह लम्बे समय से दमित किए हुए था।
7. *भोजन*– सादा, पोषक एवं गैर उत्तेजनात्मक भोजन करें, जिसमें काफी मात्रा में ताजे फल, हल्की उबली सब्जियाँ, खासकर हरी सब्जियाँ समाविष्ट हों। मांस और अंडे के स्थान पर अनाज एवं दाल लें। श्लेष्मा उत्पादक पदार्थ, जैसे– चावल, मिठाइयाँ, दूध से बने पदार्थ, मैदा इत्यादि का सेवन बिल्कुल न करें। भारी, तेलयुक्त तथा सूखे मेवे इत्यादि का सेवन बिल्कुल न करें। भारी, तेलयुक्त तथा सूखे मेवे इत्यादि पदार्थ गरिष्ठ होते हैं तथा पहले से ही कमजोर पाचन-तंत्र पर आवश्यकता से अधिक भार डालते हैं। रासायनिक प्रक्रिया से गुजरे, कृत्रिम स्वाद-गंध युक्त तथा डिब्बे-बन्द सभी भोज्य पदार्थों के साथ-साथ ऐसे भोज्य पदार्थों का भी सेवन कभी नहीं करना चाहिए, जिनसे एलर्जिक प्रतिक्रिया हो। तुलनात्मक रूप से भारी अथवा मुख्य भोजन दोपहर में करें तथा शाम को संक्षिप्त हल्का भोजन लें। सुबह के नाश्ते में सिर्फ फलों का रस अथवा कुछ दिनों तक सिर्फ फलाहार लेना श्रेयस्कर होता है।

गर्म मसाले, जैसे– मिर्च, काली मिर्च, लहसुन तथा अदरक इत्यादि लेने की सलाह दी जाती है, विशेषत: सर्दी के मौसम में जब शरीर में कफ की मात्रा बढ़ जाती है।

8. *उपवास*– यदि पूर्ण उपवास सम्भव न हो तो, शाम का भोजन छोड़ देना एक अच्छी आदत है तथा उसके स्थान पर एक गिलास गर्म पानी में आधा नीबू निचोड़ कर दो चम्मच शहद डालकर लें या जड़ी-बूटी युक्त चाय

(नींबू, घास, तुलसी, अदरक एवं काली मिर्च) अथवा काढ़ा, जो गर्मी उत्पन्न करने वाले मसालों (अदरक, काली मिर्च, दालचीनी, इलायची, तुलसी एवं बनफ्शा) को उबालकर बनाया जाता है। काढ़ा बनाने के लिए पानी में ये सभी डालकर तब तक उबालें, जब तक घोल की मात्रा आधी रह जायें। तदुपरान्त पीने के ठीक पहले शहद मिलाया जा सकता है।

अन्य सुझाव

- जैसे ही महसूस हो कि दौरा पड़नेवाला है, रोगी को भोजन बन्द कर देना चाहिए। दवाओं तथा इन्हेलर की सुरक्षा लेने हेतु भागने की बजाय कुंजल क्रिया का अभ्यास करना चाहिए। यदि भोजन किये हुए कुछ ही समय गुजरा है, तो व्याघ्र क्रिया का अभ्यास करें। तदुपरान्त उसे नेति क्रिया का अभ्यास करना चाहिए और शवासन में लेटकर उदर श्वसन में चेतना को लगाये रखने का अभ्यास करें। इससे मन एवं श्वास के बीच एक सम्बन्ध बना रहता है। अतीन्द्रिय स्तर पर दमा के दौरे में जो चेतना से श्वास की विगलता उत्पन्न होती है, इस अभ्यास से उस अनुभव को टाला जा सकता है।
- शारीरिक स्वास्थ्य का विकास करना चाहिए तथा अत्यधिक चर्बी तथा वजन को कम करना चाहिए, क्योंकि मोटापे से श्वसन की तकलीफ और बढ़ जाती है। तैरना दमे के रोगियों के लिए एक उत्तम कसरत है। नियन्त्रित मात्रा में दौड़ना तथा जॉगिंग भी सहायक होते हैं। इनको कभी भी प्रतिस्पर्धात्मक रूप से न करें, वरन् इनकी सहायता से नैसर्गिक श्वास एवं मंत्र की चेतना का विकास करें।
- रोज सुबह ठण्ढे पानी से स्नान करें, विशेषत: गरदन और कंधों पर ठण्ढा पानी डालें।
- एक प्लेट में कच्ची प्याज एवं लहसुन की पतली-पतली चपटी स्लाइस काट लें तथा प्रत्येक टुकड़े पर शहद फैला दें। इसे एक उल्टी तश्तरी से ढक कर रात भर रखा रहने दें। जो द्रव बने, उसे दिन में चार बार एक-एक चम्मच लें।

साइनोसाइटिस और परागज ज्वर

साइनोसाइटिस और परागज ज्वर (हे फीवर) पीड़ादायक स्थितियाँ हैं, जो संवेदनशील व्यक्तियों में प्रत्येक वसंत या वर्षा ऋतु में उत्पन्न होती हैं। चिकित्सा वैज्ञानिकों के दृष्टिकोण से ऊपरी श्वसन प्रदेश में अव्यवस्था का कारण शरीर की प्रतिरक्षा प्रणाली में विषाणुओं अथवा दोषों का होना है। योग विज्ञान के अनुसार इसका निहित कारण शरीर में कफ तत्त्व की अधिकता है।

साइनोसाइटिस

साइनोसाइटिस गालों एवं ललाट की हड्डियों की साइनस गुहाओं में जलन या दाह की स्थिति है। ये गुहाएँ श्लेष्मा झिल्ली से ढकी होती हैं, जो नासिका मार्गों तक जाती है। ठण्ढ के दौरान साइनस के सँकरे प्रवेश मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं तथा सिर में दर्द और भारीपन का अनुभव होता है। साथ ही गालों की हड्डियों एवं ललाट पर सूजन भी आती है। कभी-कभी साइनस में होने वाला यह दर्द इतना तीव्र होता है कि इसके कारण आँखों में भी दर्द होने लगता है। ठण्ढ के साथ ही इन सभी लक्षणों के समाप्त होने में लगभग एक सप्ताह का समय लगता है, जिसमें विश्राम एवं उपयुक्त सावधानी की आवश्यकता पड़ती है।

दीर्घकालिक साइनोसाइटिस

साइनोसाइटिस एक दीर्घकालिक स्थिति बन सकती है और इसे समाप्त होने में लगभग दो सप्ताह, एक महीना या और भी अधिक समय लग सकता है।

ऐसा प्राय: उस समय होता है जब तीव्र ठण्ड लगने की स्थिति में लापरवाही की जाती है, भोजन की गलत आदतें चलती रहती हैं और कब्ज के कारण विषाक्त तत्त्वों के निष्कासन की प्रक्रिया बन्द हो जाती है। परिणामस्वरूप जीवाणु संक्रमण तथा कफ उत्पादन होने लगता है एवं निम्न श्वसन मार्ग में रोग के लक्षण दिखाई पड़ने लगते हैं। चेहरे एवं ललाट की सूजन तो प्राय: दूर हो जाती है, किन्तु अवरुद्ध एवं संक्रमित साइनस से नाक के सामने एवं पीछे के भागों में कफ का प्रवाह जारी रहता है। साथ-ही-साथ नासिका अवरुद्ध रहने लगती है एवं बार-बार सिर दर्द होने लगता है। ये सभी रोग के प्रमुख लक्षण हैं।

पुराने साइनोसाइटिस में संक्रमण जड़ जमा लेता है। इस स्थिति में चिकित्सा की परम्परागत प्रणालियों द्वारा काबू पाना अत्यन्त कठिन और कष्टदायी हो जाता है। पुनर्संक्रमण की समस्याओं के अलावा पुराना साइनोसाइटिस अन्य श्वसन रोगों का स्थायी स्रोत बन जाता है।

पुराने जुकाम, बार-बार होने वाले सिर दर्द एवं निरन्तर बने रहने वाले साइनोसाइटिस का प्रमुख कारण स्नायविक तनाव एवं भावनात्मक असन्तुलन है। चिकित्सकों ने पता लगाया है कि छींक एवं नासिका से सम्बन्धित तकलीफों का भावनात्मक असन्तुलन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। इस प्रकार के साइनस सम्बन्धित कष्टों में योग चिकित्सा द्वारा तेजी से सुधार होता है।

परागज ज्वर (हे फीवर)

परागज ज्वर का साइनोसाइटिस के साथ निकट का सम्बन्ध है। यह अनेक लोगों को प्रत्येक वर्ष लगभग एक ही समय और प्राय: अचानक होता है। इसमें छींक, नासिका में गुदगुदाहट एवं श्वास-नलिकाओं में तकलीफ होने लगती है। सारे लक्षण सर्दी जैसे ही होते हैं, किन्तु उनकी तीव्रता अधिक होती है। आँखें आँसुओं से भर जाती है और नासिका की श्लेष्मा-झिल्ली और साइनस में बहुत अधिक सूजन और उत्तेजना होने लगती है। सिर में दर्द एवं श्लेष्मा का अत्यधिक बहाव भी होने लगता है।

चिकित्सा वैज्ञानिकों ने परागज ज्वर का वर्गीकरण करते हुए लिखा है कि यह एक प्रत्युर्जता (एलर्जी) है, जो श्वास द्वारा पराग या घर की धूल जैसी उत्तेजक वस्तुओं के अन्दर जाने से उत्पन्न होती है। यह भोजन द्वारा कुछ

प्रत्यूर्जकों, जैसे – चाकलेट, दूध, केला, नारंगी आदि के ग्रहण करने से भी उत्पन्न हो सकती है। किन्तु यौगिक दृष्टिकोण के अनुसार यदि हमारे पाचन अंग और नासिका की झिल्लियाँ स्वस्थ अवस्था में होंगी तो ये प्रत्यूर्जक हमें प्रभावित नहीं कर सकेंगे। परागज ज्वर व्यक्ति की प्रतिरक्षा प्रणाली की अतिसंवेदनशील एवं पूर्व उत्तेजनात्मक प्रत्यूर्जक स्थिति के प्रति उसके सुग्राही होने के कारण होता है। जब व्यक्ति प्रत्यूर्जक के सम्पर्क में आता है, तब एक प्रचण्ड उत्तेजक प्रतिक्रिया प्रारम्भ होने लगती है। ऐसा रक्त नलिका में अभित्यक्त रसायन हिस्टामाइन की मध्यस्थता के कारण होता है।

अतिसंवेदनशीलता का सम्बन्ध पूर्व की अभिघातक घटनाओं एवं अनुभवों से स्थापित किया जा सकता है, जो गहरे अवचेतन मन से नकारात्मक प्रभाव उत्पन्न करते हैं। बचपन या प्रारम्भिक जीवन की संगतियों से भी इसका सम्बन्ध होता है। अत: साइनोसाइटिस, परागज ज्वर एवं दमा के मामलों में प्राय: प्रत्यूर्जक एवं मनोवैज्ञानिक घटकों को अलग करना अत्यधिक कठिन होता है। मनोवैज्ञानिक नियोजन एवं प्रतिरक्षात्मक सुग्राह्यता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं और ऐसा लगता है कि एक वयस्क की प्रतिरक्षात्मक प्रणाली उसके पूर्ववर्ती अनुभवों की कोशिकीय स्मृति ही है।

योग विज्ञान द्वारा प्रस्तुत व्याख्या के अनुसार अतिसंवेदनशील प्रतिक्रियाएँ पूर्व निर्मित मानसिक संस्कारों या विचारों की अभिव्यक्तियाँ हैं। ये हमारे चित्त एवं कोशिकीय स्मृति पर गहरी जमा हुई याददाश्त एवं छाप छोड़ती हैं। कोई व्यक्ति जब तनावपूर्ण मानसिक स्थिति में पड़ता है या घर की धूल से सम्पर्क होते ही अचानक छींकना शुरू कर देता है तब वह वास्तव में इसी प्रतिक्रिया को अभिव्यक्त कर रहा होता है। यह एक अवचेतन मानसिक प्रभाव के प्रति मनोवैज्ञानिक प्रतिरक्षण प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति है।

साइनोसाइटिस, परागज ज्वर तथा आधुनिक चिकित्सा विज्ञान

जहाँ तक साइनोसाइटिस एवं परागज ज्वर का सम्बन्ध है, आधुनिक चिकित्सा विज्ञान प्रधानत: उनके लक्षणों का इलाज करने का प्रयास करता है। उसके पास रोग के कारणों को निर्मूल कर उसके निदान का कोई उपाय नहीं है। दर्द से आराम पाने के लिए पीड़ानाशक गोलियाँ दी जाती हैं। प्रत्यूर्ज प्रतिक्रिया को दबाने हेतु हिस्टामाइन अवरोधक दवाइयाँ और जीवाणुजनित संक्रमण से सुरक्षा के लिए प्रतिजैविक का उपयोग किया जाता है। किन्तु हिस्टामाइन

अवरोधक नासिका स्राव को सिर्फ थोड़े समय के लिए सुखा देते हैं। साथ ही उनके अवांछित प्रभाव भी होते हैं, जिसके परिणामस्वरूप हम अनेक दैनिक कार्यों का संपादन नहीं कर पाते।

हाल ही में कुछ उत्तेजकों एवं प्रत्यूर्जकों के प्रति शरीर की बढ़ी हुई संवेदनशीलता को मन्द करने के लिए सुग्राह्यता अवरोधी इंजेक्शन की निश्चित मात्रा का उपयोग किया जाता था। यह विशेषकर बच्चों की प्रत्यूर्जता की चिकित्सा के संदर्भ में काफी लोकप्रिय था। किन्तु अब चिकित्सक इस प्रकार की चिकित्सा के पक्ष में नहीं है, क्योंकि यह काफी खर्चीली होती है। साथ ही अनेक पीड़ादायक इंजेक्शन देने पड़ते हैं तथा प्रारम्भ में प्रत्यूर्जकों से प्रतिरक्षा की जो उम्मीद की जाती थी, वह भी शायद ही पूरी हो पाती है। इंजेक्शन द्वारा रक्तनलियों में बाह्य सामग्रियों को प्रविष्ट कराने के खतरों की ओर भी चिकित्सकों का ध्यान गया है। इनके परिणामस्वरूप प्रतिरोध सम्बन्धी अधिक तीव्र गड़बड़ियाँ, अतिसंवेदनशीलता की स्थितियाँ तथा कैंसर तक उत्पन्न हो सकते हैं।

तीव्र और पुराने साइनोसाइटिस की स्थिति में कभी-कभी नासिका गुहा के प्रक्षालन हेतु शल्य-प्रक्रिया अपनायी जाती है। अवरुद्ध एवं पीड़ादायक साइनस की अस्थि-दीवार को भेदकर पुरानी सूजन के अन्दर नमकीन जल पहुँचाया जाता है तथा मवाद का पूर्ण निष्कासन एवं प्रक्षालन किया जाता है। यह एक पीड़ादायी, अधिक समय लेने वाली शल्य-प्रक्रिया है, जिससे सिर्फ तात्कालिक आराम ही मिल पाता है। किन्तु, नेति का यौगिक अभ्यास चिकित्सक एवं रोगी, दोनों की दृष्टि से बहुत अधिक लाभदायक है। यह सस्ता, आसान और आनन्ददायी है तथा दीर्घ समय के लिए अधिक उत्तम परिणाम देता है।

साइनोसाइटिस एवं परागज ज्वर की यौगिक चिकित्सा

योग में साइनोसाइटिस तथा परागज ज्वर का उपचार दो तरीकों से किया जाता है। प्रथम, शरीर के ऊर्जा-संस्थान या नाड़ियों को सन्तुलित करके और द्वितीय, गहरी मानसिक अवस्थाओं एवं अवरोधों को प्रभावित करके, जो रोग के लक्षणों के साथ ही उत्पन्न होते हैं। ध्यान, योगनिद्रा एवं वस्तुगत आत्म-विश्लेषण इन स्थितियों के अचेतन तंत्र को समझने एवं उन्हें नियंत्रित करने में बहुधा सहायक होते हैं।

सामान्यत: ज्वरजनित स्थितियों में योगासनों का निषेध किया जाता है, किन्तु ज्वर एवं दुर्बलता के अन्य लक्षणों के कम हो जाने पर उनका अभ्यास किया जा सकता है।

1. *सूर्य नमस्कार* – यह एक गतिशील यौगिक अभ्यास है। यह शरीर की प्राणिक शक्ति को आश्चर्यजनक रूप से बढ़ाता है, अतिशय जुकाम को प्रभावहीन कर देता है तथा अतिसंवेदनशील स्थितियों और अनेक मनोवैज्ञानिक एवं प्रतिरक्षा सम्बन्धी त्रुटियों पर विजय प्राप्त करने में प्रभावशाली ढंग से सहायक होता है। यह प्रतिरोधी श्वसन संक्रमण के निष्कासन में अत्यधिक प्रभावी होता है।
2. *आसन* – स्वास्थ्य सुधार की स्थिति में पवनमुक्तासन श्रेणी के आसनों से प्रारम्भ करना सर्वोत्तम है। उसके बाद सूर्यनमस्कार एवं शवासन सम्मिलित करना चाहिए। शक्ति में वृद्धि के साथ-साथ पश्चिमोत्तानासन, भुजंगासन, हलासन, धनुरासन और अर्द्धमत्स्येन्द्रासन का अभ्यास क्षमता के अनुसार एक से तीन बार तक किया जा सकता है। सर्दी के लक्षणों में शीर्षासन एवं सर्वांगासन का निषेध किया जाता है, क्योंकि वे साइनोसाइटिस उत्पन्न कर सकते हैं या साइनोसाइटिस की वर्तमान अवस्था को और भी जटिल बना सकते हैं।
3. *प्राणायाम* – पाँच आवृत्तियों तक भस्त्रिका प्राणायाम करना चाहिए। प्रत्येक आवृत्ति में पचास श्वास होनी चाहिए।
4. *षट्क्रियाएँ* – ज्वर रहित स्थिति में जल-नेति सर्वाधिक लाभदायक होती है। इससे नासिका की श्लेष्मा का निष्कासन होता है, साइनस की सफाई होती है तथा उसमें हवा सहज रूप से प्रवेश करती है। इसका अभ्यास प्रतिदिन एक या दो बार किया जा सकता है। जब भी नाक में भारीपन या श्लेष्मा के जमाव का अनुभव हो तो इस स्थिति से राहत पाने के लिए जल-नेति का अभ्यास करना चाहिए। नासिका मार्गों को शुष्क एवं स्वच्छ करने तथा मस्तिष्क के अग्र भाग को सक्रिय बनाने के लिए जल-नेति के शीघ्र बाद कपालभाति किया जाना चाहिए। नाक से अतिरिक्त जल निष्कासित करना आवश्यक है। अन्यथा नेति के विपरीत प्रभाव भी हो सकते हैं, जैसे, फिर से सर्दी-जुकाम शुरू हो सकता है।

   नासिका की श्लेष्मा झिल्लियों की सुग्राह्यता को समाप्त करने हेतु सूत्र-नेति एक प्रभावशाली अभ्यास है। अभ्यास के प्रारम्भिक दिनों में

छींक एवं जलन हो सकती है, किन्तु बाद में इसका लाभ निश्चित रूप से मिलेगा।

कुंजल क्रिया रोग के निरोध एवं निवारण दोनों में ही बहुत उपयोगी है तथा इसका अभ्यास प्रतिदिन किया जा सकता है। ऋतु-परिवर्तन के समय शंखप्रक्षालन करना चाहिए। इससे पाचन प्रणाली में सड़ रहे श्लेष्मा अवशेषों का निष्कासन हो जाता है तथा शारीरिक ऊष्मा की स्थिति फिर ठीक हो जाती है।

5. *शिथिलीकरण* – प्रतिदिन योगनिद्रा का अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि इसमें गहरी विश्रान्ति मिलती है तथा इसका अत्यधिक चिकित्सकीय महत्त्व है। भूतकाल के अनुकूल तथा बचपन के पूर्ववर्ती अनुभव व्यक्तित्व की अनेक अन्तर्निहित जटिलताओं तथा विचारों को जन्म देते हैं। इस अभ्यास से परागज ज्वर एवं साइनोसाइटिस के रोगी को इन्हें साक्षी भाव से देखने में सहायता मिलती है। बहुधा ये जटिलताएँ एवं विचार ही इन रोगों के मूल कारण होते हैं।
6. *आहार* – आहार हल्का और शाकाहारी होना चाहिए, जिससे श्लेष्मा उत्पन्न न हो सके। अति आहारी न बनें। विशेषकर भारी, तैलीय एवं मीठे भोजन को अधिक मात्रा में ग्रहण करना उचित नहीं है। नमक, चावल, मैदा से बनी भोज्य सामग्रियों से बचना चाहिए। पर्याप्त मात्रा में फलों एवं कच्ची सब्जियों का सेवन करें। इस बात पर बहुत जोर दिया जाता है कि उपचार के प्रारम्भिक तीन-चार दिनों तक केवल फलों का रस लिया जाये। अंगूर एवं मौसम्मी के रस पर्याप्त मात्रा में लें। परन्तु कई प्रकार के रसों को मिलाकर नहीं पीना चाहिए। रसाहार के उपरान्त अपने भोजन में सब्जियों की पर्याप्त मात्रा शामिल करें। पर्याप्त मात्रा में फल भी लें, विशेषकर पपीता। शीतल पेय, आइसक्रीम, दूध एवं दूध से बने खाद्य पदार्थों का निषेध करें। प्रतिदिन ताजे लहसुन के कुछ दानों का सेवन करें।
7. *उपवास* – जब भी रोग के लक्षण उभरने लगें, उपवास कीजिये। दौरे के निरोध का यह सर्वाधिक प्रभावशाली उपाय है। वैकल्पिक रूप से शाम के भोजन के बदले प्रतिदिन अदरक, कालीमिर्च, दालचीनी एवं इलायची से तैयार की गई चाय पियें। यह शरीर को गर्मी प्रदान करती है तथा श्लेष्मा के निष्कासन में सहायक होती है।

अन्य सुझाव

- शीत ऋतु एवं वर्षा ऋतु में शरीर गर्म रखें। गले एवं छाती को ठण्ढ से बचाने का विशेष ख्याल रखें।
- जैसे ही परागज ज्वर या साइनोसाइटिस के लक्षण दिखाई पड़े, स्नान बन्द कर दें एवं अधिक जल न पियें।
- नेति के लिए एक विशेष सम्पाक तैयार किया जा सकता है। आधा चम्मच हल्दी, थोड़ा नमक और एक चम्मच बोरेक्स ढाई पाव खौलते हुए पानी में डालिये, अच्छी तरह हिलाइये। इसे एक या दो घण्टे तक ठण्ढा होने दीजिये, यदा-कदा हिलाते रहिए। तब नेति लोटे में डालकर इसका उपयोग कीजिये। यह क्रिया तब तक करते जाइये, जब तक कि नासिका पूर्णत: स्वच्छ न हो जाये। यह श्लेष्मा झिल्ली के लिए स्वास्थ्यप्रद एवं आरामदायक है तथा प्रतिदिन तीन बार इसका अभ्यास करना चाहिए। अमरोली नेति करना भी लाभदायक होता है।
- साइनस पर शीतल लेप या बारी-बारी से उष्ण और शीतल लेप करने से आराम मिलता है।
- रात्रि में वाष्प श्वसन से पर्याप्त आराम मिलता है।
- धूम्रपान बन्द कर देना चाहिए।

टाँसिलाइटिस

मुख द्वार के पिछले भाग में जहाँ पर श्वास और भोजन-नलिकाएँ मिलती हैं उसे ग्रसनी अथवा फैरिंक्स कहते हैं। जिह्वामूल की दोनों ओर दो संवेदनशील लसिका ग्रन्थियाँ (लिम्फ ग्लैण्ड) होतीं हैं जिन्हें हम टाँसिल कहते हैं। ये शरीर की रोग प्रतिरोधक प्रणाली के महत्त्वपूर्ण हिस्से हैं जो मुँह और नाक के रास्ते से प्रविष्ट होने वाले कीटाणुओं को रोकने के लिए मुख्य द्वार के दो संतरियों के समान कार्य करते हैं। असल में ग्रसनी के चारों ओर लसिका ग्रंथियाँ एक वृत्त के रूप में रहती है। जिसे हम 'वाल्डेयर वृत्त' कहते हैं। टाँसिल के अलावा *कंठशूल* या *एडीनायड्स* भी इसी वृत्त के हिस्से हैं।

टाँसिलाइटिस का अर्थ है टाँसिल का रोगग्रसित होकर सूजना, लाल पड़ना तथा दर्द देना एवं पकने पर इनमें पीब अथवा पस का पड़ना। यह बीमारी अधिकतर बच्चों एवं किशोरों में होती है।

कारण

जैसे-जैसे बच्चों का विकास होता है, वैसे-वैसे उनकी प्रतिरोधक प्रणाली नये-नये कीटाणुओं एवं प्राकृतिक पदार्थों के सम्पर्क में आती है, जिसके कारण कुछ समय के अन्तराल से बार-बार प्रतिरोधक प्रणाली उत्तेजित होती है। इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप टाँसिल में सूजन तथा पीड़ा होती है।

इसके अलावा यह रोग बहुत से अन्य गम्भीर रोगों की शुरुआत का भी एक लक्षण हो सकता है, जिनमें जोड़ों की सूजन, हृदय के कपाटों की खराबी (रुमेटिक हार्ट डिसीज) एवं गुर्दे के रोग (ग्लोमेरुलोनेफराइटिस) प्रमुख है। चूँकि सभी लसिका ग्रन्थियाँ (टाँसिल और एपेन्डिक्स सहित)

प्रतिरोधक प्रणाली का एक हिस्सा है, अत: कोई भी ऐसी बीमारी जिसमें पूरी प्रणाली प्रभावित हो, उसमें भी टाँसिलाइटिस हो सकती है, जैसे – किसी भी कारण से शरीर में फैला हुआ इन्फ्लेमेशन या वाइरल बुखार इत्यादि। कब्ज भी एक कारण हो सकता है।

इस बीमारी के प्रति संवेदनशील व्यक्तियों में बार-बार टाँसिलाइटिस अक्सर खानपान की गड़बड़ी, मुख्यत: ठण्ढे पेय एवं खाद्य पदार्थों के सेवन से होती है या ठण्डे मौसम में शरीर के भीगने पर या बिना गर्म कपड़ों के बाहर निकलने पर भी यह बीमारी पकड़ सकती है। ठण्ढ में वातावरण में नमी कम हो जाने से हवा सूखी हो जाती है। वही सूखी हवा श्वास के रास्ते से अन्दर जाकर श्लेष्मा झिल्ली (म्यूकस मेम्ब्रेन) को सुखाकर कीटाणुओं के प्रति उसकी निरोधक शक्ति को कम कर देती है, जिससे इन्फेक्शन का खतरा बढ़ जाता है।

लक्षण

हल्की ठण्ढ देकर बुखार आना, कमर एवं हाथ-पैरों में दर्द इत्यादि प्रारम्भिक लक्षण हैं। बुखार अक्सर तेजी से बढ़ता है एवं बच्चों में 105 डिग्री फॉरेनहाइट तक, पहले ही दिन में बढ़ सकता है। गले में खराश एवं निगलने में तकलीफ प्रमुख लक्षण होते हैं। श्वास में बदबू तथा श्वास में भारीपन महसूस होना, खाँसी, कफ, आवाज का भारीपन और गले की ग्रंथियों की सूजन आदि भी बहुप्राय लक्षण हैं।

बिना इलाज के भी अक्सर बुखार शनै:शनै: एक हफ्ते के भीतर उतर जाता है एवं दर्द हल्का पड़ जाता है, परन्तु टाँसिल की सूजन अक्सर बनी रहती है। बार-बार यही स्थिति आने पर या यही स्थिति बनी रहने पर हम उसे क्रॉनिक या जीर्ण टाँसिलाइटिस कहते हैं।

क्रॉनिक या जीर्ण टाँसिलाइटिस

यह बच्चों तथा युवाओं दोनों को हो सकती है और इसमें बार-बार या लगातार टाँसिल, एडीनायड्स तथा अन्य सम्बन्धित लसिका ग्रंथियों की सूजन बनी रहती है। इससे दूसरी तकलीफों के अलावा नाक से श्वास लेने में अड़चन होती है, जिसके फलस्वरूप बच्चा या व्यक्ति हमेशा मुँह से श्वास लेने लगता है। इसी मुख श्वसन के कारण शारीरिक एवं मानसिक विकास में बाधा

पड़ती है और इससे अनेक कुप्रभाव उत्पन्न होते हैं। मुख श्वसन दीर्घकालीन टॉंसिलाइटिस के अलावा बढ़े एडीनाइड्स, नाक की हड्डी तिरछी होने के कारण या आदतन भी हो सकता है। इस प्रकार यह भविष्य में बच्चों के स्वास्थ्य में निम्नलिखित कुप्रभाव डाल सकता है।

शारीरिक – मुख श्वसन करने वाले बच्चों के मुख्य लक्षण हैं – शारीरिक विकास अवरुद्ध (ग्रोथ रिटार्डेशन) होना, छाती का विकृत होना, चेहरे के भावों में परिवर्तन होना तथा मानसिक अवस्था में परिवर्तन होना। भावशून्य, निरुत्साहित एवं उदास चेहरा, जो कि खासकर सोते समय दिखाई पड़ता है, फेफड़ों के इन्फेक्शन इत्यादि।

मानसिक – मानसिक विकास एवं स्मरणशक्ति में कमी तथा वैचारिक क्षमता की मन्दता जिसके फलस्वरूप पढ़ाई में पिछड़ापन तथा हीन भावना का प्रवेश संभावित है।

मुख श्वसन के ये कुपरिणाम दोनों नासिकाओं से सन्तुलित एवं मुक्त श्वसन के महत्त्व को प्रमाणित करते हैं, जो स्वस्थ शारीरिक एवं मानसिक विकास के लिए जरूरी है। वे यह भी दर्शाते हैं कि जो क्रियाएँ दोनों नासिकाओं से श्वसन को मुक्त एवं सन्तुलित कर सके, जैसे – नाड़ीशोधन और कपालभाति प्राणायाम तथा जल एवं सूत्र-नेति इत्यादि। वे इस बीमारी से होने वाले कुप्रभावों को रोक सकती हैं तथा इलाज में सहायक सिद्ध हो सकती हैं।

यौगिक क्रिया-विज्ञान

यौगिक क्रिया-विज्ञान के अनुसार दोनों नासिकायें दो मुख्य नाड़ियों के मूल स्थान हैं जिन्हें हम इड़ा और पिंगला के नाम से जानते हैं। इड़ा का सम्बन्ध बायीं नासिका से है तथा इसमें चित्त शक्ति (मानसिक ऊर्जा) प्रवाहित होती है। पिंगला का सम्बन्ध दायीं नासिका से है तथा इसमें प्राणशक्ति (शारीरिक ऊर्जा) प्रवाहित होती है। इसलिए दोनों नासिकाओं से श्वास-प्रश्वास का प्रवाह मानसिक और शारीरिक विकास एवं क्रियाओं को नियंत्रण में बनाए रखने के लिए अति आवश्यक है और मुख श्वसन से दोनों ऊर्जाओं का ह्रास होता है।

शारीरिक एवं मानसिक ऊर्जाओं का सन्तुलन ही व्यक्ति की सुषुप्त मानसिक और शारीरिक क्षमताओं को जागृत करता है जिससे उसका सम्पूर्ण

एवं स्वस्थ विकास होता है। प्राणायाम और हठयोग की प्रक्रियायें दोनों नासिका छिद्रों में श्वास के प्रवाह तथा दोनों नाड़ियों में प्राण के प्रवाह को सन्तुलित कर सर्वांगीण विकास में सहायता करती हैं।

आधुनिक वैज्ञानिक परीक्षण भी इसी यौगिक क्रिया-विज्ञान के प्रतिवादों की पुष्टि करते हैं। दोनों नासिकाओं की भीतरी पतली त्वचा (श्लेष्मा झिल्ली) के नीचे तथा उससे जुड़े हुए अनेक महीन संवेदी व अनुकंपी-परानुकंपी नसों के तन्तु पाये गये, जो दोनों नासिकाओं में होने वाले श्वास प्रवाह से अलग-अलग प्रकार से उत्तेजित होकर विभिन्न शारीरिक और मानसिक अवस्थाओं और प्रक्रियाओं को प्रभावित करते हैं।

इसीलिए मुख श्वसन के कुप्रभावों को रोकने के लिए इन बीमारियों का प्रारम्भिक अवस्था में ही उचित इलाज अति आवश्यक है।

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली के उपचार

अक्सर हल्की-सी टाँसिल की सूजन और गले की खराश सिर्फ आराम और गरारे करने से 1-2 दिन में ठीक हो जाते हैं। लेकिन यदि बुखार तेज हो, दर्द एवं कफ अधिक हो तो मुख्यत: प्रतिजैविक दवाइयों (एन्टिबायोटिक्स) का चिकित्सक के परामर्श से एक कोर्स लेना जरूरी हो जाता है। साथ में दर्द-निवारक और डीकन्जेस्टेन्ट दवाइयों का प्रयोग भी सहायक होता है। एन्टिबायोटिक्स न केवल इलाज हेतु, वरन् टाँसिलाइटिस की जटिलताओं, जैसे – पककर गले में फोड़ा बनना, कान पकना, सायनोसाइटिस, रुमेटिक हार्ट तथा गुर्दे की बीमारियों से बचाव हेतु भी जरूरी हो जाते हैं।

मगर बार-बार (मौसम बदलने इत्यादि से) होने वाली टाँसिलाइटिस के इलाज हेतु लगातार एन्टिबायोटिक्स लेते रहना न उचित है, न श्रेयस्कर और न ही उनके द्वारा पूर्ण इलाज ही सम्भव है। पहले इसके इलाज हेतु शल्य क्रिया से टाँसिल ही निकाल दिये जाते थे (जिसे टाँसिलेक्टामी कहते हैं)। मगर आधुनिक समय में इन ऑपरेशनों की संख्या कम होती जा रही है तथा इस ऑपरेशन की उपयोगिता पर प्रश्न चिह्न लग गया है।

यह तथ्य चिकित्सा विज्ञान में इन लसिका ग्रन्थियों की उपयोगिता के बारे में ज्यादा जानकारी इकट्ठी होने के कारण प्रकाश में आया है और चिकित्सक इन प्रतिरोधी प्रणाली के हिस्सों (जो संतरियों की भूमिका अदा करते हैं) को निकाल फेंकने से लम्बे समय में होने वाले खतरों से ज्यादा अवगत होते जा रहे

हैं, क्योंकि टाँसिल निकाल देने से सिर्फ लक्षण कम हो जाते हैं, मगर बीमारी की जड़ समाप्त नहीं होती। इसके अलावा ऑपरेशन के बाद लसिका और प्रतिरोधी प्रणाली की गम्भीर बीमारियों के खतरे बढ़ जाते हैं। काफी लोगों में उम्र बढ़ने के साथ व्यस्क अवस्था तक अपने आप जीर्ण टाँसिलाइटिस कम या खत्म हो जाती है। इसीलिए प्रतिरोधक क्षमता वाले इन हिस्सों को निकाल कर व्यक्ति को इनकी उपयोगिता से जीवन पर्यन्त वंचित करने में आधुनिक चिकित्सक हिचक रहे हैं।

इससे जीर्ण टाँसिलाइटिस के पूर्ण इलाज में मेडिकल साइंस की विफलता प्रमाणित हो जाती है तथा यौगिक पद्धति को अपनाने की उपयोगिता सामने आती है। जिसके अनुसार अतिपाति अवस्था (एक्यूट स्टेज) समाप्त होने पर टाँसिल निकाल फेंकने की बजाय योगाभ्यास से शरीर और श्वास को सन्तुलित करना चाहिए।

यौगिक उपचार

यौगिक उपचार द्वारा इन सभी बीमारियों का सुरक्षित, प्रभावी एवं पूर्ण इलाज सम्भव है। नियमित एवं दृढ़ता से निम्नलिखित अभ्यास करने पर आदतन मुख श्वसन का इलाज भी सम्भव है। अतिपाति टाँसिलाइटिस या टाँसिल की हल्की-सी सूजन या एक-आध बार अचानक गला खराब होने को एक गंभीर बीमारी के तौर पर न लेकर भौतिक एवं शारीरिक प्रक्रियाओं के असन्तुलन और विकारों के शुद्धिकरण की प्रक्रिया के रूप में लेना चाहिए। इस अवस्था में बिस्तर पर चुपचाप आराम करना चाहिए, जब तक बुखार न उतर जाए।

नमकीन गर्म पानी के गरारे, नेति और गले पर गरम पानी की सिकाई काफी सहायक और आरामदायक होती है। शुरू में एंटिबायोटिक्स तथा अन्य दवा, आवश्यकता पड़ने पर ली जा सकती है। इस अवस्था के समाप्त होने पर सामर्थ्य के अनुसार योग के निम्नांकित अभ्यास करने चाहिए।

1. *सूर्य नमस्कार* – सामर्थ्य के अनुसार 2 से 12, जितने भी चक्र पूर्ण श्वास सजगता के साथ कर सकें।
2. *आसन* – सिंहासन, सन्तुलन के आसन, त्रिकोणासन।
3. *प्राणायाम* – उज्जायी, शीतली, शीतकारी एवं नाड़ीशोधन।

4. *षट्क्रिया* – नेतिक्रिया एवं कुनकुने नमकीन पानी के गरारे दिन में दो बार, कुंजल व लघु शंखप्रक्षालन आवश्यकतानुसार।
5. *शिथिलीकरण* – योगनिद्रा
6. *भोजन* – प्रारम्भ में फलों का रस और अंकुरित मूंग नींबू निचोड़ कर, थोड़ा तेल और लहसुन पीसकर ऊपर से डालकर लेना चाहिए। सिर्फ सब्जियों का रस और हल्की खिचड़ी भी ली जा सकती है।

अतिरिक्त परामर्श

- सिर और गर्दन को हमेशा गर्म रखना चाहिए। बार-बार ठण्ढी हवा लगने से तकलीफ और बढ़ती है।
- यदि टाँसिल में अत्यधिक सूजन एवं दर्द है, तो थोड़ी बर्फ पीसकर पोटली बना लें तथा गर्दन पर लगायें। जब तक असहनीय न हो जाए तब तक रखें, फिर उसे हटाकर गर्म पानी की थैली 3 से 5 मिनट तक लगायें। यही क्रम आधा घण्टा तक करने से काफी आराम मिलता है।
- गर्म पानी में नमक घोलकर या एन्टिबायोटिक्स के घोल से दिन में दो बार गरारे करने से आराम मिलता है तथा बीमारी जल्दी ठीक हो जाती है।

चतुर्थ खण्ड

पाचन तंत्र

पाचन तन्त्र की समस्यायें

आज के दौर में अनेकानेक व्यक्ति अपने आपको जीवन के एक सरल, किन्तु अत्यन्त सुखद अनुभव से वंचित किए हुए हैं। वह आनन्ददायक अनुभव है – एक स्वस्थ एवं निरोग पाचन और निष्कासन प्रणाली का होना। स्वस्थ पाचन हमारे जीवन को सुखपूर्वक बिताने का एक मूलभूत आधार है, क्योंकि इससे हमारे सभी अनुभवों को ग्रहण करने तथा उनके रसास्वादन करने पर प्रभाव पड़ता है। अब मन तथा शरीर के गहन सम्बन्धों की गूढ़ता को सभी उपचारात्मक पद्धतियों की व्यापक मान्यता प्राप्त हो चुकी है।

एक स्वस्थ पाचन व निष्कासन संस्थान की आवश्यकता शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य का आधारस्तंभ है, क्योंकि इस संस्थान की लम्बे समय तक रहने वाली गड़बड़ियों से अथवा इसके दुरुपयोग के फलस्वरूप अनेक जीर्णह्रासीय एवं चयापचयी बीमारियाँ उत्पन्न होती देखी गई हैं। इन बीमारियों में दमा, मधुमेह, गठिया, हृदय एवं संवहिनी रोग, चर्म रोग, कैंसर, सिरदर्द, मानसिक रोग, यौन समस्यायें तथा अन्य अन्त:स्रावी ग्रंथियों के रोग शामिल हैं। आप मानें या न मानें सभी गंभीर, अपंग बना देने वाली तथा अक्सर मृत्यु का कारण बनने वाली बीमारियों की उत्पत्ति पाचन-पोषण तथा निष्कासन प्रक्रियाओं की अस्वस्थता से होती हैं।

अत: इन गंभीर रोगों का उपचार करते समय प्राय: प्रारम्भ में यह आवश्यक हो जाता है कि प्राथमिक रूप से पाचन प्रणाली को पुन: सन्तुलित एवं शक्तिशाली बनाया जाए, क्योंकि यदि हम शक्ति या प्राण ऊर्जा को जागृत एवं सन्तुलित कर सकें तो पुनरुत्थान और सुधार की प्रक्रियाएँ स्वचालित ढंग से कार्यरत हो जाती हैं तथा 'स्व-उपचार' अपने आप शुरू हो जाता है। शरीर

की अन्तर्निहित उपचार शक्ति को जाग्रत करना योग चिकित्सा पद्धति का मूल सिद्धान्त है।

पाचन शक्ति की भूमिका

एक आदर्श स्वास्थ्य तथा जीवन ऊर्जा को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि हम एक ऐसी सूक्ष्म किन्तु अत्यन्त आवश्यक क्षमता में वृद्धि करें, जो अधिकतर लोगों में नहीं पायी जाती तथा उन्हें कष्ट, दु:ख एवं रोग के जंजाल में खींच ले जाती है। वह क्षमता है इस ज्ञान की, कि हमें किस प्रकार का भोजन करना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि हमें यह जानना होगा कि हम कैसे उपयुक्त भोज्य पदार्थों को उचित मात्रा में केवल निर्धारित समय पर ही ग्रहण कर अपने भौतिक शरीर को स्वस्थ एवं उच्च जैविक प्रतिरोधन की अवस्था में बनाए रख सकते हैं। यह सुनने में लगता तो बहुत आसान है, मगर ऐसा व्यक्ति सचमुच बिरला ही है, जो इसे समझ कर इसके सभी पहलुओं पर दक्षता हासिल कर चुका हो।

परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से अधिकांश रोग इसी महान् शिक्षा को न ग्रहण कर पाने के कारण ही पैदा होते हैं। भौतिक स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से देखने पर हम यह पाते हैं कि जब कभी हम खाने की प्रक्रिया को किसी अन्य उद्देश्य हेतु, जैसे – भावनात्मक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि, दमित तनावों को मुक्त करने अथवा लालच की पूर्ति के मार्ग के रूप में प्रयुक्त करते हैं, तब हम उसका दुरुपयोग कर रोग पीड़ित होने के मार्ग पर अग्रसर होने लगते हैं। यह भौतिक ह्रास की प्रक्रिया सर्वप्रथम पाचन की गड़बड़ी से ही प्रारम्भ होती है।

मणिपुर चक्र

कुण्डलिनी योग के अनुसार पाचन से सम्बन्धित अंग एवं ग्रंथियाँ तथा तंत्रिकाओं या सोलर प्लेक्सस का सम्बन्ध एवं नियंत्रण मणिपुर चक्र के द्वारा होना बताया जाता है। इसका तत्त्व अग्नि है तथा चिह्न चमकता हुआ सूर्य है। जिस प्रकार बाह्य सूर्य हमारे सौरमंडल में जीवन, ऊर्जा तथा गर्मी का उद्गम है, ठीक उसी प्रकार हमारे भौतिक शरीर एवं उसकी सभी चयापचयी प्रक्रियाएँ, चमकते हुए आंतरिक सूर्य की पाचक अग्नि द्वारा संचालित और नियमित की जाती हैं। यही इसका प्रतीकात्मक अर्थ है।

हम पाचन की प्रक्रिया को अग्नि मान सकते हैं, जिसमें भूमि से उपजी वस्तुएँ आहुति के रूप में डाली जाती हैं, जिसे ऊपर से मध्यपटल (डायफ्राम) पंखा झुलाता है, जो वायु तत्त्व (अनाहत चक्र) का प्रतिनिधित्व करता है तथा हृदय एवं श्वसन तंत्र को नियन्त्रित करता है। इस प्रक्रिया की सहायता जल तत्त्व (स्वाधिष्ठान चक्र) करता है, जो गुर्दों तथा स्वेद-ग्रंथियों के माध्यम से द्रव अवशिष्टों का निष्कासन नियंत्रित करता है। इस पूरी प्रणाली का आधार पृथ्वी तत्त्व (मूलाधार चक्र) है, जिसे सभी ठोस अवशिष्ट पदार्थ लौटा दिये जाते हैं। अत: अब हमारे सामने सम्पूर्ण पाचन प्रणाली का ठोस प्रारूप है, जिसके आधार पर हम पाचन तंत्र की समस्याओं को समझ सकते हैं।

जठर आंत्र नलिका (गेस्ट्रोइन्टेस्टाइनल ट्रेक)

पाचन तंत्र को समझने का सबसे आसान तरीका है कि इसकी तुलना एक खोखली नली से की जाए, जिसमें दो सिरों पर दो ही छिद्र होते हैं, ऊपरी छिद्र मुख है तथा निचला छिद्र गुदा-द्वार है। एक छोर से भोजन डाला जाता है तथा अपशिष्ट पदार्थ दूसरी ओर से निष्कासित कर दिए जाते हैं। इस प्रक्रिया के मध्य में ही पाचन, अवशोषण एवं भौतिक शरीर के पोषण की प्रक्रिया सम्पन्न हो जाती है तथा साथ-ही-साथ विषाक्त तथा अनवशोषित पदार्थों का निष्कासन भी हो जाता है।

सम्पूर्ण जठरांत्र प्रणाली को मुख्य रूप से तीन स्पष्ट भागों में विभक्त किया जा सकता है – ऊपरी, मध्यम तथा निम्न पाचन नलिका। हम इस अध्याय में प्रत्येक हिस्से के मुख्य रोगों का सारगर्भित विवरण देंगे, तत्पश्चात् बाद के अध्यायों में प्रत्येक की विस्तार से चर्चा की जाएगी।

ऊपरी पाचन नलिका

ऊपरी पाचन नलिका में मुखगुहा, लार ग्रंथियाँ, ग्रसन नलिका तथा आमाशय इत्यादि अंग शामिल हैं जो सभी यौगिक क्रिया-विज्ञान के अन्तर्गत 'प्राण' द्वारा नियंत्रित किए जाते हैं। यह 'प्राण' उस मुख्य प्राणशक्ति (पंचप्राणों) के पाँच विभागों में से प्रथम है। यह ऊर्जा गले से लेकर मध्यपटल (डायफ्राम) तक तथा मध्यपटल से लेकर गले तक प्रवाहित होती है।

ऊपरी पाचन नलिका के सभी रोग अनिवार्यत: वायु तथा अग्नि तत्त्वों के असन्तुलन से उत्पन्न होते हैं। इसमें अति अम्लता (एसीडिटी) तथा अल्प

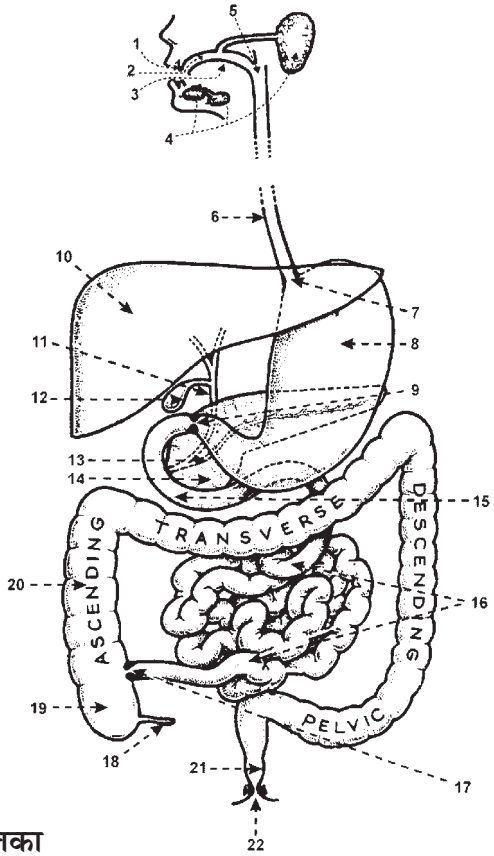

पाचन नलिका

1. दाँत
2. तालू
3. जिह्वा
4. लार ग्रन्थियाँ
5. ग्रसनी
6. ग्रसन नलिका (इसोफैगस)
7. कार्डियक वॉल्व
8. आमाशय
9. पाइलोरिक वॉल्व
10. यकृत
11. पित्त नलिका
12. पित्ताशय (गॉल ब्लैडर)
13. अग्न्याशय नलिका
14. अग्न्याशय
15. ड्यूडेनम
16. छाटी आँत
17. इलियोसीकल वॉल्व
18. एपेन्डिक्स
19. सीकम
20. बड़ी आँत
21. मलाशय
22. गुदा द्वार

अम्लता से संबंधित रोग, जैसे–गेस्ट्राइटिस, पेप्टिक अल्सर, इत्यादि शामिल हैं। आमतौर पर पाये जाने वाले इन रोगों के लक्षणों की सूची लम्बी है, जिसमें डकार आना, गैस बनना, पेट और सीने की जलन, अपचन, मिचली तथा उल्टी आना इत्यादि मुख्य लक्षण हैं।

मध्य पाचन नलिका

मध्य पाचन नलिका पेट के नीचे जहाँ *ड्यूडेनम* (ग्रहणी) होती है, वहाँ से लेकर सम्पूर्ण छोटी आँत की लम्बाई तय करती हुई *इलियोसीकल वाल्व* (छोटी व बड़ी आँतों के बीच का कपाट) पर समाप्त होती है, जहाँ से बड़ी आँत प्रारम्भ हो जाती है। ऊपरी पाचन नलिका भोजन को छोटे टुकड़ों में पीस कर पाचक रस रसायन मिलाती है तथा मध्य पाचन नली पोषक तत्त्वों के अवशोषण तथा उनको रक्त संवहन के माध्यम से पूरे शरीर में (मुख्यत: यकृत में) भेजने का कार्य करती है। इस हिस्से का जो नियंत्रण करता है, पंचप्राणों के उस भाग का नाम 'समान' दिया गया है। समान नाभि से लेकर हृदय तक संचालित होता है तथा शरीर के तापमान तथा चयापचय दर नियोजित करता है।

मध्य पाचन तंत्र में तीन मुख्य अंग शामिल हैं, वे हैं-यकृत (लीवर), छोटी आँत और अग्नाशय (पेन्क्रीयाज)। अत: मध्य पाचन नलिका के रोगों में इन्हीं तीन अवयवों के रोग, यानी लीवर के रोग, अपअवशोषण तथा मधुमेह शामिल हैं।

निम्न पाचन नलिका

निम्न पाचन नलिका छोटी आँत के अन्तिम छोर से, यानी छोटी और बड़ी आँत के सन्धिकपाट (इलियोसीकल वाल्व) से प्रारम्भ होती है। यहाँ से बड़ी आँत (कोलोन) शुरू होती है, अर्थात् निम्न पाचन नलिका और बड़ी आँत दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। इस हिस्से में भोजन का जो अंश प्रवेश करता है, वह लगभग सभी पोषक पदार्थों से विहीन अपशिष्ट पदार्थ मल कहलाने लगता है, क्योंकि सभी पोषक पदार्थ छोटी आँत द्वारा पहले ही अवशोषित कर लिये जाते हैं। पंच प्राणों का जो भाग इस हिस्से को नियंत्रित करता है, उसे 'अपान' कहा जाता है। यह अपान ऊर्जा नाभि से नीचे की ओर पेरिनियम (गुदा व जननांगों के मध्य का हिस्से) तक प्रवाहित

होती है, इसका मुख्य कार्य शरीर से मल एवं मूत्र के माध्यम से अपशिष्ट पदार्थों का निष्कासन करना है।

अपान की अधिकता या कमी से निम्न पाचन नलिका की प्रक्रिया असामान्य हो अनेक अतिपाती (एक्यूट) अथवा जीर्ण (क्रॉनिक) रोगों को जन्म देती है, इनमें मुख्यत: कब्ज, दस्त, बवासीर, पेचिश, एपेन्डिसाईटिस, कोलाईटिस, डाइवर्टिकुलाइटिस एवं अंग उतरना (प्रोलेप्स) इत्यादि रोग शामिल हैं।

हठयोग

चूँकि प्रबुद्ध योगी, जिन्होंने योग की आवश्यकता का पूर्वानुमान लगा लिया था, उन्होंने पाचन संस्थान के महत्त्व का भी अनुभव किया तथा प्राथमिक अभ्यासों में शुद्धिकरण तथा पेट को स्वस्थ रखने की क्रियाओं पर अधिक बल दिया। उन्होंने आसन-प्राणायाम के कुछ विशेष अभ्यासों तथा षट्कर्मों के एक वृहद् समूह को महत्त्वपूर्ण माना है, जिसमें धौति, नौलि तथा बस्ति इत्यादि हैं। सभी का लक्ष्य पाचन नलिका को शुद्ध एवं स्वस्थ रखना तथा फलस्वरूप अन्य शारीरिक अंगों को स्वस्थ रखना है। इन सभी तकनीकों से आंत्र-नलिका का कार्य एकमात्र भोजन पचाने की मशीन से बदल कर हमारी चेतना को एक उच्चतर आयाम की ओर अग्रसर करने का उद्गम स्थल बन जाता है; जिससे हम अधिक सकारात्मक, सृजनात्मक व सम्पूर्ण जीवन जी सकते हैं।

पाचन तंत्र की संपूर्ण जानकारी एवं सम्बन्धित योग सिद्धान्तों के अध्ययन हेतु योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'समस्या पेट की समाधान योग का' देखें।

ऊपरी पाचन नलिका की समस्याएँ

ऊपरी पाचन नलिका सम्बन्धी रोगों की तथा उनसे जुड़ी लक्षणों की लम्बी सूची में सबसे मुख्य है अपचन। अपचन एक ऐसा बहुअर्थी संज्ञात्मक शब्द है, जिसके अंतर्गत विभिन्न परिस्थितियाँ आती हैं, जैसे – अत्यधिक अम्ल उत्पादन (हाइपर एसीडिटी) तथा जठर की अतिक्रियाशीलता, जो पेप्टिक अल्सर एवं जठर शोथ (गेस्ट्राइटिस) जैसे रोगों में देखी जाती है तथा इसके बिल्कुल विपरीत परिस्थिति जठर की अल्पक्रियाशीलता तथा अल्पमात्रा में अम्लोत्पादन (हाइपो एसीडिटी) होती है जो पेट का भारीपन, गैस तथा उल्टी जैसे लक्षण उत्पन्न करती है। गड़बड़ी की इन दोनों चरम सीमाओं की विशेषता जठर भित्ति की क्रियाशीलता व उसकी स्रवण क्षमताओं में असामंजस्य या विषमता की स्थिति है, जिसे नाम दिया गया है बदहजमी अथवा अपचन।

अपचन का कारण

सभी पाचन सम्बन्धी रोगों के अनेक कारण हो सकते हैं, जैसे – मानसिक या भावनात्मक उद्वेग, हवा गुटकने की आदत से लेकर अति भोजन तक। अपचन के अन्य मुख्य कारण हैं भोजन में खनिज लवणों की कमी, अतिपरिशुद्ध (रिफाइन्ड) पदार्थों, जैसे – मैदा या शक्कर का अधिक मात्रा में सेवन, भोजन के साथ पानी पीना, अनियमित समय पर हड़बड़ी में भोजन करना, देर रात में भोजन करना, डिब्बाबन्द मसालेदार पदार्थों का सेवन, ठीक से चबाए बिना खाना तथा ठण्ढे और बर्फयुक्त पेय इत्यादि। इन सबके फलस्वरूप पाचन शक्ति कमजोर पड़ती है तथा पीड़ित व्यक्ति

उन आवश्यक पदार्थों को पचाने में भी अक्षम हो जाता है, जिनकी उसके शरीर में आवश्यकता है।

लक्षण

सामान्यत: अपचन के लक्षण होते हैं–पेट एवं सीने में जलन, सरदर्द, पेट में भारीपन, मलत्याग की अनियमितता, ठण्ढे पैर, कमजोर नब्ज तथा जीर्ण रोगियों में चलने-फिरने तक की असमर्थता। लम्बे समय से पीड़ित व्यक्तियों में सूखी ठसकेदार खाँसी, बीच-बीच में हल्का बुखार, दिल की धड़कन महसूस होना तथा चिड़चिड़ापन जैसे लक्षण देखे जा सकते हैं।

विशेष व्याधियाँ

हाइपोएसीडिटी–इसे मन्द अथवा अल्प-अम्लता भी कहते हैं। यह ऐसी स्थिति है जिसमें भोजन खाने के कई घंटों बाद तक पेट (आमाशय) में ही पड़ा रहता है तथा फर्मेंट होता रहता है। यह पाचन क्षमता की कमजोरी का द्योतक है।

इस रोग में लार में भी पाचक रस (एन्जाइम्स) की कमी पायी जाती है तथा आमाशय की अम्ल एवं पाचक रस बनाने की क्षमता भी घट जाती है। फलस्वरूप सक्रिय पाचन बन्द होने से पूरी प्रक्रिया ठप्प पड़ जाती है तथा ऐसा महसूस होता है मानों घंटों से भोजन पेट में ही बैठ गया हो। भोजन के तीन-चार घंटे बाद भी ऐसा लगता है कि पेट पूरा भरा है। ऐसी स्थिति में व्याघ्र क्रिया अत्यधिक अनुशंसित है।

अल्प अम्लता अक्सर यह दर्शाती है कि भोजन शरीर की जरूरत के अनुपात में कहीं अधिक है तथा पाचक क्षमता पर आवश्यकता से अधिक जोर पड़ रहा है। यह रोग लम्बे समय तक लीवर और पाचक नलिका के दुरुपयोग तथा परिक्लान्ति से होता है तथा यह अधिकतर लोगों में ग्रीष्म तथा वर्षा ऋतु में होता है, जब भोजन पर नियंत्रण की आवश्यकता अधिक होती है।

रीगर्जिटेशन या मितली आने का अर्थ है ग्रहण किये गए भोजन का तरल पदार्थ के रूप में पेट से वापस, ग्रसन नलिका (इसोफेगस) से होते हुए गले या मुख तक आना। भोजन करने के कुछ समय पश्चात् उल्टी की इच्छा होने लगती है तथा साथ-ही एक बेचैनी की अनुभूति होती है मानो पेट में कुछ गड़बड़ है अथवा पाचन ठीक से नहीं हो पा रहा है, यह लक्षण अक्सर अल्प अम्लता के साथ जुड़ा रहता है।

हाइपर एसीडिटी– पाचन रोग का दूसरा विपरीत पहलू, जिसमें अम्ल की अधिकता होती है, उसे हाइपर एसीडिटी कहते हैं। इसमें पाचन प्रणाली लगातार उत्तेजित हो अतिक्रियाशील रहती है जिसमें असमय तथा अधिक मात्रा में जठर रस और अम्ल का स्रवण होने लगता है। साथ-ही पेट खाली होने पर भी जठर भित्ति (स्टॉमक वाल) अतिक्रियाशील एवं उत्तेजित हो ऐंठने-सी लगती है। यह अवस्था कालांतर में गेस्ट्राटिस (जठर शोथ) तथा पेप्टिक अल्सर में परिवर्तित हो जाती है।

अति अम्लता का मूल कारण लगातार स्वादपिण्डों एवं लार ग्रंथियों का उत्तेजन है, जिसके फलस्वरूप पेट में पाचन क्रिया लगातार उत्तेजित होती रहती है। असन्तुलित भोजन, जिसका चुनाव सिर्फ स्वाद और जिह्वा तुष्टि के आधार पर किया गया हो, न कि उसके स्वास्थ्यवर्द्धक एवं अनुकूल प्रभावों के आधार पर तथा जो भोजन शक्कर, मिठाइयों, अपरिष्कृत भोज्य पदार्थों, घी-तेल युक्त, मसालों तथा तीव्र गंध युक्त पदार्थों के सम्मिश्रण से बना हो, वह अक्सर घातक सिद्ध होता है, जिसकी घातकता, शराब तथा सिगरेट जैसे पदार्थों की लत से और अधिक होती है।

ये सुस्वादु कहे जाने वाले भोज्य पदार्थ तथा जिह्वालोलुपता की आदतें एक प्रकार की मुख तुष्टि प्रदान करती हैं, जो अल्पकालिक तौर पर भावनात्मक द्वन्द्वों एवं उनसे उत्पन्न तनावों से मुक्ति का मार्ग खोल देती हैं। धूम्रपान, मद्यपान तथा अधिक मात्रा में भारी भोजन खाने की आदतें हमारे छिपे हुए भावनात्मक द्वन्द्वों, जरूरतों एवं महत्त्वाकांक्षाओं की अभिव्यक्ति हैं, जो जिह्वा तुष्टि के माध्यम से मुक्त होने का माध्यम ढूँढ़ती हैं। यह समाधान क्षणिक जिह्वा सुख तो देता है, परन्तु जठर को लगातार उत्तेजित कर अतिक्रियाशील बना देता है। फलस्वरूप उसमें लगातार रस और अम्ल स्रावित होकर इकट्ठे होने लगते हैं, जो इस तथ्य पर निर्भर ही नहीं करते कि पेट में पचाने लायक भोजन है भी या नहीं और यही हाइपर एसीडिटी, गेस्ट्राइटिस और पेप्टिक अल्सर जैसे रोग उत्पन्न करने का प्रमुख कारण है।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार यह समस्या शैशव काल के अनुभवों से ही जड़ पकड़ लेती है। जब शिशु को माँ के स्तन से मिलने वाली सुरक्षा की भावना से, जो भोजन एवं भावनात्मक सन्तुष्टि का आधार है, वंचित रखा जाए तो आगे चलकर वह दमित तनाव का रूप ले लेती है, जिसके कारण

व्यस्क जीवन में वह अचेतन रूप में किसी प्रकार की मुख तुष्टि की खोज करता है जो उसे इस तनाव से मुक्त कर सके तथा भावनात्मक सुरक्षा प्रदान कर सके।

पेट और सीने में जलन

यह लक्षण अति अम्लता के कारण जलन की अनुभूति एवं दर्द होने से सम्बन्धित है, इसका कारण अम्ल के द्वारा ग्रसन नलिका (इसोफेगस) के निचले हिस्से का प्रदाह है। यह दर्द एवं जलन का अनुभव छाती के बीचों-बीच वाली हड्डी के पीछे होता है। यह अनुभूति भोजन खाने के तुरन्त बाद चालू हो जाती है तथा प्रारम्भ में यह कोरोनरी धमनी में अल्प प्रवाह के कारण उत्पन्न होने वाले हृदशूल का भ्रम उत्पन्न करा सकती है, क्योंकि अक्सर हृदयशूल का दौरा भी भारी भोजन के पश्चात् उठता है।

गैस

गैस का तात्पर्य है उदर के ऊपरी हिस्से में फूलने जैसा भरा-भरा सा अनुभव होना तथा डकारें आना। भोजन बिना सजगता के जल्दी-जल्दी खाने अथवा गलत अनुपात में खाये जाने से यह लक्षण उत्पन्न होता है। जब शरीर अथवा मन तनाव-ग्रस्त हो तथा अपने आप में खोए हुए हो, उस समय बिना ठीक से चबाये हुए भोजन को जल्दी-जल्दी निगल जाने से भोजन के साथ हवा भी अचेतन रूप से निगलने में आ जाती है। कालान्तर में तनावयुक्त होकर जल्दी-जल्दी खाना एक आदत का रूप ले अतिअम्लता अथवा गैस उत्पन्न होने का कारण बन जाता है।

डकार आना या पेट गुड़गुड़ाना भी एक सम्बन्धित लक्षण है, डकार में पेट की वायु ग्रसन-नलिका से होती हुई ऊपर उठती है तथा मुख के रास्ते से उत्सर्जित हो जाती है। एक-आध बार डकार आना तो स्वस्थ पाचन का लक्षण है, मगर जब अतिभारी भोजन को जल्दी-जल्दी ग्रहण करने के फलस्वरूप अधिक मात्रा में वायु प्रविष्ट हो गई तो भोजन के कुछ घण्टों बाद तक डकार आते रहना कष्टप्रद हो जाता है। गैस तथा डकार के लक्षण अधिकांशत: अल्प अम्लता के साथ सम्बन्धित होते हैं, मगर जलन के साथ यही लक्षण अति अम्लता के द्योतक हैं।

पाचन समस्याओं का समाधान

भोजन की प्रक्रिया को एक यांत्रिक कर्म से उत्थापित कर एक चेतन एवं संतोष-प्रदायिनी क्रिया में परिवर्तित करने की महत्ता को अतिमहत्त्वपूर्ण स्थान देना स्वाभाविक है। उचित मात्रा में सादे सात्त्विक भोजन को, जो शरीर की आवश्कयताओं की पूर्ति और पोषण करे, धीरे-धीरे एवं पूर्ण सजगता के साथ ग्रहण किया जाए। ऐसी आदत को दैनिक व्यवहार में लाने से जल्दी-जल्दी अथवा अधिक मात्रा में गरिष्ठ भोजन करने की आदत से धीरे-धीरे, किन्तु निश्चय ही छुटकारा पाया जा सकता है। जीवन चर्या में यह नया परिवर्तन आपको शीघ्रातिशीघ्र एक सुन्दर स्वस्थ्य शरीर एवं ओजस्वी व्यक्तित्व प्रदान करेगा।

किसी भी व्यक्ति में अल्प अम्लता का रोग हो सकता है, किन्तु अक्सर यह देखा जाता है कि बीमारी के दोनों विपरीत पहलू चक्रीय ढंग से एक ही व्यक्ति को बारी-बारी से प्रताड़ित करते हैं। मौसम चक्र के बदलने के साथ रोग का क्रम भी बदल जाता है। ऐसा उन व्यक्तियों में होता है जो अनियंत्रित भोजन अथवा अवांछित पदार्थों के सेवन की आदत से ग्रस्त है तथा विशेषत: जो अति गर्म अथवा तीव्र मौसम वाले क्षेत्रों में निवास करते हैं। ऐसे व्यक्तियों में पाचन शैथिल्य और असन्तुलन अक्सर होता रहता है, जिसे यौगिक अथवा पथ्य सुधार के उपायों से ठीक करना आवश्यक हो जाता है, अन्यथा भौतिक स्वास्थ्य के प्रति गम्भीर खतरा उत्पन्न हो सकता है।

अपचन का यौगिक समाधान

निम्नलिखित यौगिक क्रियाएँ ऊपरी पाचन मार्ग की व्याधियों के लिए विशेषत: उपयोगी हैं तथा इनका दैनिक अभ्यास पाचन प्रणाली को अतिशीघ्र पूर्ववत् सक्षम बना देगा।

1. *आसन* – पवन मुक्तासन समूह (भाग – 2) के वातनिरोधी आसनों का अभ्यास प्रतिदिन प्रात: करना चाहिए। प्रत्येक भोजन के पश्चात् कम-से-कम 10 मिनट तक वज्रासन में बैठें। पाचन क्रिया निर्बाध रूप से सम्पन्न कराने में यह आसन सहायक है।
2. *प्राणायाम* – प्रतिदिन प्रात: नाड़ी शोधन प्राणायाम (अवस्था – 2) 10 चक्र एवं कुछ दिनों के उपरान्त अवस्था 3 का अभ्यास करें। भस्त्रिका

प्राणायाम भी करना चाहिए, धीरे-धीरे संख्या बढ़ाते हुए 50 श्वास के 5 आवृत्तियाँ करें।

3. *बन्ध*– जालंधर, मूल एवं उड्डियान बन्धों को प्राणायाम के साथ सम्मिलित करें।
4. *षट्क्रिया*– नेति, कुंजल, व्याघ्रक्रिया एवं अग्निसार क्रिया, कम-से-कम सप्ताह में एक बार लघु शंखप्रक्षालन का अभ्यास करें।
5. *शिथिलीकरण*– प्रतिदिन दोपहर अथवा शाम को योगनिद्रा का अभ्यास करें, आसनों के पश्चात् शवासन में विश्राम करें तथा उदर श्वसन या यौगिक श्वसन की 100 आवृत्तियाँ करें।
6. *ध्यान*– पद्मासन या वज्रासन में बैठकर नाभि क्षेत्र में श्वास की हलचल पर ध्यान केन्द्रित करने का प्रयास करें।
7. *भोजन*– सादा पोषक और सुपाच्य भोज्य पदार्थों का सेवन सर्वोत्तम है। गरिष्ठ, तीक्ष्ण एवं मसालेदार पदार्थों, मिठाइयों, केक, मैदे से बनी वस्तुओं इत्यादि से अनिवार्यत: परहेज करें, जो न केवल पाचन तंत्र पर जोर डालती हैं, वरन् पेट में अम्ल उत्पादन की भी गड़बड़ी करती हैं। भोजन ताजा, प्राकृतिक हो, जिसमें उबली सब्जियों का समावेश हो। खिचड़ी तथा दूध भी ग्रहण किए जा सकते हैं। कॉफी तथा चाय का सेवन कम-से-कम कर देना चाहिए। शराब एवं सिगरेट सिर्फ नकारात्मक प्रभावों में वृद्धि करते हैं।
8. *उपवास*– अपचन से मुक्ति पाने और उसे मार भगाने का यह बहुत अच्छा साधन है तथा पीड़ित व्यक्ति को यह फौरन अहसास करा देता है कि भोजन की गलत आदतें ही सब तकलीफों की जड़ हैं। योग हफ्ते में एक दिन उपवास रखने की अनुशंसा करता है।

अन्य उपयोगी सुझाव

- भोजन करते समय आत्म चेतना बढ़ाने का प्रयास करें, यह एक मूलभूत यौगिक अभ्यास है। भोजन के निश्चित समय का कड़ाई से पालन करें तथा मुख्य भोजन के अतिरिक्त बीच में कुछ न खाएँ, भोजन धीरे-धीरे अच्छी तरह चबाकर खाएँ तथा जल्दी खत्म करने के दबाव में न रहें। अचेतन रूप से भोजन ठूँसने के बजाय प्रत्येक कौर को अधिक रस लेकर आनन्दपूर्वक खाएँ।

- भोजन करते समय हमेशा दायीं नासिका (पिंगला नाड़ी) से अधिक श्वास प्रवाह होना चाहिए, इससे पाचक रसों के स्त्रवण की मात्रा बढ़ जाती है।
- जब कभी भी आप तनावग्रस्त, उत्तेजित अथवा उद्वेलित हों, उस समय खाना खाने न बैठें। पाचन क्रिया अच्छी तरह सम्पन्न करने हेतु यह आवश्यक है कि पूरी चेतना सिर्फ उसी कार्य पर लगी रहे तथा शरीर एवं मन शान्त हो। यदि मन तनावग्रस्त अथवा अपने आप में उलझा रहेगा तो पाचक ऊर्जा (जठराग्नि) जाग्रत नहीं होगी तथा अपचन की शिकायत हो जायेगी। यदि खाने के लिए बैठते समय आप तनावग्रस्त हैं तो बेहतर यही होगा कि आप 10 मिनट तक शवासन में लेटकर शिथिलीकरण का अभ्यास कर लें, तदुपरान्त खाने बैठें।
- देर रात में भोजन न करें, अन्यथा अपचन और दु:स्वप्नों के कारण आप ठीक से सो नहीं पायेंगे। सूर्यास्त के पहले तक हल्का भोजन लीजिये तथा यदि इच्छा हो तो सोने के पहले गर्म दूध लिया जा सकता है।

कब्ज से मुक्ति

कब्ज पाचन संस्थान के निचले हिस्से में होने वाली एक जीर्ण बीमारी है। इस रोग में शरीर से ठोस मल का निष्कासन अपर्याप्त और धीमा हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप पाचन क्रिया के अवशेष बड़ी आँत में इकट्ठे हो जाते हैं और मांसपेशीय सामंजस्य समाप्त हो जाने के कारण वह शिथिल हो जाती है। जिस प्रकार यदि किसी शहर का कचरा प्रतिदिन दूर न फेंका जाये तो रास्ते बन्द होने लगते हैं, उसी प्रकार यदि आँतों की यह स्थिति लगातार लम्बे समय तक बनी रहे तो शरीर के सारे ऊतक एवं कोशिकाओं में इस मल से उत्पन्न विषैले पदार्थ एकत्र होने लगते हैं और शरीर अपने ही उत्सर्जित पदार्थों के एकत्रीकरण से विषाक्त होने लगता है। उत्तम स्वास्थ्य एवं अधिक जैविक शक्ति प्राप्त कर रोगों से मुक्त रहने के लिए यह आवश्यक है कि नियमित एवं पर्याप्त रूप से मल का निष्कासन हो।

कब्ज का कारण

कब्ज की कोई निश्चित परिभाषा देना सम्भव नहीं है, क्योंकि विभिन्न देशों की जलवायु, संस्कृतियों, आहार एवं व्यक्ति के अनुसार आँतों की क्रियाशीलता में अन्तर होता है। इसके लिए कोई निश्चित नियम नहीं हो सकता। आजकल अधिकतर लोगों ने कब्ज की स्थिति को अपने जीवन में स्वीकार कर लिया है। स्वास्थ्य के प्रमुख नियमों की शिक्षा की उचित व्यवस्था न होने के कारण अनजाने में ही लोग जीर्ण कब्ज को कई सालों और महीनों तक सहन करते रहते हैं। इससे उनका शरीर अशुद्ध एवं विषाक्त और मन निष्क्रिय तथा भारी हो जाता है। साथ-ही-साथ क्षयकारी बीमारियों तथा संक्रमण के प्रति उनकी

प्रतिरोधात्मक क्षमता घट जाती है और जैविक शक्ति में कमी आ जाती है। आधुनिक समय में इस दुर्दशा के कई कारण हैं, जैसे–

1. *अक्रियाशील जीवनशैली*–कब्ज खासतौर पर ऐसे लोगों को अधिक होती है, जो सारा दिन कुर्सी पर बैठकर काम करते हैं। इस कारण मांसपेशियों और आँतों में कड़ापन, रक्तप्रवाह में कमी तथा प्राण शक्ति के प्रवाह में अवरोध उत्पन्न हो जाता है।
2. *उचित व्यायाम की कमी*–आजकल अधिकतर लोग अपनी दैनिक जीवनचर्या में इतने अधिक व्यस्त हैं कि वे मात्र कुछ मिनट का व्यायाम या टहलना भी पसन्द नहीं करते। कुछ तो आलस्य वश भी ऐसा करते हैं और कुछ को इसमें रुचि भी नहीं रहती। परिणामत: उनकी मांसपेशियाँ कमजोर हो जाती हैं एवं रक्त का प्रवाह धीमा और अनियमित हो जाता है तथा इसके साथ ही पाचन एवं निष्कासन की क्रिया भी अवरुद्ध हो जाती है।
3. *आहार सम्बन्धी गलत आदतें*–पाचन-तंत्र से निष्कासित किये जाने वाले मल का प्रकार हमारे द्वारा ग्रहण किये जाने वाले भोजन के प्रकार पर निर्भर रहता है। यदि आहार में पर्याप्त मात्रा में साबुत अनाज, फल, ताजी सब्जियाँ या रेशेयुक्त पदार्थ नहीं हो तो परिणामस्वरूप मल कड़ा और मात्रा में कम हो जाता है, जिससे निष्कासन भी कठिन हो जाता है। जब पर्याप्त मात्रा में भोजन आँतों में रहता है तभी वे ठीक तरह से काम कर सकती हैं। इस प्रकार का मल सब्जियों, फलों और साबुत एवं अपरिष्कृत अनाज के रेशेयुक्त अवशेष, जिसे सेल्यूलोज कहते हैं, से ही बन सकता है।

   वर्तमान समय में प्रचलित आहार में मांस, अंडे, तेल, वसा, पनीर, दूध एवं शर्करायुक्त परिष्कृत भोज्य पदार्थों, जैसे–ब्रेड, केक, बिस्कुट की अधिकता है। इनमें रेशे कम और प्रोटीन अधिक होता है, जिससे इनके पाचन में अत्यधिक ऊर्जा व्यय होती है तथा इसी कारण ये भारी भोजन बिल्कुल अस्वीकरणीय है, किन्तु ठण्डी जलवायु वाले क्षेत्रों में भारी भोजन शरीर में निश्चित तापमान बनाए रखने के लिए आवश्यक है। वहाँ के लोग शरीर से आलस्य और भारीपन हटाने के लिए अल्कोहल का भी प्रयोग करते हैं, जो कि उन्हें मानसिक उत्तेजना प्रदान करती है।
4. *शौच के समय शारीरिक स्थिति*–आधुनिक कमोड टॉयलेट में शरीर की स्थिति मलोत्सर्ग के लिए सही नहीं होती है। इससे आँत का

निचला भाग और श्रोणि प्रदेश की मांसपेशियाँ शिथिल नहीं हो पातीं। अत: मल-त्याग हेतु उकड़ू बैठना ही सर्वोत्तम शारीरिक स्थिति है। इससे आपान वायु, जो कि निष्कासन को नियन्त्रित करती है, पूर्णरूप से क्रियाशील हो जाती है और आँतों की गतिविधि भी ठीक तरह से हो सकती है।

मानसिक कब्ज

कब्ज केवल शारीरिक नहीं, बल्कि मानसिक अवस्था भी है। ऐसा व्यक्ति जिसकी विचारधारा और जीवनशैली निरुत्साह, अस्त-व्यस्त और निष्क्रिय है, वह अवश्य ही धीमी पाचन-क्रिया एवं कब्ज से पीड़ित होता है। इसी तरह निश्चित विचार और अपरिवर्तनीय मतों वाले जिद्दी और परिवर्तनों को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार न करने वाले व्यक्तियों को कब्ज होता है और ये लोग उसे जीवन की एक वास्तविकता के रूप में स्वीकार कर लेते हैं।

जिन व्यक्तियों को जीवन की अनिश्चितता और परिवर्तनों की निश्चितता के प्रति हमेशा मानसिक भय बना रहता है उनमें 'कॉन्स्टीपेशन न्यूरॉसिस' अथवा कब्ज के प्रति भय अवश्य पाया जाता है। यदि एक बार हम अपने सम्बन्धों एवं अनुभवों को, सदैव परिवर्तनशील अस्थायी प्रकृति को स्वीकार कर लें तो पेट सहजता से ही साफ हो जायेगा।

बौद्धिक स्वभाव एवं व्यायाम वाले व्यक्तियों तथा विद्यार्थियों को प्राय: जीर्ण कब्ज या आँतों की क्रियाशीलता में कमी की तकलीफें होती हैं। ऐसा होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि वे शरीर की अपेक्षा मानसिक रूप से अधिक क्रियाशील रहते हैं। इसके परिणामस्वरूप उनकी मनस् शक्ति (मानसिक ऊर्जा) एवं प्राण शक्ति (शारीरिक ऊर्जा) में असन्तुलन आ जाता है और इस कारण उन्हें कब्ज जैसी समस्या का सामना करना पड़ता है। यदि अपनी दैनिक जीवनचर्या में सुबह आसन एवं शाम को टहलने या दौड़ने का कार्यक्रम भी सम्मिलित कर लिया जाये तो इस समस्या से छुटकारा पाने में सहायता मिल सकती है।

यौगिक उपचार

योग की क्रियाओं के अभ्यास, उचित आहार और अधिक मात्रा में तरल पदार्थ लेने से अत्यन्त जीर्ण कब्ज को भी ठीक जा सकता है।

1. *सूर्य नमस्कार* – प्रतिदिन सूर्योदय के समय 12 आवृत्तियों तक इसका अभ्यास करना चाहिए।
2. *आसन* – पवनमुक्तासन भाग – 2, कौआ चाल, त्रिकोणासन, आगे और पीछे मुड़ने वाले सभी आसन, हलासन, ताड़ासन और तिर्यक ताड़ासन, कटिचक्रासन, तिर्यक भुजंगासन, उदराकर्षण, मत्स्यासन, अर्ध मत्स्येन्द्रासन तथा मयूरासन।
   प्रतिदिन भोजन के पश्चात् 10 मिनट तक वज्रासन में बैठना चाहिए।
   मामूली कब्ज की स्थिति में आसन करने से पहले एक या दो गिलास कुनकुना पानी पी सकते हैं।
3. *प्राणायाम* – प्रतिदिन कुम्भक और महामुद्रा के साथ भस्त्रिका प्राणायाम की पाँच आवृत्तियाँ तथा सूर्यभेद की दस आवृत्तियों का अभ्यास किया जा सकता है।
4. *मुद्रा एवं बन्ध* – पाशिनी मुद्रा, योगमुद्रा, आश्विनी मुद्रा, उड्डियान बन्ध एवं महाबन्ध।
5. *षट्क्रिया* – अग्निसार क्रिया, नौलि, बस्ति एवं मूलबन्ध। आवश्यकतानुसार प्रतिदिन प्रातः लघु शंखप्रक्षालन भी किया जा सकता है। पूर्ण शंखप्रक्षालन उचित मार्गदर्शन में ही करना चाहिए।
6. *ध्यान* – अन्तर्मौन।
7. *आहार* – अपने दैनिक आहार में से सभी प्रकार के शर्करायुक्त पदार्थों को हटाकर उनके स्थान पर फल, सब्जी, अधिक मात्रा में सलाद, अंकुरित और साबुत अनाज एवं सूखे मेवे, जैसे – अंजीर और आलूबुखारा इत्यादि लें। आलूबुखारे के पाचन के पश्चात् जो अवशेष बचता है वह आँतों की मांसपेशियों की क्रियाशीलता बढ़ाता है। सूखा या कम तरल भोजन खाना चाहिए, क्योंकि यदि भोजन सूखा हो तो लार के साथ मिलकर संतृप्त रहेगा, जिससे आँतों को चिकनाहट मिलेगी। इससे पाचन संस्थान क्षारीय हो जायेगा और पाचन में तीव्रता आ जायेगी।

अन्य सुझाव

- दिन में जितनी बार खाना खाया जाये उसके अनुसार ही प्रतिदिन पेट साफ होना चाहिए। आँतों की आदत बनाने के लिए प्रतिदिन निश्चित समय पर शौच के लिए जायें।

- प्रत्येक बार भोजन के पश्चात् कुछ सन्तुलित व्यायाम भी लाभदायक हैं। कभी भी भोजन के तुरन्त बाद लेटना या सोना नहीं चाहिए। इसके स्थान पर कुछ समय तक वज्रासन में बैठें, तत्पश्चात् थोड़ा टहलें।
- एक स्वस्थ शरीर के लिए खुले स्थान में कुछ व्यायाम, तेजी से चलना, तैरना, साइकिल चलाना आदि अत्यन्त आवश्यक है।
- सुबह और शाम दोनों समय ठण्ढे पानी से ही स्नान करें।
- विरेचक दवायें (जुलाब) हानिकारक होती हैं। अत: इनका प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि इनकी आदत आसानी से पड़ जाती है और आँतों की क्रियाशीलता पूरी तरह इन पर निर्भर हो जाती है।
- अधिक मात्रा में पानी पीयें। दिनभर में कम-से-कम 8–10 गिलास पानी पीना चाहिए। सुबह उठते ही 2–3 गिलास सादा पानी पीकर शंखप्रक्षालन समूह के आसन करने या टहलने से पेट तुरन्त साफ होगा।

पेप्टिक अल्सर

पेप्टिक अल्सर एक ऐसे संरक्षक घाव का नाम है, जो *ग्रसन-नलिका* के निचले छोर, *आमाशय भित्ति* अथवा *पाइलोरिक कपाट* के पास ग्रसनी के ऊपरी भाग में से किसी भी स्थान पर हो सकता है। आमाशय में लम्बे समय तक बार-बार प्रदाह के दौरे पड़ने तथा अति अम्लीयता होने का यह अन्तिम परिणाम है। पेप्टिक अल्सर से पीड़ित व्यक्ति अक्सर यह बतलाता है कि उसे अपचन अथवा पेट की तकलीफ की पुरानी शिकायत है, तथा उसके पेट में बराबर दर्द बना रहता है।

पेप्टिक अल्सर के अधिकांश लक्षण अपचन के लक्षणों से मिलते-जुलते हैं। इसीलिए सिर्फ लक्षणों के आधार पर ऊपरी पाचन नली के कम गम्भीर दोषों से पेप्टिक अल्सर की अलग पहचान करना काफी मुश्किल पड़ता है। अत: इस रोग के पूर्ण निदान के लिए विशेष जाँच उपकरणों की सहायता लेनी पड़ती है। इसका सबसे सरल उपाय है बेरियम का घोल पिलाकर एक्स-रे द्वारा चित्र लेना। बेरियम चूँकि एक्स-रे के लिए अपारदर्शी है, अत: घाव में भरकर एक विशिष्ट छाया पैदा करता है। एक्स-रे चित्र देखने पर पेप्टिक अल्सर का घाव आमाशय अथवा ग्रसनी की भित्ति पर एक सफेद कटोरेनुमा आकृति के सदृश दिखलाई पड़ता है। आजकल आधुनिक चिकित्सक एक *फाइबर ऑप्टिक गैस्ट्रोस्कोप* (तन्तुक प्रकाशीय आमाशयदर्शी यंत्र) का प्रयोग करते हैं, जिसमें वे एक नली मुख से पेट के भीतर तक प्रविष्ट कर वास्तविक स्थिति को देख लेते हैं। इसमें बिना किसी चीरफाड़ के घाव का निदान 'प्रत्यक्ष दर्शन' द्वारा कर लिया जाता है।

चिकित्सा विज्ञान में पेप्टिक अल्सर को दो प्रकारान्तरों में विभक्त किया गया है। यह विभाजन इस आधार पर किया गया है कि घाव किस हिस्से में है – (1) आमाशय का घाव *(गैस्ट्रिक अल्सर)*, जो आमाशय की भित्ति में पाया जाता है, तथा (2) ग्रसनी का घाव *(ड्यूडेनल अल्सर)* जो आमाशय से जुड़ी हुई आँत (ग्रसनी) के प्रारम्भिक हिस्से में होता है। इसके लक्षणों तथा प्रभाव के ढंग में कुछ भिन्नता होती है।

आमाशय का घाव (गैस्ट्रिक अल्सर)

आमाशय के अल्सर का मुख्य लक्षण है – छाती के बीचों-बीच तीव्र पीड़ा अथवा काटता हुआ दर्द होना, जो भोजन के तुरन्त बाद उठता है। पेट के ऊपरी हिस्से को दबाने से भी पीड़ा का अनुभव होता है। कभी-कभी घाव से आन्तरिक रक्तस्राव होने पर खून की उल्टियाँ भी हो सकती हैं। भोजन से उठने वाले दर्द के कारण मरीज की क्षुधा समाप्त हो जाती है तथा वजन घटने लगता है। यह अवस्था बार-बार होने वाले दीर्घकालीन जठरशोथ *(गैस्ट्राइटिस)* के पश्चात् उत्पन्न होती है। गरिष्ठ मसालेदार भोजन, मद्यपान तथा धूम्रपान इत्यादि इसे बदतर स्थिति में पहुँचा देते हैं तथा दूध, सादे भोज्य पदार्थ एवं उपवास से व्यक्ति को राहत महसूस होती है।

रोगी अधिकतर युवा अथवा अधेड़ वय का पुरुष होता है, जो दुबला-पतला तथा तनावग्रस्त व्यक्तित्व वाला होता है। आमाशय के घाव अक्सर ऐसे व्यक्तियों में पाये जाते हैं जो बहुत प्रतिस्पर्द्धात्मक व्यक्तित्व के स्वामी होते हैं, जिनके जीवन में बार-बार तनावपूर्ण परिस्थितियों के उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। ऐसे लोगों की निराशा एवं कुंठा बर्दाश्त करने की क्षमता न्यून होती है तथा वे अपने 'सफलता प्राप्ति अभिमुख' तनावों को एक क्षण के लिए भी पीछे नहीं छोड़ते और दुर्भाग्यवश वे अपने 'दु:खों को भुलाने' के लिए शराब और सिगरेट का सहारा लेते हैं जो उनकी अवस्था को और भी खराब कर देते हैं। ये दोनों आदतें अपने आप में आमाशय क्षोभक हैं। ये रोग उत्पन्न करने के सिवाय कोई अन्य कार्य नहीं करते, बल्कि घाव को और अधिक कुरेद देते हैं।

अल्सर-पीड़ित व्यक्ति सिर से पैर तक चिन्ता का पुतला होता है। उसकी यही चिन्ता उसे खा जाती है। वह सफलता, असफलता, क्षमता प्रदर्शन,

कार्यक्षेत्र, बीमारी, वफादारी, धोखा इत्यादि का बहाना लेकर चिन्ता करता रहेगा। हर व्यक्ति में तनाव का कारण भिन्न हो सकता है। मगर अबाध चिन्ता सभी रोगियों में अनिवार्यत: मूल कारण है।

ग्रसनी का घाव (ड्यूडेनल अल्सर)

छोटी आँत के बिल्कुल प्रारम्भिक हिस्से को, जहाँ पर आमाशय से सारा रस, रसायन निहित भोजन का घोल, एक सन्धिकपाट (पाइलोरिक वाल्व) में से होकर पहुँचता है, उसे *ग्रसनी* कहते हैं। इसी हिस्से की भित्ति में घाव हो जाने को *ड्यूडेनल अल्सर* कहा जाता है। यहाँ के घाव से सम्बन्धित पीड़ा पेट के बीचों-बीच गहराई में महसूस होती है। यह पीड़ा खाली पेट में अधिक होती है तथा भोजन लेने से कम हो जाती है। यह लक्षण आमाशय के अल्सर की पीड़ा से बिल्कुल विपरीत है। इसी कारण व्यक्ति बार-बार कुछ खाता रहता है, फलस्वरूप उसका वजन बढ़ जाता है।

रोगी की नींद अक्सर सुबह-सुबह पीड़ा होने से टूट जाती है, क्योंकि रात भर में पेट खाली हो जाता है, इसलिए उठकर दूध पीने से आराम महसूस होता है। दूध अम्ल को तो शान्त करता ही है, साथ ही आमाशय एवं ग्रसनी की भित्ति पर शीतल प्रभाव भी डालता है।

अल्सर का कारण

चिकित्सा विज्ञान एवं योग, दोनों इस बात से सहमत हैं कि पेप्टिक अल्सर एक मनोकायिक रोग है। प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि पेट की भीतरी त्वचा हमारी भावनात्मक परिस्थितियों के प्रति अतिसंवेदनशील तथा सुग्राहक है। किसी भी भयोत्पादक अथवा खतरे वाली स्थिति में यह पीली पड़ जाती है। शरीर क्रिया-विज्ञानी अब यह पहचानने लगे हैं कि भावनात्मक तनाव एवं मानसिक दबाव के सभी तत्त्व पाचन तन्त्र के अंगों एवं ग्रंथियों पर अनुकंपी (सिम्पेथेटिक) एवं परानुकंपी (पैरासिम्पेथेटिक) तंत्रिकाओं के माध्यम से संप्रेषित होते हैं।

ऐसे व्यक्ति जिन्हें चिन्ता खाये जा रही हो, जो भयग्रस्त तथा लगातार कुंठा के दबाव में रह रहे हों, उनके मस्तिष्क के नाड़ी केन्द्रों से लगातार आवेग उत्सर्जित होकर अनुकम्पी एवं परानुकम्पी तंत्रिकाओं को उत्तेजित करते रहते हैं। इन तंत्रिकाओं से आवेग आमाशय की भित्ति तक पहुँच कर

उससे अम्ल का क्षरण बढ़ाकर तथा आमाशय की क्रियाशीलता में वृद्धि कर उसमें ऐंठन उत्पन्न कर देता है। यही प्रक्रिया इस बात पर निर्भर किये बिना कि पेट में भोजन है या नहीं, रात-दिन पूरे समय चलती रहती है। साथ-ही-साथ लगातार धूम्रपान, मद्यपान और गरिष्ठ भोजन द्वारा 'मुख उत्तेजन' की प्रक्रिया से भी तंत्रिकाओं में आवेग की वृद्धि होती रहती है। फलस्वरूप बार-बार अपचन तथा आमाशय भित्ति में क्षोभ व सूजन उत्पन्न होती रहती है। फलस्वरूप बार-बार अपचन तथा आमाशय भित्ति में क्षोभ व सूजन उत्पन्न होती रहती है। जैसे ही अति तीव्र अम्ल युक्त जठर रस *(हाइड्रोक्लोरिक अम्ल तथा पेप्सिन)* इस सूजी एवं रुग्ण त्वचा के सम्पर्क में आता है तो संक्षारक प्रक्रिया से छाले बन जाते हैं तथा पीड़ा एवं जलन की अनुभूति होने लगती है। अम्ल की तीव्र संक्षारक प्रक्रिया तथा रुग्न भित्ति की घटी हुई प्रतिरोधक क्षमता दोनों ही एक साथ मिलकर भित्ति के मांस और त्वचा को गलाकर वहाँ घाव बना देते हैं।

जिस प्रकार शरीर में किसी भी स्थान पर घाव हो जाने पर यदि हम लगातार उसे कुरेदते अथवा खरोंचते रहें, तो वह कभी ठीक नहीं होगा, उसी प्रकार एक बार अल्सर हो जाने पर अम्ल की क्षारक-प्रक्रिया से बार-बार घाव हरा होता रहता है तथा ठीक नहीं हो पाता।

अल्सर के दर्द की क्रियाविधि

पेप्टिक अल्सर का घाव आमाशय की भित्ति में एक छोटे से गड्ढे के सदृश दिखलाई पड़ता है। इस गड्ढे के तल में संवेदी तंत्रिकाएँ नग्न तारों की भाँति बिछी रहती हैं, सामान्यत: जो त्वचा के नीचे दबी रहती थी, वे अब अनावृत्त हो चुकी होती हैं। जब कभी अम्ल अल्सर के गड्ढे में पहुँचता है तथा इन संवेदी तंत्रिकाओं को छूता है तो उनमें तीव्र आवेशीय अनुस्पन्द होने से दर्द और जलन की अनुभूति होने लगती है।

अल्सर के दर्द की सम्पूर्ण मनो-शरीरविज्ञानी-प्रक्रिया को एक ही प्रश्न में समाहित किया जा सकता है। 'तुम्हें क्या खाए जा रहा है?' रोगी वस्तुत: स्वयं अपने आपको खाये जा रहा है। अपने अनसुलझे मानसिक द्वन्द्वों, भावनात्मक तनाव और उत्तेजना को व अर्थहीन लतों एवं भोजन की गलत आदतों में परिवर्तित कर अपने पेट के अम्ल से अपने ही पेट को गलाये जाता है।

संभावित घातक जटिलताएँ

पेप्टिक अल्सर से दो विलक्षण मगर अत्यन्त संघातिक जटिलताएँ जुड़ी हुई हैं। वे हैं – पेट का फटना और रक्तस्राव। परफोरेशन या पेट का फटना तब होता है जब घाव का गड्ढा गहरा होते-होते आमाशय भित्ति के आर-पार छेद कर देता है। फलस्वरूप पेट का अम्ल एवं भोज्य पदार्थ रोगाणुविहीन पेरिटोनियल गुहा में प्रवेश कर फैल जाते हैं। रक्तस्रवण तब होता है जब अल्सर का घाव किसी बड़ी रक्तवाहिनी में छेद कर देता है। फलस्वरूप थोड़ी ही देर में फटी हुई रक्त नलिका से रक्त की काफी मात्रा निकल जाती है। इन दोनों जटिलताओं से प्रघात की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तथा फौरन शल्य-चिकित्सा अनिवार्य हो जाती है। यदि उपयुक्त मेडिकल सहायता समय पर उपलब्ध न हो तो रोगी की मृत्यु तक हो जाती है।

अल्सर का इलाज

अल्सर पीड़ित व्यक्ति अपने आप को ऐसी विवश कर देने वाली परिस्थिति में पाता है जहाँ से बाहर निकलने का मार्ग ढूँढ़ना मुश्किल हो जाता है। केवल ओषधि सेवन से मात्र कुछ दिनों के लिए लाक्षणिक आराम मिलता है, मगर रोग पुरानी जीवनचर्या में वापस लौटते ही पुन: जकड़ लेता है। इसी कारण से अनेक चिकित्सकों को अक्सर शल्य क्रिया द्वारा आमाशय के रोगग्रस्त भाग निकालकर फेंकना ही पड़ता है। इस शल्य-क्रिया का प्रारूप परानुकम्पी *(पैरा सिम्पेथेटिक)* तंत्रिकाओं को काटना तथा आमाशय के एक हिस्से को भी निकालना होता है, मगर फिर भी कई बार अल्सर पुन: हो जाता है।

वे चिकित्सक जो योग को अपनी चिकित्सा के एक अंग के रूप में स्वीकार कर चुके हैं, उनका कहना है कि ओषधियों के साथ योगाभ्यास का मेल अल्सर के घाव को पूर्णत: स्वस्थ करने का सर्वोत्तम उपाय है। अकर्मण्य बना देने वाली चिन्ताओं एवं समस्याओं को अधिक आसानी से सुलझाया जा सकता है, पुराने व्यसनों से मुक्ति पायी जा सकती है तथा आधुनिक जीवन के दबावों एवं रोगों के बीच रहकर भी एक अधिक सन्तुलित जीवन व्यतीत करना सम्भव हो जाता है।

ओषधि-चिकित्सा के साथ योगाभ्यासों को जोड़ देने पर अल्सर पीड़ित व्यक्तियों के जीवन में एक अनुकूल एवं वांछित परिवर्तन लाया जा सकता है,

जो रोग को जड़ से समाप्त कर उसके पुन: होने की अथवा शल्य क्रिया के आवश्यकता की संभावना को समूल समाप्त कर देता है।

ओषधियों की भूमिका

ओषधियों द्वारा अल्सर का इलाज मुख्यत: लाक्षणिक ही है। इसमें 'एन्टासिड' यानी अम्ल का उदासीनीकरण करने वाली ओषधियाँ तथा अन्य ओषधियाँ, जो अम्ल का उत्पादन एवं आमाशय की ऐंठन को कम करती हैं तथा कुछ अन्य ओषधियाँ, जो घाव को भौतिक रूप से ढक लेती हैं, उनका प्रयोग किया जाता है। जब घाव भर जाये और दर्द एवं जलन बन्द हो जाये, तब इन ओषधियों को बिना किसी खतरे के बन्द किया जा सकता है।

योग अवश्यत: अल्सर पीड़ितों की सहायता कर सकता है। यह उन्हें एक अधिक सन्तुलित, आनन्ददायी एवं प्राकृतिक जीवनचर्या का मार्ग दिखा सकता है, जिसका आधार नियमित दिनचर्या, पोषक सादा भोजन, आसन, प्राणायाम, शिथिलीकरण इत्यादि के अभ्यास हैं, जो उसे बुरे व्यसनों, आदतों, चिन्ताओं एवं तनावों से मुक्त करते हैं। मनुष्य के जीवन में ऐसी जीवनचर्या का अभाव होने पर ही रुग्णता समीप आती है। जैसे ही प्राण शक्ति का बढ़ना प्रारम्भ होता है पुनरुत्थान एवं स्वास्थ्य-प्रदायिनी शक्तियाँ कार्यरत् हो बीमारियों को दूर भगा देती हैं तथा मरीज अपने अन्दर स्वास्थ्य एवं स्फूर्ति का अनुभव करता है।

अल्सर का यौगिक उपचार

पूर्णरूपेण विश्राम एवं वातावरण परिवर्तन अल्सर के सफल यौगिक इलाज की प्राथमिक आवश्यकता है। इस प्रकार इसमें पीड़ित व्यक्ति अपने मन को कार्यक्षेत्र एवं सम्बन्धों इत्यादि के तनावों से पूर्णत: हटा सकेगा। कम-से-कम एक महीने तक आश्रम वातावरण में रहना इस लक्ष्य की पूर्ति में आदर्श साबित होगा।

प्रारम्भ में रोगी को पूर्ण आराम लेना चाहिए। जब नींद आये तभी सोना तथा जब इच्छा हो, तब बिना थके थोड़ा घूमना-फिरना किया जा सकता है। उसे किसी भी प्रकार की जिम्मेदारी अथवा कार्यक्षेत्र की परेशानियों के बोझ से पूर्णत: मुक्त कर देना चाहिए। परिणामस्वरूप उसे शीघ्र ही बहुत मानसिक शान्ति एवं हल्कापन महसूस होगा।

1. *आसन*– सरलता से किये जा सकने वाले आसनों का अभ्यास ओषधीय चिकित्सा के लगभग दो हफ्ते के पश्चात्– जब घाव भर चुका हो तथा दर्द बन्द हो गया हो, प्रारम्भ किया जा सकता है। इन्हें प्रतिस्पर्द्धात्मक ढंग से नहीं, बल्कि आनन्दपूर्वक करना चाहिए, जिसमें शिथिलीकरण एवं सजगता बनाये रखने पर ज्यादा ध्यान दिया जाए। पवनमुक्तासन भाग 1 एवं भाग 2 का अभ्यास प्रतिदिन लगभग दो हफ्ते तक करें। तत्पश्चात् क्षमतानुसार सूर्य नमस्कार अगले दो हफ्तों तक करें। शशांकासन एवं शवासन भी किये जा सकते हैं।
2. *प्राणायाम*– भ्रामरी एवं नाड़ी शोधन प्राणायाम के अभ्यास से शान्ति प्राप्त होगी, इन्हें प्रतिदिन बिना अनावश्यक जोर लगाये करें।
3. *षट्क्रिया*– नेति एवं लघुशंखप्रक्षालन कुछ समय बाद किये जा सकते हैं, मगर कुंजल इस रोग के रहते कभी नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे घाव भरने की प्रक्रिया पर दुष्प्रभाव पड़ सकता है। किसी ऐसे मरीज को, जो खून की उल्टी अथवा पखाना के रास्ते से खून आने की शिकायत करता हो, उन्हें कुंजल कभी नहीं सिखलाना चाहिए।
4. *शिथिलीकरण*– आन्तरिक द्वन्द्वों एवं तनावों से मुक्ति पाने के लिए प्रतिदिन योगनिद्रा का अभ्यास करें। यह मनोभावनात्मक शिथिलीकरण उत्पन्न करता है एवं शान्ति प्रदान करता है।
5. *कर्मयोग*– टेबल-कुर्सी पर कागजी कार्यवाही करने वाले उत्तेजित व्यक्ति के लिए अत्यन्त लाभकारी उपचार है – कर्मयोग। किसी भी साधारण कार्य को गैर प्रतिस्पर्द्धात्मक ढंग से करना, उदाहरणार्थ– लकड़ी काटना, सफाई, बागवानी या कोई अन्य काम कुछ घण्टों तक समर्पण की भावना से करना। कर्मयोग से मानसिक ऊर्जा मुक्त होती है, शिथिलीकरण होता है तथा सृजनशीलता अभिव्यक्त होती है।
6. *भोजन*– प्रारम्भ में केवल फल और दूध का आहार सर्वोत्तम माना गया है, जिससे घाव जल्दी भरता है। अन्यथा उबली सब्जियों का सूप, खिचड़ी, दूध तथा सादे फल भी लिये जा सकते हैं। किसी भी कीमत पर तले हुए मसालेदार गरिष्ठ भोजन, सिगरेट एवं मद्यपान से अवश्य परहेज करें।

कोलाइटियस (वृहदांत्रशोथ)

कोलाइटिस अथवा वृहदांत्रशोथ एक ऐसा शब्द है जो बड़ी आँत में होने वाली कई बीमारियों को दर्शाता है। भारत में यह शब्द अधिकतर आँवयुक्त दस्त के लिए प्रयुक्त किया जाता है जो *एन्टामीबा* नामक कीटाणु के संक्रमण से होती है। उसे *क्रॉनिक एमीबियासिस* भी कहते हैं। पूर्व के देशों में यही शब्द एक जीर्ण मनोकायिक बीमारी के लिए प्रयुक्त किया जाता है जिसे अल्सरेटिव कोलाइटिस कहते हैं। इसमें बड़ी आँत में लाखों छोटे घाव बनकर सूजन उत्पन्न कर म्यूकस का स्राव बढ़ा देते हैं।

कोलाइटिस को मोटे तौर पर दो भागों मे विभक्त किया जा सकता है, एक विशिष्ट कारणों से तथा दूसरा 'अज्ञात' कारणों से उत्पन्न होने वाली कोलाइटिस। विशिष्ट अथवा ज्ञात कारणों से होने वाली कोलाइटिस के उदाहरण में संक्रमण से होने वाले रोग, जैसे, *अमीबियासिस* तथा आँतों का क्षयरोग, इत्यादि आते हैं। हालाँकि आजकल आँतों का क्षयरोग लगभग नहीं ही पाया जाता है, अत: अमीबियासिस ही इस श्रेणी का एकमात्र रोग बचता है। अज्ञात कारणों वाली श्रेणी में ऐसे रोग सम्मिलित हैं, जिनके कारणों का अभी तक पता नहीं चल पाया है । इस श्रेणी के दो सबसे अधिक पाये जाने वाले रोग हैं– *अल्सरेटिव कोलाइटिस* तथा *इरिटेबल कोलॉन,* दोनों रोगों में मनोदैहिक कारणों की मुख्य भूमिका होती है।

रोग के लक्षण

वृहद् आंत्रशोथ *(कोलाइटिस)* के मुख्य लक्षण हैं– आँव के साथ दस्त, मुख्यत: जल युक्त दस्त, जो दिन में कई बार लगते हैं, पेट दर्द जो छूने

या दबाने से बढ़ता है तथा दस्त से दुर्गंध आना। अधिक गम्भीर रोगियों में रक्तमिश्रित पीव का आना अन्य लक्षण हैं।

अक्सर यह तकलीफ घटती-बढ़ती रहती है। कई वर्षों तक रोग थमने और पुन: होने का सिलसिला चलता रहता है। रोग से मरीज कमजोर एवं दुर्बल हो जाता है तथा उसे रक्त अल्पता (एनीमिया) हो जाती है।

रोग के कारण

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की खोजों ने यह दर्शाया है कि तनाव और दबाव इस रोग को उत्पन्न करने एवं बढ़ाने में मुख्य भूमिका निभाते हैं। वातावरण के दबाव तथा प्राकृतिक विपदाओं द्वारा निर्मित तनावात्मक परिस्थितियाँ इस रोग की शुरुआत करने में महत्त्वपूर्ण कारक हैं। इसी कारण से इस रोग का इलाज करते समय मनोदैहिक कारणों को ख्याल में रखना आवश्यक हो जाता है। उदाहरण के तौर पर एक मन्द प्रकृति का एवं अल्पकालीन रोग 'स्टूडेन्ट डायरिया', (विद्यार्थियों का दस्त रोग) देखा जाता है, जो कई चिन्तातुर एवं उद्वेलित मानसिकता वाले कॉलेज के छात्रों में मुख्य परीक्षा के कुछ हफ्तों पूर्व से ही प्रारम्भ हो जाता है। इससे बार-बार होने वाले दस्त से केवल पढ़ाई में ही दखल नहीं पड़ता, वरन् उन्हें कालावधि से बाहर निकलने तक प्रशांतक ओषधियों *(ट्रेंक्वेलाइजर्स)* का सहारा भी लेना पड़ता है।

ओषधीय चिकित्सा

अभी तक आधुनिक चिकित्सा विज्ञान इस रोग के ठीक-ठीक कारणों का पता लगाने तथा उन्हें समझने में काफी हद तक विफल रहा है एवं इस बीमारी का पूर्ण इलाज अब तक सम्भव नहीं हो पाया है। चिकित्सक ज्यादा-से-ज्यादा इस बीमारी को नियंत्रण में ला सकते हैं, मगर पूर्ण इलाज उनके वश के बाहर है। क्रॉनिक कोलाइटिस के दस्त बन्द करने हेतु प्रतिजैविकीय *(एन्टी बायोटिक्स)* ओषधियाँ एवं आँतों की आँतरिक तंत्रिकाजन्य क्रियाशीलता को कम करने वाली ओषधियाँ मुख्य रूप से इस्तेमाल की जाती रही हैं, हालाँकि कुछ नई ओषधियाँ काफी प्रभावकारी रही हैं, मगर वे सभी लक्षणों को दबाती हैं तथा मूल कारण जहाँ का तहाँ रहता है।

यह सोचा जाता था कि *'कॉर्टिकोस्टीरॉयड'* ओषधियों का उपयोग अल्सरेटिव कोलाइटिस जैसे रोग के इलाज में क्रांतिकारी परिवर्तन ला

देगा। इनसे कुछ सीमित लाभ तो अवश्य होता है, मगर लम्बे समय में इन ओषधियों के पार्श्व प्रभाव (साइड इफेक्ट) रोग से कहीं ज्यादा गम्भीर साबित होते हैं।

अति गंभीर अल्सरेटिव कोलाइटिस में शल्य क्रिया द्वारा बड़ी आँत को ही बाहर निकाल दिया जाता है। जब मलाशय (रेक्टम) को भी आँत के साथ बाहर निकाला जाता है तो मल निष्कासन के लिए पेट के सामने वाले हिस्से में कृत्रिम गुदा का निर्माण किया जाना आवश्यक हो जाता है। ये सभी शल्य क्रिया विधियाँ रोगी की जीवनचर्या में स्थायी एवं असुविधाजनक प्रतिबन्ध उत्पन्न कर देती हैं। उनका जीवन स्वस्थ व्यक्ति की भाँति उन्मुक्त न होकर एक सीमित दायरे में सिमट जाता है और यदि इन विकृतियों को योग के अभ्यास से टाला जा सकता हो तो चिकित्सक और मरीज दोनों, इस बात पर सहमत होंगे कि यदि रोग की दशा अनुमति दे तो कम-से-कम छः महीने का समय यौगिक पद्धति से रोग को नियंत्रित करने की कोशिश की जानी चाहिए।

पाचन शक्ति का पुनरुत्थान

यौगिक क्रिया विज्ञान के अनुसार कोलाइटिस या वृहदांत्रशोथ एक ऐसा रोग है जो पाचन शक्ति (जठराग्नि) के मन्द पड़ जाने से होता है। जठराग्नि का सम्बन्ध अग्नि तत्त्व एवं मणिपुर चक्र से है। जठराग्नि मन्द पड़ जाने के फलस्वरूप रोगोत्पादक जीवाणुओं की संख्या में वृद्धि होती है तथा आँतों की रासायनिक एवं मांसपेशीय प्रक्रियाएँ मन्द पड़ जाती हैं। इन सब ह्रासीय प्रक्रियाओं के कारण प्रतिरोधी क्षमता भी असन्तुलित रूप से उत्तेजित हो रोग से लड़ने की बजाय और उल्टे नुकसान पहुँचाना प्रारम्भ कर देती है।

आँतों की अपूर्ण क्रियाशीलता के कारण भोजन ठीक ढंग से पच नहीं पाता तथा बिना पचे हुए अपशिष्ट पदार्थ मल के साथ निकल जाते हैं। ये अधपचे पदार्थ एवं जीवाणु, दोनों की प्रतिक्रिया के कारण ही रोगी के मल से दुर्गंध आती है। यौगिक चिकित्सा का लक्ष्य प्राण ऊर्जा और जठराग्नि दोनों को ही बढ़ाना है, जिससे पूरी अव्यवस्थित प्रक्रिया को पुनर्सन्तुलित किया जा सके। योगाभ्यास द्वारा स्वास्थ्य और आरोग्य का मार्ग प्रशस्त होता है।

कोलाइटिस का यौगिक समाधान

यह कार्यक्रम उन सभी लोगों के लिए अनुशंसित है जो दीर्घ कालीन दस्त, आंव, अल्सरेटिव कोलाइटिस, इरिटेबल कोलॉन और तनावजन्य पेचिश इत्यादि रोगों से पीड़ित हैं। रोग की तीव्र (एक्यूट) अवस्था समाप्त होने पर क्षमतानुसार अभ्यास प्रारम्भ किया जा सकता है। नियमित एवं नियन्त्रित अभ्यास अवश्य फलदायी सिद्ध होंगे।

आसन

1. पवनमुक्तासन भाग – 1 और भाग – 2 से प्रारम्भ करें, तत्पश्चात् शक्ति बंध समूह के अभ्यास करें। वज्रासन के सरल अभ्यास से प्रारम्भ कर धीरे-धीरे भुजंगासन, धनुरासन, शलभासन, पश्चिमोत्तानासन, सर्वांगासन, हलासन, मत्स्यासन, चक्रासन, अर्धमत्स्येन्द्रासन, मयूरासन, पद्मासन, शवासन, अंततः शीर्षासन तक का अभ्यास करते जाइये।
2. *प्राणायाम* – शीतली, शीतकारी, नाड़ीशोधन एवं उज्जायी।
3. *मुद्रा एवं बन्ध* – विपरीतकरिणी मुद्रा, योग मुद्रा, अश्विनी मुद्रा एवं मूलबन्ध।
4. *षट्क्रिया* – लघु शंखप्रक्षालन, कुंजल एवं नेति, अग्निसार क्रिया (अल्सरेटिव कोलाइटिस वाले रोगियों के लिए नहीं) का अभ्यास किया जा सकता है, जब आरोग्य की प्रक्रिया पूरी तरह संस्थापित होने के मार्ग पर अग्रसर हो।
5. *शिथिलीकरण* – योग निद्रा का अभ्यास प्रतिदिन करें तथा शवासन में लेटकर उदर श्वसन की चेतना बढ़ाने का प्रयास करें।
6. *ध्यान* – अन्तर्मौन का अभ्यास एक विशिष्ट स्थान रखता है। इससे रोगी अपने अवचेतन मन में छिपे कारणों का पहचानने एवं उन्हें नष्ट करने में सफलता प्राप्त कर सकता है जो कोलाइटिस के दौरे को रोकने में मुख्य भूमिका निभाते हैं।

अन्य भोजन सम्बन्धी सुझाव

अल्सरेटिव कोलाइटिस का इलाज करते समय ऐसे विशिष्ट भोजन का चुनाव आवश्यक है जो सालों से ग्रस्त बड़ी आँत पर बिना जोर डाले पोषक तत्त्व शरीर में पहुँचा सके। योग चिकित्सा के दौरान यदि आँतों पर ज्यादा

जोर न डाला जाये तो पाचन शक्ति बहुत तीव्र गति से बढ़ती है। यह कथन सभी प्रकार की कोलाइटिस के लिए सत्य है।

सामान्य भोज्य पदार्थ, नमक और पानी न्यूनतम मात्रा में ग्रहण करने से तथा उसके स्थान पर दूध लेने से इस लक्ष्य की पूर्ति सम्भव है।

सामान्य भोजन के स्थान पर दूध आदर्श प्रतिस्थापन आहार है। सम्पूर्ण चिकित्सा काल के दौरान इस प्रतिस्थापन का पालन करें। दूध अपने आप में सम्पूर्ण आहार है जो सभी आवश्यक पोषक पदार्थों की आपूर्ति करता है तथा न्यूनतम अपशिष्ट पदार्थ उत्पन्न करता है। कोलाइटिस स्वास्थ्य लाभ करते समय बड़ी आँत को किसी भी प्रकार के क्षोभन से मुक्त रखना चाहिए। अत: दूध इस मामले में आदर्श सिद्ध होता है, क्योंकि यह आँत के घावों को शान्ति से भरने देता है।

सादी खिचड़ी (चावल, मूंग की दाल, सब्जियों के साथ उबालकर बनाई हुई) एवं दलिया भी हल्के भोज्य पदार्थ हैं जो पाचन शक्ति पर न्यूनतम दबाव डालते हैं तथा दूध के साथ ग्रहण किया जा सकता है। हालाँकि दूध को इन सुपाच्य पदार्थों से एक-दो घण्टे पहले या बाद में लेना चाहिए, क्योंकि एक साथ लेने पर वे ठीक से आपस में मिलते नहीं हैं।

आंव की पेचिश *(अमीबिक डीसेन्ट्री)* पड़ने पर दो सौ ग्राम दही लें तथा उसमें दो चम्मच शक्कर और तीन गिलास ठण्ढा पानी मिलायें। मिश्रण को अच्छी तरह घोल कर पतले कपड़े से साफ बर्तन में छान लें। इसी घोल में पुन: दो या तीन गिलास ठण्ढा पानी मिलाएँ एवं साफ बर्तन में फिर से छान लें। अब इसे जितनी बार भी पी सकें, थोड़ा-थोड़ा करके पीते जाएँ। कोई भी अन्य भोजन या पेय पदार्थ पानी सहित ग्रहण न करें जब तक दस्त समाप्त न हो जायें। तत्पश्चात् उपर्युक्त वर्णित योगाभ्यास का अभ्यास प्रारम्भ करें।

तीव्र पेचिस (गैस्ट्रो एन्टराइटिस)

तीव्र गैस्ट्रो एन्टराइटिस अक्सर अचानक हमला करने वाली एक बीमारी है। पेट दर्द और ऐंठन, ज्वर, उल्टी, दस्त तथा भूख में कमी हो जाना इसके लक्षण हैं। यह अधिकतर बच्चों में विपरीत आहार लेने अथवा आवश्कता से अधिक मात्रा में खाने के कारण होता है। इसी तरह व्यस्कों में किसी प्रकार की भोजन सम्बन्धी असावधानी या विषाक्त आहार इसके कारण हैं। यह ख्याल रखना चाहिए कि इस प्रकार की बीमारी कोई गम्भीर रोग नहीं है, बल्कि इस बात की सूचक है कि भोजन सम्बन्धी कोई गड़बड़ी हुई है और शरीर बिना किसी बाह्य सहायता के स्वयं स्वस्थ होना चाहता है। इस समय आवश्यकता है मात्र विश्राम की। जब तक इसके लक्षण परिलक्षित हों, तब तक भोजन ग्रहण न कर पूर्ण विश्राम करना चाहिए।

सामान्य उपचार

सामान्य बुखार और दस्त को दवायें लेकर रोकने का प्रयास नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे शरीर के त्याज्य पदार्थों के निष्कासन की क्रिया अवरुद्ध हो जाती है। इसके स्थान पर जब तक बुखार रहे तब तक उपवास करके ऊर्जा को संचित करने का प्रयत्न करना चहिए। ऐसा करने से निष्कासन कारगर सिद्ध होगा और लगभग दो या तीन दिनों में तेजी से पुनर्स्वास्थ्य भी प्राप्त किया जा सकेगा।

यदि बुखार बिना उतरे लगातार बना रहे या उल्टी-दस्त की लगातार गम्भीर स्थिति के कारण शरीर में निर्जलीकरण *(डीहाइड्रेशन)* की स्थिति आ जाये अथवा मरीज की स्थिति पहले से अधिक गम्भीर हो जाये तो सक्षम

चिकित्सकों की सहायता लेना आवश्यक है। यदि उसे संक्रमण के कारण हैजा या टायफॉयड जैसा रोग है तो इसे भी आसानी से पहचाना जा सकता है, क्योंकि इसमें उसकी स्थिति गिरती जाती है और वह अधिक बीमार होता जाता है। इस समय शक्तिशाली दवाएँ ही रोगी का उपयुक्त उपचार कर सकती हैं। चिकित्सक ही अपने अनुभव एवं विवेक द्वारा उक्त दोनों स्थितियों में भेद कर सकते हैं।

गैस्ट्रो एन्टराइटिस का योग द्वारा उपचार

सामान्य ज्वर को ठीक करने के लिए उपवास के साथ किसी शान्त स्थान में सम्पूर्ण विश्राम करना सर्वोत्तम उपाय है, क्योंकि लगातार भोजन करते रहने से बीमारी निश्चित रूप से बढ़ जायेगी। समय-समय पर बुखार आना, विशेष रूप से मौसम परिवर्तन के समय या कुछ समय तक अति आहार अथवा आहार सम्बन्धी असावधानी के कारण (जो कि वास्तव में प्राकृतिक बाधाएँ ही हैं) विश्राम करना अत्यावश्यक हो जाता है। विश्राम द्वारा शरीर पुन: शीघ्रता से अपने को व्यवस्थित कर लेता है। इसमें चिन्ता का कोई कारण नहीं है, क्योंकि यह कोई रोग नहीं है तथा इसमें विश्राम के अलावा अन्य किसी प्रकार की आवश्यकता भी नहीं होती। इस स्थिति का भी आनन्द लेना चाहिए, क्योंकि यह इस बात का संकेत है कि आपका स्वास्थ्य उत्तम एवं आपकी जैविक प्रतिरोधक क्षमता उच्च है।

उपवास के दौरान अधिक मात्रा में उबला या शुद्ध पानी पीना चाहिए। पानी में ग्लूकोज़, नमक, नींबू या लवण घोल लिए जा सकते हैं। लगातार बुखार अथवा दस्त की स्थिति में पतला, उबला हुआ मीठा बार्ली भी लिया जा सकता है। जब बुखार उतर जाता है तब फल या सब्जियों के रस अथवा पतले सूप और खिचड़ी से उपवास तोड़ सकते हैं।

सामान्यत: ज्वर और तीव्र रोगों की स्थिति में हठयोग की षट्क्रियाओं का अभ्यास नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि शरीर को स्वत: ही त्याज्य पदार्थों को निष्कासित कर शुद्ध होने देना चाहिए। रोग की जीर्ण एवं अपविकास की स्थितियों में जब शरीर की शुद्धिकरण प्रक्रिया में कमी आ जाती है तब नेति, कुंजल और शंख प्रक्षालन की क्रियाएँ अधिक उपयोगी सिद्ध होती हैं। यहाँ क्षीण हुए जैविक स्तर को शनै:-शनै: पुन: बढ़ाना अत्यन्त आवश्यक है, जिससे शरीर शुद्धिकरण एवं प्रतिजैविक प्रतिक्रिया को बढ़ाने में पुन: सक्षम

हो सके। दुर्बलता एवं जीर्ण रुग्णावस्था से पुनर्स्वास्थ्य प्राप्ति की क्रिया, योग के विभिन्न अभ्यासों एवं षट्क्रियाओं के विवेकपूर्ण उपयोग द्वारा तीव्रतर की जा सकती है।

मत्स्यक्रीड़ासन एवं शशांकासन पेट दर्द एवं ऐंठन को दूर करने में सहायता करते हैं। सोने के लिए मत्स्यक्रीड़ासन सर्वोत्तम स्थिति है। योगनिद्रा एवं उदर श्वसन का प्रतिदिन अभ्यास किया जाना चाहिए। अनुलोम-विलोम तथा सतत् जप करने से मन दर्द, कष्ट और बेचैनी से परे हट जाता है।

अप-अवशोषण रोग समूह

आँतों द्वारा भोज्य पदार्थों के अवशोषण की क्रिया में लम्बे समय तक होने वाली गड़बड़ी को अप-अवशोषण रोगों की संज्ञा दी जाती है। इन रोगों के समूह में अनेक बीमारियाँ आती हैं, जैसे– *स्प्रू, व्हीपल्स डिसीज, सीलियाक डिसीज* इत्यादि। इन सभी के विशेष लक्षण हैं– धीरे-धीरे क्षुधा में कमी, अपचन, मितली आना, उल्टी एवं पतले दस्त लगना, इत्यादि। पर्याप्त पोषण के अभाव में रोगी का वजन शनैः-शनैः घटता जाता है तथा उसे सामान्य भोज्य पदार्थों से अरुचि एवं घृणा होने लगती है। उसकी भोजन में एवं जीवन के प्रति अरुचि के समानान्तर उसकी पाचन शक्ति भी दिन-पर-दिन कमजोर होती चली जाती है। अल्परक्तता (एनीमिया) , शारीरिक कमजोरी तथा मानसिक दुबर्लता भी सामान्य लक्षण हैं। यह रोग-समूह लाक्षणिक आधार पर चिरकालिक यकृतशोथ (क्रॉनिक हेपेटाइटिस) से काफी मिलता-जुलता है, जिसमें भी थकावट, दुर्बलता, निराशा, शक्ति ह्रास तथा जीवन के प्रति अरुचि इत्यादि मुख्य लक्षण हैं।

अप-अवशोषण स्थितियों के कारण

अप अवशोषण रोग समूह की जड़ में एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक विमुखता या घृणा का भाव रहता है। इस भाव की उत्पत्ति किसी भी ऐसी परिस्थिति से होती है जिसमें पूर्व में रोगी को न चाहते हुए भी रहना पड़ा हो और यही, जीवन और भोजन के प्रति अरुचि तथा उसे पचाने एवं उसके स्वांगीकरण में बाधा पहुँचाता है। चूँकि वह व्यक्ति वातावरण के प्रति अपनी अरुचि को खुलकर व्यक्त नहीं कर पाता, अतः अचेतन रूप से यह तनाव एक कुंठा का

रूप धारण कर भोजन के प्रति अरुचि पैदा कर देता है। यह वस्तुत: ऐसी परिस्थिति है जिसमें सम्पूर्ण दृश्यमान जीवन परिस्थितियों एवं वातावरण के प्रति अवचेतन मन में गहराई से अस्वीकृति की भावना महसूस की जाती है।

अप-अवशोषण के विशिष्ट प्रकार

आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में अप-अवशोषण रोगों के कई प्रकार वर्णित किए गये हैं, जिसमें *'सीलियक डिसीज'* तथा छोटे बच्चों की वृद्धि में अकारण अवरोध उत्पन्न होना भी है। इस रोग में बच्चा गेहूँ से बने पदार्थों को, जो सामान्य भोजन एवं डिब्बा बन्द दूध के मुख्य अंग होते हैं, ग्रहण करने एवं पचाने में असमर्थ हो जाता है। शायद ये यह दर्शाता है कि वह छोटा बच्चा अपने घर के वातावरण में भावनात्मक रूप से घुटन अथवा मनोवैज्ञानिक अवरोध महसूस कर रहा है। चूँकि उसके पास इस वातावरण की अस्वीकृति अभिव्यक्त करने का कोई उपाय नहीं है, अत: वह अवचेतन रूप से उसे एक ही रूप में अभिव्यक्त कर सकता है – वह है उसकी आँतों द्वारा जबरदस्ती खिलाए गए भोजन की अस्वीकृति। भोजन के न पचने से शरीर को पोषक तत्त्व नहीं मिलते तथा बच्चा कुम्हलाकर कमजोर होता जाता है।

व्यस्कों में होने वाले अप-अवशोषण रोग, जिनमें *उष्णकटिबंधीय स्प्रू, लैक्टोस असहनशीलता* तथा *सीलियक रोग* इत्यादि आते हैं, वे सभी उपर्युक्त अस्वीकृति के ही बदलते हुए स्वरूप हैं। प्रत्येक रोग अस्वीकरण के एक ऐसे प्रकारान्तर का प्रतिनिधित्व करता है जो अलग-अलग वातावरण एवं परिस्थितियों द्वारा जनित अत्यन्त तीव्र अरुचि एवं अस्वीकरण का परिणाम है। *उष्णकटिबन्धीय स्प्रू* एक ऐसा अप-अवशोषण रोग है जो शीतोष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र में रहने वाले ऐसे व्यक्ति को होता है जो अपने आपको उष्ण कटिबंधीय क्षेत्र में रहने के लिए तैयार नहीं कर पाता है।

लैक्टोस असहनशीलता अधिकांशत: एशियाई एवं अफ्रीकी लोगों में पाई जाती है जो दूध को ठीक से नहीं पचा पाते अथवा यूरोपीय देशों के भोजन को, जिसमें दूध से बनी चीजों का अधिक प्रयोग किया जाता है, अपनी शारीरिक संरचना के प्रतिकूल पाते हैं। लैक्टोस असहनशीलता कई बच्चों में पाचन रसों के असम्पूर्ण निर्माण के कारण भी पाई जा सकती है।

व्यस्क सीलियक रोग या तो अपने जीवन के किसी परिवर्तनीय हिस्से से मनोवैज्ञानिक अरुचि दर्शाता है अथवा उसके शरीर द्वारा उसकी संस्कृति

के परिणामों एवं पृथ्वी के उस हिस्से का सम्पूर्ण बहिष्कार दर्शाता है जो प्रतीकात्मक रूप से उस धरती से उपजे अत्यन्त मूलभूत अन्नकणों के अस्वीकरण में प्रतिबिम्बित होता है।

अप-अवशोषण रोगों का यौगिक समाधान

इस योग कार्यक्रम का प्रारूप उन सभी व्यक्तियों की सहायता के लिए बनाया गया है जो कमजोर पाचन शक्ति, भूख न लगने, वजन घटने, अकारणीय अल्परक्तता *(एनीमिया)* तथा विकास रुकने से प्रभावित हैं।

1. *आसन*– शुरुआत पवनमुक्तासन भाग–1 समूह से करें। जब इसमें निपुणता हासिल हो जाए तब भाग–2 समूह का अभ्यास करें। इनको विशेषत: पाचन शक्ति को सुदृढ़ बनाने के लिए अभिरूपित किया गया है। इनसे शक्ति जाग्रत होगी तथा कमजोरी एवं मानसिक दौर्बल्य जाता रहेगा।

   दो हफ्तों के पश्चात् अपने कार्यक्रम को बदल कर उसमें शक्तिबंध समूह एवं वज्रासन समूह के आसनों का समावेश करें। जैसे शशांकासन, शशांकभुजंगासन, मार्जारी आसन तथा पर्वतासन इत्यादि। इनके अभ्यास से निम्न चक्रों एवं ऊर्जा बिन्दुओं के अवरोध दूर होंगे तथा ऊर्जा यहाँ से उर्ध्वगामी हो मध्य पाचक अंगों तक पहुँचेगी, जहाँ पर अवशोषण तथा पोषण की गड़बड़ी हो रही है, तथा रोग निवारक शक्ति प्रदान करेगी। सूर्य नमस्कार प्रारंभ कर संख्या बढ़ाते हुए 10 चक्र तक ले जाएँ। तत्पश्चात् शवासन में पूर्ण विश्राम करें तथा उदर श्वसन के प्रति सजगता विकसित करें।

   अंतत: पाँच प्रमुख आसनों का अभ्यास करें, जो पाचन प्रक्रिया को उत्तेजित करते हैं तथा 'समान वायु' को निपेक्षित करते हैं। वे हैं– पश्चिमोत्तानासन, हलासन, चक्रासन, अर्धमत्स्येन्द्रासन तथा मयूरासन। आसन की अन्तिम अवस्था में अपनी चेतना को शक्तिशाली रूप से पाचन अग्नि के मूल स्थान, अर्थात् मणिपुर पर केन्द्रित करें। प्रत्येक भोजन के पश्चात् वज्रासन में 10 मिनट तक बैठें तथा अपनी चेतना को पाचन प्रक्रिया पर केन्द्रित करें तथा उसे बढ़ाने की चेष्टा करें।

2. *प्राणायाम*– नाड़ी शोधन प्राणायाम (प्रथम अवस्था) का अभ्यास 5 चक्रों से प्रारंभ करें। दोनों नासिकाओं में श्वास के प्रवाह को बराबर रूप से

सन्तुलित करें। दो हफ्ते के पश्चात् द्वितीय अवस्था (एकान्तर नासिका श्वसन) का अभ्यास 15 चक्रों से प्रारंभ करें। श्वसन पर पूर्ण नियंत्रण विकसित करने की कोशिश करें, जिसमें श्वास को शान्त एवं सूक्ष्म रहना चाहिए। पूरक एवं रेचक में 1:2 का अनुपात बनाए रखने का प्रयास करते रहें। यह अभ्यास एक महीने तक करें। उसके बाद तृतीय अवस्था का अभ्यास अंतर्कुम्भक एवं जालन्धर बन्ध के साथ प्रारंभ करें। अभ्यास का लक्ष्य 1:4:2 का अनुपात होना चाहिए, मगर अनावश्यक जोर न लगाएँ। किसी जानकार व्यक्ति के निर्देशन में सीखें।

अन्त में नाड़ीशोधन प्राणायाम के चतुर्थ चरण में आयें। जिसमें अंतर्कुम्भक जालंधर बन्ध, उड्डियान बन्ध, मूल बन्ध तथा बाह्य कुम्भक (महाबन्ध) को भी जोड़ें। आपका लक्ष्य 1:4:2:2 अनुपात तक पहुँचना चाहिए। यह अभ्यास पाचन क्रिया को तीव्र बनाने में प्रभावकारी होगा। इससे प्राण शक्ति और जठराग्नि का उद्दीपन होगा।

अन्तर्बाह्य कुम्भक के साथ भस्त्रिका प्राणायाम का अभ्यास भी जोड़ें तथा इसमें दक्षता प्राप्त करने का प्रयास करें। अभ्यास के दौरान उठते-गिरते श्वास पटल पर अवधान रखिये। कल्पना कीजिए कि वह धौंकनी की तरह गतिशील होकर क्षुधाग्नि को प्रज्वलित कर रही है। 50-50 श्वास-प्रश्वास के तीन चक्रों तक अभ्यास कीजिए।

3. *षट्क्रियाएँ*– पहले दो हफ्तों तक नेति एवं कुंजल का प्रतिदिन अभ्यास करें। व्याघ्र क्रिया निर्बाध रूप से करने में दक्षता हासिल करें। व्याघ्र क्रिया, यानी भोजन करने के 2–3 घण्टे पश्चात् बिना पचे हुए अन्न का निष्कासन।
4. *शिथिलीकरण*– उदर श्वसन की चेतना बनाए रखते हुए योगनिद्रा का अभ्यास करें तथा 50 से 100 श्वासों की गिनती करें। तत्पश्चात् वक्ष एवं नासिका पर चेतना रखते हुए पुनः 50 से 100 श्वासों की गिनती करें।
5. *ध्यान*– अंतर्मौन की तीसरी अवस्था का अभ्यास करें। जब तक आप गहरे शिथिलीकरण की अवस्था का अनुभव न करने लगें तब तक आपको चेतन रूप से विचारों एवं भावनाओं का निर्माण तथा द्रष्टा भाव से उनका अन्तर्दर्शन करना चाहिए। जब आप भोजन करते हैं, उस समय इस आन्तरिक अनुभव को जाग्रत करें तथा अपनी पाचन प्रक्रिया को आदर्श रूप में सम्पादित होते हुए देखें। भोजन के प्रति जो नकारात्मक

भावना है, उससे ऊपर उठने की कोशिश करें। उन पोषक पदार्थों को आँतों से अवशोषित हो ऊर्जा रूप में सम्पूर्ण शरीर में प्रवाहित होता हुआ महसूस करें।

6. *भोजन*– भोजन के प्रति अपने नखरों को त्याग दें। भोजन ग्रहण करते समय जो भी आप कर रहे हैं उसकी सतत् चेतना को अक्षुण्ण रखें। चेतन रूप से भूख की संवेदना को महसूस कर उसे बनाए रखें, अपने मन को इस बात की सजगता से इधर-उधर फिसलने न दें। जो भी भोजन आप कर रहे हैं अपना ध्यान उसी पर केन्द्रित रखें एवं सजग रहें कि यह धरती माता की देन है। भोजन को दैवी प्रसाद मानकर आनन्दपूर्वक ग्रहण करें।

   सादा शाकाहारी भोजन ग्रहण करें। बाजार में मिलने वाले रंग-बिरंगे एवं चटपटे भोजन के प्रति अभिरुचि अर्थहीन है। भोजन की पोषकता पर ध्यान दें, न कि उसके बाह्य स्वरूप और क्षणिक स्वादानुभूति पर।

7. *उपवास*– यदा-कदा जब आपको बहुत भूख लग रही हो तो उसे नकारते हुए अगले भोजन तक कुछ नहीं खाएँ। यह उन मनोवैज्ञानिक अवरोधों को दूर करने का सबसे प्रभावशाली उपाय है, जो आपकी भूख का दमन किए हुए थे।

मधुमेह (डायबिटीज-मेलाइटस)

मधुमेह अथवा डायबिटीज मेलाइटस एक चयापचय सम्बन्धी रोग है जिसमें प्रमुख समस्या शरीर की कोशिकाओं द्वारा ग्लूकोज़ का उपयोग नहीं कर पाना होता है। दरअसल हम इस रोग की पहेली को दो हिस्सों में समझ सकते हैं। पहला तो यह कि ग्लूकोज़ अथवा शुगर क्या है? तथा दूसरे, शरीर द्वारा इसके उपयोग में क्या गड़बड़ी हो जाती है? जो भी मांड (स्टार्च) या शर्करायुक्त पदार्थ हम अपने भोजन द्वारा ग्रहण करते हैं, वे *कार्बोहाइड्रेट* के नाम से जाने जाते हैं तथा पाचन प्रक्रिया द्वारा इन्हें पचाकर मुख्यत: ग्लूकोज़ में परिवर्तित कर दिया जाता है। यह ग्लूकोज़ आँतों से अवशोषित हो (लीवर) यकृत में जाता है तथा वहाँ से आवश्यक मात्रा में रक्त के माध्यम से पूरे शरीर में फैल जाता है। यही ग्लूकोज़ शरीर के सभी अंगों, कोशिकाओं एवं विभिन्न प्रक्रियाओं को चलाने हेतु ईंधन रूप में प्रयूक्त होता है।

कोशिकाएँ ग्लूकोज़ का उपयोग स्वत: नहीं कर सकतीं। ग्लूकोज़ को कोशिकाओं के भीतर प्रविष्ट (करने) होने के लिए इन्सुलिन नामक हार्मोन की आवश्यकता पड़ती है। यदि इन्सुलिन न हो अथवा अल्प मात्रा में हो तो कोशिकाएँ ग्लूकोज़ होते हुए भी ईंधन रूप में उसका उपयोग करने में अक्षम रहेंगी। अत: हम देख सकते हैं कि ग्लूकोज़ की चयापचयता इन्सुलिन पर निर्भर है और यह हार्मोन पेंक्रियाज़ ग्रंथि द्वारा स्रावित किया जाता है। पेंक्रियाज़ एक बड़ी एवं चपटे आकार की ग्रंथि है जो पेट के पृष्ठ भाग में रहती है। जब यह ग्रंथि रुग्न अथवा तनाव-ग्रस्त अवस्था के कारण ठीक से कार्य नहीं कर पाती तो इन्सुलिन का उत्पादन पूर्ण या सापेक्ष रूप से घट जाता है। फलस्वरूप कोशिकाओं द्वारा ग्लूकोज़ का उपयोग न हो पाने के कारण

रक्त में ग्लूकोज़ अथवा शर्करा की मात्रा बढ़ने लगती है। इसी अनियन्त्रित एवं उच्च रक्त शर्करा स्तर की अवस्था को मधुमेह कहा जाता है तथा मधुमेह के अधिकांश लक्षण रक्त में इसी उच्च शर्करा स्तर के कारण ही उत्पन्न होते हैं।

मधुमेह आजकल सबसे अधिक पाई जाने वाली बीमारियों में से एक है, विशेषत: हमारे समाज के सम्पन्न समझे जाने वाले वर्ग में। इस रोग के मरीजों की संख्या समाज के समृद्ध होने के साथ-साथ बढ़ती जा रही है।

मधुमेह के कारण

यौगिक क्रिया-विज्ञान में इस रोग के दो अन्तर्सम्बन्धी कारण माने गये हैं। प्रथम – अनियन्त्रित जीवनचर्या सम्बन्धी अतियों के फलस्वरूप पाचन प्रणाली निर्जीव-सी हो जाती है। मोटापा, अतिभोजन एवं व्यायाम की कमी इत्यादि सभी इस वर्ग में आते हैं। शक्कर, मिष्ठानों तथा कार्बोहाइड्रेट युक्त पदार्थों का भोजन में अत्यधिक उपयोग विशिष्ट आरोपित कारण है। यदि व्यक्ति अधिक मात्रा में शर्करा, मिठाइयों अथवा चॉकलेट इत्यादि का सेवन करता है, तो उस धड़ल्ले से बढ़ते हुए शर्करा के स्तर को नियंत्रित करने हेतु पेंक्रियाज़ को जल्दी से अधिकाधिक मात्रा में इन्सुलिन स्रावित करना पड़ता है। मगर यदि इसी प्रकार का भोजन प्रतिदिन लिया जाता रहा तो पैंक्रियाज पर लगातार अत्यधिक मात्रा में इन्सुलिन उत्पादन हेतु दबाव पड़ता रहेगा।

अन्य कारकों के सह प्रभाव के कारण धीरे-धीरे उसकी क्रियाशीलता मन्द पड़ती जाती है तथा देर-सबेर वह जवाब दे जाती है। अधिक रक्त शर्करा के उद्दीपन के बावजूद भी इन्सुलिन का उत्पादन कम होता जाता है, फलस्वरूप इन्सुलिन की माँग की आपूर्ति न होने से शर्करा का चयापचय ठप्प होने लगता है तथा शर्करा रक्त में ही लम्बे समय तक घुली रहने पर बाध्य हो जाती है। इसी अवस्था को उच्च रक्त शर्करा स्तर की अवस्था कहते हैं तथा इसके कारण गुर्दे से अधिक शर्करा छन कर पेशाब से निकलने लगती है। यह शर्करा, पेशाब में अपने साथ जल खींचकर ले जाती है, फलस्वरूप एक तरफ तो मरीज को बार-बार पेशाब जाना पड़ता है तथा दूसरी ओर शरीर में जल की कमी होने से बार-बार प्यास लगती है।

मरीज की रोग प्रतिरोधक क्षमता कमजोर पड़ जाती है तथा उसे बार-बार त्वचा के संक्रमण इत्यादि रोग होने लगते हैं। कटे घाव ठीक से नहीं भरते

तथा नजर कमजोर पड़ जाती है। ऐसे ही किसी लक्षण के कारण जब व्यक्ति चिकित्सक के पास पहुँचता है तब अचानक रक्त शर्करा स्तर की जाँच करने पर उसे पता चलता है कि उसे डायबिटीज या मधुमेह है।

इस रोग का दूसरा मुख्य कारण तनाव से सम्बन्धित है। हमारे पूर्वजों को जीवित रहने के लिए सतत् संघर्ष करना पड़ता था तथा भौतिक एवं शारीरिक स्तर पर कठिनाइयों से जूझना पड़ता था। अत: उनके शरीर में प्रकृति की ओर से विपत्ति की अवस्था से निपटने के लिए इमरजेन्सी हार्मोन प्रणाली प्रदत्त की गई थी, जो इस अवस्था के लिए उसे शारीरिक और मानसिक रूप से उत्तेजना और सामर्थ्य प्रदान करती थी कि वह लड़ सके अथवा भाग सके।

आधुनिक मनुष्य में भी वही प्रणाली वंशानुगत रूप से विद्यमान है जो हर बार प्रतिकूल अथवा विपरीत परिस्थिति आने पर उत्तेजित तो होती है, मगर दुर्भाग्यवश हमारी कृत्रिम तथा आरामतलब जीवनचर्या के कारण उसका भौतिक अभिव्यक्तिकरण नहीं हो पाता। अत: सभी तनाव भौतिक के बजाय मानसिक एवं भावनात्मक स्तर पर अभिव्यक्तिकरण के लिए स्थानांतरित हो जाते हैं। जो भी स्थिति हो, यह हार्मोन प्रणाली जिसे एड्रिनल ग्रंथि का नाम दिया गया है, भावनात्मक तरीकों के कारण लगातार उत्तेजन की अवस्था में रहती है तथा *कॉर्टिकोस्टीरॉयड हार्मोन,* जिसे अब हम तनाव हार्मोन या *स्ट्रेस हार्मोन* कह सकते हैं, लगातार रक्त प्रवाह में स्रावित करती रहती है। ये हमारे शरीर के रक्त प्रवाह में ग्लूकोज़ छोड़ने के लिए एक शक्तिशाली उत्प्रेरक का कार्य करते हैं।

अब इस अधिक ग्लूकोज़ को कोशिकाओं के भीतर पहुँचने के लिए अधिक इन्सुलिन की आवश्यकता पड़ती है और अधिक इन्सुलिन बनाने के लिए पेंक्रियाज़ पर लगातार अधिक भार पड़ता है। अंततोगत्वा उस ग्रंथि की क्षमता जबाव दे जाती है और मधुमेह के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। यह स्थिति कार्बोहाइड्रेट युक्त भोजन या शर्करायुक्त पदार्थों के अधिक सेवन से और भी बदतर हो जाती है। अत: हम देख सकते हैं कि सिर्फ रक्त शर्करा की बढ़ी हुई मात्रा जाँच में पता चलने के पहले से ही हमारे अंगों को कितनी क्षति पहुँच चुकी होती है और ओषधियों के सेवन से मात्र शर्करा का स्तर नीचे ले आना सम्पूर्ण इलाज नहीं है, क्योंकि मूल कारणों के निवारण के लिए व क्षतिपूर्ति हेतु हम कुछ भी नहीं करते हैं।

मधुमेह के दो प्रकार

चिकित्सा विज्ञान में मधुमेह को दो प्रमुख भागों में बाँटा गया है। बच्चों तथा कम उम्र के व्यक्तियों में पाये जाने वाले तुलनात्मक रूप से विरली तथा अधिक खतरनाक बीमारी को *जुविनाइल डायबिटीज* या बच्चों का मधुमेह कहते हैं। दूसरे प्रकारान्तरण को, जो कि अधिकतर लोगों का होता है, उसे *मैच्योरिटी ऑनसेट डाइबिटीज* या प्रौढ़ावस्था का मधुमेह कहते हैं।

बच्चों का मधुमेह

इसमें अग्नाशय द्वारा इन्सुलिन बनाने की क्षमता अधिकांश या पूर्ण रूप से नष्ट हो चुकी होती है। यह अनुवांशिक गड़बड़ी के कारण या किसी वाइरल इन्फेक्शन अथवा अत्यधिक कष्टप्रद मानसिक-भावनात्मक या मानसिक आघात के परिणामस्वरूप भी हो सकती है। इसके रोगी अल्पव्यस्क, दुबले-पतले, संवेदनशील तथा अधिकतर कुशाग्र बुद्धि सम्पन्न लोग होते हैं। इस रोग से पीड़ित बच्चों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। यह अवस्था हमें इस रोग के मूल कारणों पर पुन: विचार करने को बाध्य करती है। शोध कार्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि बच्चों में मधुमेह रोग के बढ़ने का कारण आधुनिक समाज में व्याप्त दूषित रहन-सहन है और चिन्ता की बात तो यह है कि बड़ों की अपेक्षा बच्चों में यह अधिक गहराई से स्थापित होता तथा कालक्रम में अधिक भयावह एवं जटिल हो जाता है, जो उनके जीवन काल में ही उन्हें लाचार कर देता है और वे अल्पायु में ही काल का ग्रास बन जाते हैं।

बच्चों को मधुमेह होने का कारण

चिकित्सा विज्ञान को अब तक इसके सही कारणों का तो पता नहीं चला है, परन्तु अनुवांशिक, रासायनिक और संक्रामक कारण आरोपित किए जाते हैं। वास्तव में यह पैतृक या अनुवांशिक रोग तो नहीं है, परन्तु इसका एक कारण भ्रूण के विकास में होने वाला अवरोध है, जिसके कारण बच्चा जन्म से ही निर्बल और अविकसित अग्नाशय के साथ पैदा हो सकता है। हो सकता है भ्रूण या शिशु के अंगों के विकास के समय वांछित भोज्य पदार्थ न मिले हों अथवा माँ के रक्त के माध्यम से कोई विषाक्त पदार्थ, संक्रामक जीवाणु, ओषधि या रसायन भ्रूण में पहुँच गया हो और अग्नाशय के विकास को रोक

दिया हो। आजकल की शक्तिशाली रासायनिक प्रदूषक ओषधियाँ इतनी सक्षम हैं कि वे दुर्भेद गर्भ आवरण को भी पार कर सकती हैं। वैसे भी गर्भवती माताओं को ओषधियों एवं रासायनिक पदार्थों के प्रति बहुत सावधान रहने की आवश्कता है।

बच्चों में मधुमेह का दूसरा कारण अनुपयुक्त एवं अनुचित भोजन भी है, जो उसने अपनी शैशवावस्था और बाल्यकाल में लिया हो। फलस्वरूप उसका अग्न्याशय कमजोर हो गया हो। आधुनिक सामाजिक परिवेश में भोजन की कमी तो नहीं, अलबत्ता तरह-तरह के अप्राकृतिक भोज्य पदार्थों की अधिकता है। अत: वे बच्चों को अत्यधिक प्रोटीन युक्त पदार्थ, जैसे– दूध, मांस, मछली, अंडा, वसा एवं शर्करा खिलाती हैं। लेकिन इतने गरिष्ठ भोजन को पचाने के लिए उनके अपूर्ण नाजुक अंगों को कठिन परिश्रम करना पड़ता है। फलस्वरूप उसकी ग्रंथियाँ कुप्रभावित हो शक्तिहीन होने लगती हैं। अत: अभिभावकों को ख्याल रखना चाहिए कि वे विज्ञान के शक्तिशाली सम्मोहक प्रभाव में आकर परिरक्षी रसायन युक्त अप्राकृतिक *'बेबी फूड'* संस्कृति का अंधानुकरण न करें।

वास्तव में शिशुओं के लिए सर्वोत्तम आहार माँ का दूध ही है। यह सार्वभौम रूप से पूर्ण भोजन है। माँ को शिशु का दूध छुड़ाने की जल्दी नहीं होनी चाहिए। अभी भी कई माताओं में बच्चों को तीन वर्ष तक दूध पिलाने की प्रथा है। अत: बच्चों को दूध धीरे-धीरे छुड़ाना चाहिए तथा उन्हें फलों का रस, फिर उबली शाक-सब्जियाँ एवं पका भोजन देना चाहिए।

ऐसा भी देखा गया है कि बच्चों में मधुमेह का एक कारण भावनात्मक असुरक्षा की स्थिति भी है। चूँकि बच्चों में संवेदनशीलता अत्यधिक होती है, पर विकास तो हुआ नहीं रहता, जो किसी भावनात्मक झटके को समझने या सहन करने की शक्ति प्रदान करे। अत: बच्चे अपने आसपास के भावनात्मक क्षेत्र के असहाय शिकार बन जाते हैं। बच्चों को पारिवारिक प्रेम से वंचित रहने की अवस्था या अचेतन मन में अकेले होने का अहसास सीधे गहराई तक उतर जाता है।

यह अचेतन प्रक्रिया धीरे-धीरे उसके शरीर में आत्म अस्वीकरण के संस्कार का रूप लेती है। यह आत्म अस्वीकरण शारीरिक स्तर पर एक *मेटाबॉलिक डिफेक्ट* बन कर उनकी आन्तरिक क्रियाशीलता को शिथिल बनाता है। जिस प्रकार क्रोध, भय, आशंका हमारी पाचन क्रिया को प्रभावित

करते हैं, उदाहरण के लिए, यदि भोजन करते समय क्रोध आ जाये तो मुँह की लार एवं पाचक रस रसायन बनने बन्द हो जाते हैं, उसी प्रकार लगातार एक अवचेतन उद्वेग की अवस्था में अग्नाशय की ग्रंथियाँ काम करना बन्द कर देती हैं तथा एक स्थायी खराबी का रूप धारण कर लेती है। अंतत: बच्चा मधुमेह का लाइलाज रोगी घोषित कर दिया जाता है। अत: हम देख सकते हैं कि रोग का कारण अग्नाशय की पैतृक खराबी नहीं है, बल्कि एक अचेतन उद्वेग का लगातार बने रहना है।

प्रौढ़ावस्था का मधुमेह

मैच्योरिटी ऑनसेट डाइबिटीज या प्रौढ़ावस्था का मधुमेह अधिकांशत: अधेड़ उम्र के व्यक्तियों को प्रभावित करता है। विशेषकर उन्हें जो तनावग्रस्त, मोटे, शारीरिक रूप से कम क्रियाशील हों तथा जिनके भोजन में शक्कर, स्टार्चयुक्त तथा वसायुक्त पदार्थों की अधिकता हो। पाचन तंत्र पर पड़ने वाले इस दीर्घकालीन दबाव के फलस्वरूप उसकी क्रियाशीलता में, विशेषकर यकृत एवं अग्नाशय की ग्लूकोज़ नियंत्रण प्रणाली में क्रमिक अवनति होती जाती है। न केवल इन्सुलिन उत्पादन प्रभावित होता है, बल्कि सभी शारीरिक ऊतक इन्सुलिन के प्रभाव के प्रति असंवेदनशील होते चले जाते हैं।

मधुमेह के इस प्रकारान्तर में आवश्यकता के अनुपात में इन्सुलिन का उत्पादन पर्याप्त मात्रा में तथा दीर्घकालावधि के उपरान्त होता है। चूँकि पेंक्रियाज़ की इन्सुलिन उत्पादन की कुछ कार्यक्षमता शेष बची रहती है, अतएव इस प्रारम्भिक अवस्था में भोजन से परहेज द्वारा मधुमेह को नियमित किया जा सकता है। जब रोग कुछ बढ़ जाता है तो भोजन नियंत्रण के अलावा रक्त शर्करा कम करने वाली ओषधियाँ लेने की सलाह दी जाती है। इनसे रक्त में शर्करा का स्तर घटता है, अंतत: ये ओषधियाँ भी प्रभावहीन होने लगती हैं या इनके दुष्परिणाम उत्पन्न होने लगते हैं। अन्त में बाहर से प्रतिदिन इन्सुलिन के इन्जेक्शन लगाने की नौबत आ पहुँचती है, जिन पर अब रोगी को जीवनभर निर्भर रहना पड़ता है।

कालावधि में शरीर भी बाहर से दी जाने वाली इन्सुलिन के प्रति प्रतिरोध दर्शाने लगता है तथा वह भी प्रभावहीन पड़ने लगती है। इसका कारण यह है कि हम एकतरफा इलाज करते हैं, जिसमें मूलभूत गड़बड़ियों को ठीक करने का कोई प्रयास नहीं किया जाता। जब स्थिति नियंत्रण से बाहर हो जाती है

तो रोग की जटिलताएँ विभिन्न अंगों में दिखलाई पड़ने लगती है, यहाँ तक कि रोगी की मृत्यु भी हो सकती है। परन्तु रोगी यदि बिना समय बर्बाद किये पुनर्जीवन प्रदान करने वाले योगाभ्यासों को नियमित रूप से अपना ले तो रोग के इस स्तर पर भी उसके शीघ्र स्वास्थ्य लाभ की संभावना बढ़ जाती है।

मधुमेह से खतरे

रक्त से शर्करा को कोशिकाओं के भीतर पहुँचाने हेतु इन्सुलिन पासपोर्ट की तरह कार्य करती है। बिना इन्सुलिन के हमारे शारीरिक ऊत्तक ग्लूकोज़ ग्रहण नहीं कर सकते। अत: इन्सुलिन की कमी होने पर कोशिकाओं के भीतर ग्लूकोज़ की कमी हो जायेगी तथा शेष ग्लूकोज़ रक्त में जमा होता जायेगा। यह शर्करा पूरे शरीर में रक्त के साथ प्रवाहित होती तो रहेगी, परन्तु वह इसका कोई उपयोग नहीं कर पायेगा, चारों ओर भोजन होने पर भी कोशिकाएँ भूखी तरसती रहती हैं, तथा 'जल बीच मीन प्यासी' वाली कहावत चरितार्थ होने लगती है।

इस चयापचयी परिवर्तन के कारण कोशिकाएँ ग्लूकोज़ के स्थान पर वसा को ऊर्जा स्त्रोत के रूप में प्रयोग करना प्रारम्भ कर देती हैं। यकृत से भी अधिक मात्रा में वसा एवं वसायुक्त पदार्थों का उत्सर्जन होने लगता है। यह अधिक वसा विशेषकर रक्त नलिकाओं के भीतर में जमने लगती है। फलस्वरूप उनमें ह्रासीय परिवर्तन होने लगते हैं, जैसे– हृदय रोग, उच्च रक्तचाप, आँखों का खराब होकर अंधेपन की हद तक विकृत होना, गुर्दे का खराब होना, धमनियों का कड़ा पड़ना, और यहाँ तक कि नपुंसकता इत्यादि। मस्तिष्क तथा अन्य तंत्रिकाओं का चयापचय असन्तुलित होने पर नसों की कमजोरी, अंगों का सुस्त होना तथा लकवा इत्यादि के लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं।

शरीर को विषाणुओं के आक्रमण से बचाने वाली प्रतिरक्षा प्रणाली के मन्द पड़ जाने से तरह-तरह के संक्रमण, फोड़े-फुंसियाँ, खुजली, घावों का न भरना, उनमें पीव पड़कर लम्बे समय तक रिसना तथा अंगों का सड़ना (ग्रैन्ग्रीन) इत्यादि विषमताएँ उत्पन्न हो सकती हैं। संक्षेप में मधुमेह के रोगी के प्रत्येक अंग तथा प्रत्येक कोशिका पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। कभी-कभी वसा अम्ल के चयापचय से रक्त में अम्लों की मात्रा अत्यधिक हो जाती है जिससे गहन बेहोशी तथा अचानक मृत्यु होने का भी खतरा बना रहता है।

मधुमेह के रोगी को बेहोशी आने का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारण है – ओषधियों के सेवन से या इन्सुलिन अधिक मात्रा में लेने से रक्त में शर्करा का स्तर बहुत नीचे चले जाना। चूँकि मस्तिष्क की कोशिकाएँ मात्र ग्लूकोज़ का ही उपयोग कर सकती हैं। वे कुछ मिनटों से अधिक ग्लूकोज़ की कमी को सहन नहीं कर सकतीं। यदि रक्त में ग्लूकोज़ की मात्रा नीचे चली जाए तो मस्तिष्क की कोशिकाएँ कार्य करना बन्द कर देती हैं, फलस्वरूप व्यक्ति बेहोश हो जाता है। अक्सर ऐसा इसीलिए होता है कि व्यक्ति ओषधि या इन्सुलिन तो ले लेता है, परन्तु किसी कारणवश समय पर भोजन नहीं कर पाता या भोजन असन्तुलित हो जाता है। इसीलिए रोगी को इस मामले में बहुत सर्तक रहने की आवश्यकता है। जैसे ही चक्कर आये, पसीना आये, घबराहट या अंधेरा महसूस हो तुरत मीठा शर्बत या शक्कर का सेवन इस खतरनाक विषम परिस्थिति को टाल देता है।

ओषधीय चिकित्सा (इन्सुलिन की भूमिका)

इन्सुलिन तथा अन्य शर्करा नियंत्रक ओषधियों के आविष्कार के पूर्व मधुमेह का रोग होना मृत्युदण्ड के बराबर ही था। रोगी बहुत तेज गति से घुलता तथा असमय काल का ग्रास बन जाता था। इन नई खोजों से रोगियों को नवजीवन तो मिला है, परन्तु इन उपायों के अनेक अवांछनीय दुष्प्रभाव भी हैं। प्रतिदिन हर भोजन के पहले इन्सुलिन की सुई लेना तथा जीवनपर्यन्त उसी पर निर्भर रहना विशेष कष्टदायी परिस्थिति है। इसी प्रकार ओषधियों के अनेक दुष्प्रभाव हैं तथा समय के साथ उनकी मात्रा बढ़ाते जाना पड़ता है, जिससे दुष्प्रभाव भी बढ़ते हैं। पिछले कुछ वर्षों में योग चिकित्सा विज्ञान एक सशक्त विकल्प के रूप में सामने आया है, जो मधुमेह को प्रभावशाली ढंग से नियंत्रित रखने में सक्षम साबित हुआ है – वह भी बिना किसी दुष्प्रभाव के।

यौगिक विकल्प

मधुमेह की चिकित्सा के विषय में प्रत्येक चिकित्सक इस तथ्य से अवगत है कि रोग का सम्पूर्ण निराकरण कभी नहीं होता। मात्र रक्त शर्करा को नियंत्रित रखने हेतु ओषधियों की मात्रा बढ़ाते जाना स्थायी समाधान नहीं है। इससे एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि हम आधुनिक चिकित्सा पद्धति द्वारा रोग के मूल कारणों को दूर करने में सक्षम नहीं हैं, वरन् मात्र लक्षण दबाने का

प्रयत्न करते हैं। इसके विपरीत कई शोधों एवं अध्ययनों से यह साबित हो चुका है कि योग चिकित्सा से शारीरिक एवं पाचन प्रणाली को प्रभावित कर मधुमेह के रोग पर बहुत अच्छा नियंत्रण पाना सम्भव है।

चिकित्सकीय शोधों से देखने में आता है कि मधुमेह के अनेक योगाभ्यासी मरीज रक्त शर्करा स्तर को नीचे रखने के लिए इन्सुलिन इन्जेक्शन पर निर्भरता से मुक्त हो जाते हैं या उन्हें इन्सुलिन बहुत कम मात्रा में लेने की आवश्यकता पड़ती है। तुलनात्मक रूप से कम उम्र वाले व्यक्ति जिनमें मधुमेह का नया-नया पता चला है तथा वे किसी अन्य रोग से पीड़ित नहीं है, उन्हें योग चिकित्सा के द्वारा सर्वाधिक लाभ पहुँचने की संभावना रहती है। यदि वे कुशल निर्देशन में यौगिक दिनचर्या तथा प्रक्रिया अपनाते हैं तो रोग को समूल नष्ट करने में अवश्य सफल होंगे।

योग अनियंत्रित, गरिष्ठ, राजसिक भोजन पर आधारित जीवनचर्या, मोटापा तथा शारीरिक अकर्मण्यता को बिल्कुल स्वीकार नहीं करता। पेट यदि बाहर निकला है तो बीमारी अन्दर ही रहेगी। चिकित्सक द्वारा सीधे शर्करा कम करने वाली ओषधियाँ, इन्सुलिन लेने की सलाह देना तथा विलासितापूर्ण अप्राकृतिक जीवनचर्या को बदलने की सलाह न देना बीमारी को बढ़ाने का ही कारण होगा। मात्र ओषधि स्वास्थ्यवर्द्धक परिस्थिति को उत्पन्न नहीं करेगी। योग चिकित्सा का लक्ष्य रोग के मूल कारणों के साथ-ही-साथ बाह्य लक्षणों को हटाना भी होता है। योग शरीर की पुनरुज्जीवन क्षमता को उत्तेजित कर जीवन के सम्पूर्ण आन्तरिक पुनर्गठन करने के सिद्धान्त पर आधारित है।

योग के अभ्यास दो तरीकों से मधुमेह की समस्या को निपटाने का कार्य करते हैं। प्रथम तो वे पेंक्रियाज़ ग्रंथि में अवस्थित बीटा कोशिकाओं को पुनरुज्जीवित करते हैं, जो दबाव के कारण समय से पहले ही अधमरी हो चुकी होती हैं।

इन कोशिकाओं के पुनर्जीवन का अर्थ है – इन्सुलिन की उत्पादन क्षमता में सुधार तथा इन उत्पादन का रक्त शर्करा के साथ बेहतर समयानुगत सन्तुलन, ताकि रक्त में शर्करा का स्तर लगातार उचित मात्रा में बना रहे। जैसे-जैसे पाचन तंत्र एवं उससे सम्बन्धित क्षेत्र में प्राणशक्ति का प्रवाह बढ़ना शुरू होता है, वैसे-वैसे ग्रंथियों के ऊर्जा अवरोध दूर होते हैं तथा क्रियाशीलता सुचारु हो जाती है।

दूसरे, योग शरीर की सभी अन्य कोशिकाओं को, विशेषत: मांसपेशीय तथा वसा कोशिकाओं को स्व-उत्पादित इन्सुलिन के प्रति संवेदनशीलता बना देता है। योग के नियमित अभ्यास से यह देखा गया है कि मांसपेशीय तथा अन्य कोशिकाओं के अवरोध धीरे-धीरे कम होने लगते है तथा वे शर्करा को आसानी से ग्रहण करने लगती हैं। विशेष रूप से सूर्य नमस्कार का अभ्यास एक तो सभी ग्रंथियों को सुचारु ढंग से चलने को प्रेरित करता है, दूसरी ओर वह प्राणशक्ति का शक्तिशाली उत्पादक है जो चयापचय को पुन: सन्तुलित करती है। पवन मुक्तासन भाग-1 के अभ्यास से प्रत्येक मांसपेशी तथा जोड़ से अम्ल तथा अवरोध दूर होते हैं तथा प्राण शक्ति का प्रवाह अधिक सुगमता से होने लगता है। पवनमुक्तासन भाग-2 पेट के आन्तरिक अंगों एवं पाचन प्रणाली को सक्रिय बनाता है तथा अनावश्यक गतिरोध हटाता है।

पेंक्रियाज़ का पुनर्जीवन

मधुमेह में शिथिल पेंक्रियाज़ की स्राव क्षमता को शनै:-शनै: विभिन्न अभ्यासों से दुरुस्त किया जाना सम्भव है। विशिष्ट आसन, प्राणायाम, क्रियाएँ तथा बन्ध इत्यादि के अभ्यास कोशिकाओं को अधिक रक्त व प्राण की आपूर्ति करते हैं।

शंख प्रक्षालन एवं कुंजल इत्यादि हठयौगिक क्रियाओं के नियमित अभ्यास सम्पूर्ण पाचन तंत्र से हानिकारक अपशिष्ट पदार्थों की सफाई तथा सम्बन्धित अंगों और ग्रंथियों की मालिश द्वारा पेंक्रियाज़ के पुनर्जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

शरीर का कोई भी अंग यदि थका हुआ है और उसकी क्षमता चुक गयी है तो उसे पुन: स्वस्थ बनाने के लिए उसे सकारात्मक विश्राम सबसे बड़ी ओषधि है। पेंक्रियाज़ इस नियम से बाहर नहीं है। भोजन में स्टार्च, शर्करायुक्त पदार्थों की कटौती उसके भूतकालिक दुरुपयोग से हुए नुकसान की भरपाई करेगी तथा उसे आराम पहुँचायेगी। बाहर से ली जाने वाली ओषधियों, विशेषत: इन्सुलिन की मात्रा धीरे-धीरे कम करने से भी पेंक्रियाज़ की कार्यक्षमता बढ़ेगी, क्योंकि बाहर से इन्सुलिन लेने की आदत से शरीर की अपनी उत्पादन क्षमता न्यून हो जाती है। अत: सभी पहलुओं से पेंक्रियाज़ की कोशिकाओं को उद्दीप्त करके उसकी इन्सुलिन उत्पादन क्षमता को

धीरे-धीरे बढ़ाते हुए सामान्य स्थिति तक लाने की आशा की जा सकती है। साथ-ही-साथ नियंत्रित मात्रा में समयानुसार सन्तुलित आहार लेने से तथा बीच-बीच में कुछ खाने की आदत बन्द करने से इन्सुलिन की बर्बादी को कम करना भी विवेकसंगत होगा।

मधुमेह का योगोपचार

मधुमेह का यौगिक उपचार अपेक्षाकृत कुछ श्रमसाध्य है। अत: सबसे अच्छा यही होगा कि किसी संसाधन-युक्त आश्रम में कुछ दिन रह कर उपचार किया जाये। प्रशिक्षण एवं इलाज के प्रारम्भिक काल में कम-से-कम एक महीने का समय देना चाहिए ताकि सही विचारधाराएँ तथा अभ्यास जीवन में पूर्णत: आत्मसात् हो जाएँ। यह महत्त्वपूर्ण है कि मधुमेह का इलाज किसी चिकित्सक की देख-रेख में किया जाए।

किसी निदान केन्द्र की सुविधा भी उपलब्ध होनी चाहिए ताकि मरीज की परिस्थिति में सुधार को लगातार रक्त और मूत्र में शर्करा स्तर की जाँच द्वारा वस्तुगत रूप से मापा जाए। यह शुरुआत में अधिक आवश्यक इसलिए हो जाता है क्योंकि रक्त में शर्करा का स्तर गिरना प्रारम्भ हो जाता है और यदि उसके अनुरूप इन्सुलिन की मात्रा न घटायी जाए तो बेहोशी अवक्षेपित हो सकती है। दूसरी ओर इन्सुलिन की मात्रा को अंदाज से ज्यादा घटाने पर भी कभी-कभी विषम परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है। परन्तु उचित चिकित्सकीय देखरेख एवं निदान द्वारा यह प्रक्रिया बहुत ही सुरक्षित है एवं सरलता से सम्पन्न हो सकती है।

एक महीने का सरलीकृत अभ्यासक्रम

प्रत्येक रोगी के लिए योग साधना एवं अभ्यास रोग की अवस्था पर निर्भर करते हैं। इस अभ्यास क्रम को सभी रोगियों के लिए अनिवार्य नहीं समझना चाहिए, वरन् इसको एक आधार मानकर अन्य रोगियों के लिए व्यक्तिगत आवश्यकता एवं क्षमतानुसार दूसरे अभ्यासक्रम की रूपरेखा निम्नांकित है –

प्रथम सप्ताह

1. पवनमुक्तासन भाग 1 एवं 2, वज्रासन।
2. प्राणायाम – नाड़ी शोधन अवस्था 1, भ्रामरी।

3. षट्क्रिया – नेति।
4. शिथिलीकरण – शवासन में लेटकर उदर श्वसन।

द्वितीय सप्ताह

1. आसन – उपर्युक्त आसन तथा शक्ति बन्ध समूह के सभी आसन।
2. प्राणायाम – नाड़ीशोधन अवस्था 2, भस्त्रिका 3 चक्र (20 श्वास प्रति चक्र)
3. षट्क्रिया – नेति एवं कुंजल।
4. शिथिलीकरण – योग निद्रा।
5. ध्यान – अजपाजप प्रथम अवस्था।

तृतीय सप्ताह

1. सूर्य नमस्कार – क्षमतानुसार अभ्यास करें।
2. आसन – वज्रासन समूह।
3. प्राणायाम – नाड़ी शोधन तृतीय अवस्था, जालंधर बन्ध एवं मूलबन्ध के साथ, भस्त्रिका 5 चक्र (30 श्वास प्रति चक्र) अन्तर्कुम्भक एवं जालन्धर बन्ध के साथ, शीतली एवं शीतकारी (15-15 चक्र)।
4. षट्क्रिया – एक बार पूर्ण शंखप्रक्षालन, तदुपरान्त प्रतिदिन लघु शंखप्रक्षालन, नेति एवं कुंजल।
5. शिथिलीकरण – योग निद्रा (सम्पूर्ण 1 घण्टे तक)।
6. ध्यान – अजपाजप द्वितीय अवस्था।

चतुर्थ सप्ताह

1. सूर्य नमस्कार – 12 चक्र तक।
2. आसन – सर्वांगासन, हलासन, मत्स्यासन, पश्चिमोत्तानासन, अर्द्धमत्स्येन्द्रासन, मयूरासन, भुजंगासन, गोमुखासन।
3. प्राणायाम – नाड़ी शोधन चतुर्थ अवस्था महाबन्ध के साथ, भस्त्रिका अन्तर्कुम्भक, बहिर्कुम्भक एवं महाबन्ध के साथ, शीतली एवं शीतकारी।
4. षट्क्रिया – नेति, कुंजल एवं लघु शंखप्रक्षालन प्रतिदिन।
5. शिथिलीकरण – योग निद्रा एवं प्राण विद्या।
6. ध्यान – अजपाजप तृतीय अवस्था।

अन्य उपयोगी सुझाव

- *भोजन*– कम कार्बोहाइड्रेट एवं कम स्टार्च वाला, बिना शक्कर का, शाकाहारी भोजन प्रारम्भ से ही अपनाना चाहिए। चावल, आलू तथा सभी मीठे पदार्थ बन्द कर देने चाहिए। मसाले, तेल तथा दूध या उससे बनी वस्तुओं को कम-से-कम इस्तेमाल करें। चोकरयुक्त आटे की चपातियाँ तथा हरी पत्तेदार सब्जियाँ हल्की उबली या बेक की हुई अवस्था में लेनी चाहिए। सलाद और एक-आध फल भी लिया जा सकता है।
- *व्यायाम*– प्रतिदिन टहलना और खुली हवा में टहलना लाभप्रद है।
- *इन्सुलिन*– योगाभ्यास के दूसरे हफ्ते से जब रक्त एवं मूत्र की जाँच द्वारा यह पता चलने लगे कि अभ्यास प्रभावी ढंग से शर्करा स्तर कम कर रहे हैं तो धीरे-धीरे इन्सुलिन की मात्रा चिकित्सकीय निर्देशानुसार घटाते जाना चाहिए।
- *ओषधियाँ*– शर्करा कम करने वाली गोलियाँ कम करके धीरे-धीरे योगाभ्यास क्रम के दौरान बन्द कर देनी चाहिए।
- *समय*– योग कार्यक्रम तथा भोजन की नियमितता कम-से-कम छः महीने तक या अधिक लम्बी अवधि तक जारी रखना चाहिए ताकि बीमारी पुनः न लौटने पाए।
- *अन्य*– अधिक जानकारी के लिए योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'दमा व मधुमेह' देखें।

यकृत दाह में योगोपचार

यकृतदाह को वैज्ञानिक भाषा में *हिपेटाइटिस* तथा बोलचाल की भाषा में 'पीलिया' कहते हैं। यह रोग यकृत की संरचना में गड़बड़ी के परिणास्वरूप देखने में आता है। यकृत के कार्यों में गड़बड़ी, विभिन्न प्रकार की ओषधियों, विषैले पदार्थों के सेवन तथा वाइरस के संक्रमण के कारण करोड़ों जीवकोशों के नष्ट हो जाने से उत्पन्न होती है।

जीवकोशों के नष्ट हो जाने से कालांतर में नुकसान नहीं है, क्योंकि यकृत में पुनर्निमाण की योग्यता होती है। इस रोग को ठीक होने में साधारणत: एक-डेढ़ महीना लग ही जाता है। इस रोग से पीड़ित रोगी की मन:स्थिति बड़ी ही विचित्र हो जाती है। रोग के कारण उत्पन्न भावनात्मक असन्तुलन उसके व्यक्तित्व का दोष बन बैठता है।

यकृत है कहाँ?

हमारे शरीर के अन्दर जो मशीन चलती रहती है उसके कार्यों की या उन अवयवों के निश्चित आकार अथवा स्थान की जानकारी बहुत कम लोगों को होती है। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए शरीर रचना की जानकारी अत्यन्त आवश्यक है। योगाभ्यासी के लिए तो यह और भी जरूरी हो जाता है कि वह अपनी आन्तरिक संरचना को अच्छी तरह जाने, ताकि आसन करते समय वह उन अंगों पर पड़ने वाले प्रभावों को भी जान सके। विशेषत: योगनिद्रा का अभ्यास आन्तरिक अवयवों की अक्षमता को दूर करने का सर्वोत्तम उपाय है। इसमें रोगी को आन्तरिक अजायबघर में सैर करने में सुविधा होती है।

यकृत गहरे लाल रंग का गुंबज के आकार का एक अंग है। यह पसली की अन्तिम रेखा के नीचे उदर के दाहिने भाग में सबसे ऊपर स्थित रहता है। स्वस्थ, व्यस्क शरीर में इसका वजन 1.5 से 2.00 किलोग्राम तक होता है। यह दो प्रमुख भागों में विभक्त होता है। इसका ऊपरी भाग उदर के दाहिने नीचे धँसा होता है। यकृत शरीर के अवयवों में सबसे बड़ा अंग होता है। उसे रसायनों का सबसे बड़ा भण्डार माना गया है।

यकृत क्या करता है?

चिकित्सा विज्ञान में एक उक्ति प्रचलित है–क्या यह जीवन जीने लायक है? उत्तर है, यदि यकृत कार्यक्षम हो तब। योग एवं चिकित्सा विज्ञान दोनों ही इसके महत्त्व को स्वीकार करते हैं, क्योंकि यह शरीर के प्रमुख रसायनों का उत्पादक माना गया है। शरीर के आवश्यकतानुसार चयापचय साम्रगी जुटाने, भोजन को पचाने और चर्बी के निर्माण के लिए उत्तरदायी अंग है। यह भोजन के शुद्ध पदार्थों–श्वेत सार, वसा और प्रोटीन के पाचन का कार्य करता है और पित्त-रस को अँतड़ियों में पहुँचाता है, साथ ही रक्तशुद्धि का दायित्व भी यकृत पर है।

प्राचीन तिब्बती, भारतीय और चीनी शास्त्रों के अनुसार यकृत को आधि और व्याधि का कारण माना गया है। इस प्रकार व्याधि में शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक संतुलन रखने में यकृत का बड़ा हाथ है। तिब्बती चिकित्सकों के अनुसार–पित्त का निर्माण 'शी डैंग' से होता है, जिसका अर्थ है–घृणा। सही अर्थ में इसे समझने के लिए कहा जा सकता है कि भावनात्मक असन्तुलन ही पित्त में कमी या अधिकता का कारण हो सकता है और अन्त में अत्यधिक पित्त स्राव ही यकृत की क्रियाविधि में गड़बड़ी करता है। जिन लोगों का यकृत गड़बड़ होता है उनका जीवन बड़ा ही दयनीय हो जाता है, वे जीवन का भोग नहीं कर पाते और वंशवृद्धि के कार्य में असमर्थ होने लगते हैं।

सूक्ष्म आन्तरिक संरचना

माइक्रोस्कोप में जब यकृत के ऊत्तकों का अध्ययन किया गया तो वैज्ञानिकों को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि एक-एक कोशिका यकृत की सम्पूर्ण क्रिया विधि को सम्पादित करती है। ऐसे करोड़ों-करोड़

कोशिका रक्त की नदी में रस्सीनुमा पंक्ति में पड़े पाये गये। यह संरचना अँतड़ियों से लाये पोषक तत्त्वों का शोषण कर लेती हैं। इस ईंधन-पानी द्वारा यकृत में पित्त बनता है, जो पित्त नलिका में प्रवाहित किया जाता है। साथ ही यकृत की चयापचय की क्रिया के परिणामस्वरूप अलब्यूमिन प्रोटीन की रचना यकृत में होती है, जो रक्त में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये परिवहन क्रिया में सहयोगी होते हैं। उसी प्रकार यकृत रक्त के जमने वाले तत्त्वों को प्रभावित करता है, जिससे रक्त लाल रूप में सदा प्रवाहित होता रहता है।

यकृत का प्लीहा और वृक्कों से निकट सम्पर्क होता है। प्लीहा रक्त के टूटे-फूटे कोशिकाओं को छानती है, इसके बाद यकृत उन अपशिष्ट पदार्थों को पित्त से उत्सर्जित करता है। जो लौह तत्त्व बच जाते हैं, उन्हें पुन: उपयोग में लाया जाता है। यकृत भोजन से प्राप्त अमीनो एसिड को प्रोटीन और एन्जाइम में बदलता है, जो शरीर के चयापचय, स्वास्थ्य रक्षा एवं सृजन-कार्य में अत्यन्त सहायक हैं। इस प्रक्रिया में बहुत सा नाइट्रोजन अमोनिया में परिवर्तित होता है जो कि मस्तिष्क के लिए विषतुल्य और हानिकारक है। परन्तु, यकृत अमोनिया को 'यूरिया' में बदलता है जो कि वृक्क द्वारा विसर्जन करने योग्य होता है। हिपेटाइटिस के समय चित्त भ्रम की स्थिति इसी अमोनिया की रक्त में अधिकता के कारण होती है, जो मस्तिष्क को अत्यधिक क्षति पहुँचाती है। शराबी के चित्त भ्रम का कारण मात्र शराब नहीं है, वरन् यकृत का क्षय भी है।

जीवनपर्यन्त यकृत की कोशिकायें नष्ट होती रहती हैं तथा नवीन कोशिकाओं का सृजन भी होता रहता है। विनाश एवं निर्माण की यह क्रिया अत्यन्त तीव्र है। प्रकृति ने यकृत के वृहत् कार्यक्षेत्र को देखते हुए उसे कोशिकाओं के पुनर्निर्माण का विशेष अधिकार दिया है। इसीलिए डॉक्टर लोग हिपेटाइटिस रोग से अत्यधिक चिन्तित नहीं होते, क्योंकि वे प्रकृति के इस रहस्य को जानते हैं। यद्यपि यह बीमारी यकृत कोशिकाओं के क्षय की सूचक है, परन्तु इन्हें प्रकृति का संरक्षण भी प्राप्त है। इन्हीं विशेष गुणों के कारण शल्य चिकित्सक यकृत का 4/5 भाग काट डालने में भी नहीं हिचकते, क्योंकि वे जानते हैं कि यकृत अपने बचे हुए भाग से अपना पुनर्स्वरूप प्राप्त कर सकता है। यही कारण है कि दुर्घटनावश जब कोई भारी क्षति पहुँचती है तब हमें उसके काटे जाने का गम नहीं रहता। लेकिन हृदय

की मांसपेशियों एवं मस्तिष्क की कोशिकाओं को काट निकालने का विचार भी नहीं कर सकते।

हिपेटाइटिस के चिह्न एवं लक्षण

आरम्भ में हिपेटाइटिस का कोई खास लक्षण देखने में नहीं आता। साधारणत: भूख कम होती है और शरीर में कमजोरी मालूम पड़ती है। कुछ दिनों के उपरान्त ये लक्षण मुख्यत: उल्टी, बुखार, शारीरिक दर्द और सरदर्द में परिवर्तित हो जाते हैं। इस अवस्था में रोगी अत्यधिक कमजोरी महसूस करता है और उसका मूत्र गाढ़ा पीला या नारंगी रंग का हो जाता है। यकृत बहुत बड़ा हो जाता है एवं दाहिनी पसलियों के नीचे दर्द होता है और अन्त में व्यक्ति को पाण्डु रोग हो जाता है। उस रोग में सबसे पहले आँख का सफेद हिस्सा और श्लेष्मा झिल्ली पीले हो जाते हैं। उसके बाद सम्पूर्ण त्वचा पीली पड़ जाती है। पाण्डु रोग होने का मतलब ही है कि यकृत रक्त से दूषित पदार्थ को साफ करने में समर्थ नहीं है और इन पदार्थों की अधिकता से सम्पूर्ण शरीर की कोशिकाओं के रंग पीले पड़ रहे हैं। अत: सम्पूर्ण शरीर तनावपूर्ण हो जाता है और उसमें खुजली होती है। विभिन्न प्रकार के रक्त की जाँच द्वारा रक्त में बढ़े तत्त्वों को मापा जा सकता है जो इस बात को इंगित करते हैं कि यकृत कोशाओं का ह्रास हुआ है। लेकिन यह जाँच-पड़ताल हिपेटाइटिस को पहचानने के लिए आवश्यक नहीं है।

हिपेटाइटिस क्यों होता है?

यकृत कई कारणों से काम करना बन्द कर सकता है। इन सबमें प्रमुख कारण वाइरस का इन्फेक्शन (हिपेटाइटिस ए. और बी. वाइरस) है। दूसरे प्रमुख कारण शराब या अन्य प्रकार की दवायें और रसायन आदि हैं।

चिकित्सा विज्ञान ने दो प्रकार के हिपेटाइटिस वाइरस की खोज की है–प्रथम को टाइप 'ए' या 'इन्फेक्टिव हिपेटाइटिस' कहते हैं जो दूषित जल, दूषित पदार्थ और रोगी के सम्पर्क के द्वारा फैलता है। यह साधारणत: स्कूल, कॉलेज, होस्टल और संस्थाओं में होता है। दूसरे प्रकार के इन्फेक्शन को टाइप 'बी' या 'वाइरल हिपेटाइटिस' कहते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि वाइरस लार, रक्त तथा शरीर के स्रावों में रहता है तथा उसके रक्त में प्रवेश के कारण ही इस रोग के होने की संभावना

होती है और यह ज्यादा भयंकर होता है। यह साधारणत: स्वास्थ्य विभाग के कामगारों को और नशीली चीजें खाने वाले को होता है। अभी हाल में स्केण्डेनेवियन अनुसंधानकर्ताओं ने देखा है कि यह बीमारी रतिक्रिया द्वारा भी स्थानान्तरित होती है।

हिपेटाइटिस का प्रतिरक्षा विज्ञान (इम्युनोलॉजी)

जो व्यक्ति एक बार भी इस बीमारी से पीड़ित हो चुका है, वह इस बीमारी को सहने के काबिल हो जाता है। यह क्षमता रक्त में प्रयुक्त एन्टीबॉडिज के रूप में रहती है। आँकड़ों से पता चलता है कि एशियावासियों के रक्त में बड़े पैमाने पर एन्टीबॉडीज पायी जाती हैं। यद्यपि वे पहले से ही उस रोग से पीड़ित नहीं होते हैं।

ये आँकड़े इम्युनोलॉजिस्ट को सोचने के लिए मजबूर कर देते हैं कि दस में नौ रोगियों के बाह्य लक्षण स्पष्ट नहीं होते। यह निर्धारित करता है कि बहुत से लोग हिपेटाइटिस से पीड़ित हो चुके हैं, जिसे वे नहीं जानते, परन्तु रोग के प्रति उनकी प्रतिरक्षा प्रणाली अभ्यस्त हो चुकी है। अगर आप एशियावासी या भारतीय हैं तो आपकी स्थिति वास्तव में ऐसी ही है। यही कारण है कि यूरोपवासी जो भारत आते हैं, वे प्राय: इस रोग से पीड़ित हो जाते हैं।

शराब तथा दवा से उत्पन्न हिपेटाइटिस, वाइरस द्वारा उत्पन्न हिपेटाइटिस के समान होता है, परन्तु उसके बाह्य लक्षण जटिल होते हैं। आजकल इसकी संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है, क्योंकि नशा और शराब दोनों ही जीवन में दिन-प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं। कुछ अनुसंधानों के अनुसार वाइरस संक्रमण ही हिपेटाइटिस का प्रमुख कारण है, यह मान्यता अनावश्यक रूप से थोपी गयी है। शायद रोज-रोज अनावश्यक पदार्थों के बढ़ते प्रयोग ही यकृत की साफ करने की क्रिया को कम करते हैं। उदाहरणार्थ – खान-पान की अशुद्धता, अत्यधिक शराब या दवाओं का सेवन, और कारखानों का दूषित वातावरण, ये सब मिलकर पहले से ही कमजोर पड़े यकृत की कोशिकाओं को विनष्ट कर देते हैं। दवाओं का एक ऐसा समूह है जो सब मिलकर हिपेटाइटिस को जन्म देती हैं, वे दवाएँ हैं – विभिन्न प्रकार के मादक द्रव्य, स्टीरॉयड एजेंट, एन्टिरूमैटिक, गर्भ-निरोधक और एन्टीबायोटिक दवायें।

यकृत आयुर्वेद की दृष्टि में

प्राचीन भारतीय आयुर्वेद चिकित्सा के अनुसार प्लीहा और यकृत को रंजकाग्नि या अभिरंजित पित्त कहते हैं। पित्त तीन दोषों में से एक है, जिसका सन्तुलन स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। ये दोष जीवन के तीन गुण या पक्ष हैं। कफ ठण्ढा है और तमोगुण का प्रतीक है, जो मनुष्य के मूल धरातल को बताता है। पित्त गरम और कड़ुआ होता है जो रजोगुण के समकक्ष है, अर्थात् सक्रियता के धरातल के विकार को बतलाता है। वायु उदासीन होती है और संतुलित भी। यह सत्त्व गुण के समकक्ष होती है, जो आध्यात्मिक धरातल को बतलाता है।

आयुर्वेद के अनुसार यकृत सीमा है जो रक्त को दूषित होने से बचाता है। आधुनिक अनुसंधान ने इस तथ्य को प्रमाणित किया है कि यकृत दवाओं, रसायनों और दूषित पदार्थों के लिए छन्ने का काम करता है।

आयुर्वेद के अनुसार शराब यकृत के लिए विष है। उसके अनुसार खान-पान की अशुद्धता, जैसे – अत्यधिक घी, मसाले, प्रोटीन इत्यादि भी अधिक दिनों तक खाने पर यकृत को प्रभावित करते हैं। यह अशुद्धता अत्यन्त भयंकर रोगों का कारण बनतीं हैं।

योग

योग में शरीर क्रिया-प्रणाली के अनुसार यकृत एवं आमाशय, दोनों ही अग्नि तत्त्व में सम्मिलित हैं और दोनों शरीर के अग्नि केन्द्र व पाचक संस्थान माने जाते हैं। इसी प्रकार कुण्डलिनी और क्रिया-योग में भी यकृत को बाह्य स्थूल मणिपुर चक्र का प्रतीक मानते हैं। यह मनुष्य की संकल्प शक्ति का प्रथम या मुख्य केन्द्र है जो चेतना के विकास क्रम में सहायक है। इसी अवस्था में मनुष्य अपने किये कर्म का जिम्मेवार और अपने सुनहले भविष्य का निर्माता होता है। मणिपुर चक्र का प्रतीक नाभि के पास कमल में चमकता हुआ सूर्य अग्नि मण्डल के रूप में माना गया है। कुछ विशेष प्राणायाम और क्रियायें उस अग्नि मण्डल को प्रज्वलित करने में सहायक हैं। तिब्बती योग के अनुसार उसके जागरण एवं संचालन द्वारा योगी बर्फीले वातावरण में भी नंगा बैठ सकता है। सामान्य अवस्था में यह अग्नि तत्त्व भोजन को पचाने में सहायक होता है, जिस प्रकार बाह्य अग्नि ईंधन को पचा लेती है। अग्नि के कमजोर होने पर धुँआ अधिक निकलता

है एवं ईंधन ठीक से नहीं जलता, उसी प्रकार अग्नि तत्त्व की गड़बड़ी से भोजन नहीं पचता और विकार उत्पन्न होते हैं।

हिपेटाइटिस का प्रबन्ध और रोग का निदान

यद्यपि हिपेटाइटिस एक घातक रोग है तथापि अच्छी देखरेख में रोग अधिक से अधिक संख्या में ठीक हो जाता है। हिपेटाइटिस के करीब 95 प्रतिशत रोगी छः सप्ताह में ठीक हो जाते हैं। उनका यकृत न केवल ठीक हो जाता है, बल्कि पहले से अधिक कार्यकुशल एवं सक्षम हो जाता है।

इस रोग के उपचार में इस बात का ध्यान रखना होगा कि यकृत को पूर्णरूपेण विषाक्त पदार्थों से बचाया जा सके। दुबारा इस रोग का पुनरागमन अगर हो जाए तो यह बहुत ही जटिल समस्यायें उत्पन्न करता है। इस रोग के पुनरागमन का कारण स्वस्थ होने की प्रक्रिया के दौरान यकृत की अवहेलना है। यदि यह प्रक्रिया कुछ दिनों तक जारी रहे तो यकृत अपना कार्य करना बन्द कर देता है और अन्ततोगत्वा मृत्यु होती है।

यकृत जब अपना कार्य करना बन्द कर देता है तो विषाक्त द्रव्य रक्त से नहीं छनते और शारीरिक सन्तुलन बिगड़ जाता है। अगर वृक्क बिगड़ जाये तो उसे हटा कर उसके स्थान पर नया वृक्क लगाया जा सकता है या कृत्रिम वृक्क से काम चलाया जा सकता है, मगर कृत्रिम यकृत नहीं लगाया जा सकता। हालाँकि इस दिशा में चिकित्सा विज्ञान ने काफी अच्छे प्रयास किए हैं।

प्रारम्भिक इलाज

1. पूर्ण आराम, 2. उपवास 3. शर्करायुक्त हल्के भोज्य पदार्थ।

खट्टे फल (नींबू, अनानास, नारंगी, पका पपीता) उल्टी रोकने के लिए उपयोगी हैं। उल्टी क्षारीय द्रव की अधिकता के कारण होती है, जो यकृत और आमाशय ग्रंथि में बनता है। खट्टे पदार्थ इन क्षारीय द्रव्यों को उदासीन करते हैं ताकि आराम मिल सके। इस बीमारी में नीबू लेने से अधिक लाभ होता है। पानी खूब पीना चाहिए। इस अवस्था में योग की भूमिका बहुत कम है। मुख्य आधार पूर्ण विश्राम है। ऐसा कोई पदार्थ नहीं लें जिससे यकृत पर भार पड़े। योग निद्रा ही एकमात्र ऐसा अभ्यास है जो इस अवस्था में किया जा सकता है। मितली अधिक होने पर एकाध बार कुंजल कर सकते हैं।

कम से कम 6 हफ्ते तक कोई आसन-प्राणायाम नहीं करें। मीठे पदार्थ एवं फल ग्लूकोज़ की आपूर्ति करते हैं, जो यकृत की रक्षा करता है।

जब बुखार कम होकर ताकत आनी शुरू हो जाय तब माध्यमिक इलाज

1. टहलना, धूप सेवन, 2. कुंजल क्रिया , 3. योग निद्रा।

जब तक पेशाब का रंग पीला रहता है तब तक खान-पान में परहेज रखना चाहिए। जब बुखार खत्म हो जाय तो दिन में तीन-चार बार सब्जी का सूप लेना चाहिए। उसके बाद उबला भोजन लेना चाहिए। इस अवस्था में फल, दूध अत्यन्त आवश्यक हैं। अन्न उसके बाद लिया जा सकता है। घी-मसाले से परिपूर्ण गरिष्ठ भोजन नहीं लेना चाहिए। हल्का और सुपाच्य भोजन लेना चाहिए। कम-से-कम छः महीने तक शराब एकदम नहीं पीनी चाहिए और हो सके तो इस बीच में दवा एकदम नहीं लेनी चाहिए। अपनी क्षमता के अनुसार सरल काम कर सकते हैं।

पूर्ण स्वास्थ्य लाभ के उपरान्त योगाभ्यास क्रम

प्राकृतिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार, 'सूर्य स्नान' तथा हल्के काम (जैसे बागवानी इत्यादि) करने से पसीने के माध्यम से शरीर का विषाक्त द्रव्य भी निकल जाता है। यकृत को पूर्णरूपेण स्वस्थ बनाने के लिए निम्नांकित आसन करने चाहिए–

1. *आसन*– अगर बीमारी के दौरान मांसपेशियाँ एवं जोड़ कड़े हो गये हों तो पवनमुक्तासन भाग 1 और भाग 2 बहुत ही लाभदायक सिद्ध होंगे। इसके अलावा सूर्य-नमस्कार तीन से सात चक्र सूर्योदय के समय कर सकते हैं। पश्चिमोत्तानासन, विपरीतकरण मुद्रा एवं शशांकासन विशेष रूप से अनुशंसित हैं। अन्य अभ्यास जो पेट को सीधे प्रभावित करते हों, जैसे– अर्द्ध पद्म पादोत्तानासन, योग मुद्रा, हलासन, मेरुदण्डासन इत्यादि।
2. *प्राणायाम*– भस्त्रिका, सूर्य भेद, नाड़ी शोधन।
3. *मुद्रा एवं बन्ध*– पाशिनी मुद्रा, योग मुद्रा, विपरीतकरणी मुद्रा। विपरीतकरणी मुद्रा को उड्डियान बन्ध एवं अग्निसार क्रिया के नियमित अभ्यास द्वारा क्रमिक रूप से मजबूत बनाया जा सकता है। तीन चक्रों से शुरू कर पाँच चक्रों तक अभ्यास कर सकते हैं।

4. *षट्कर्म*–ठीक होते ही एक बार लघु शंखप्रक्षालन कर लेना चाहिए। कुंजल क्रिया हफ्ते में दो बार कर सकते हैं। वस्त्रधौति भी लाभदायक है। इनके द्वारा तीव्र पाचन शक्ति, रोग प्रतिरोधक क्षमता और प्रज्वलित जठराग्नि की प्राप्ति होती है।
5. *योग निद्रा*–यदि सभी सावधानियाँ बरती जायें तो व्यक्ति पीलिया के उपरान्त पहले से ही अधिक शक्ति प्राप्त कर सकता है। नयी यकृत कोशिकाएँ रक्त को और अच्छे ढंग से शुद्ध बना सकती हैं। योग निद्रा से शिथिलीकरण मिलता है जिससे पुनर्जीवन की प्रक्रिया और तीव्र हो जाती है।

अत: योग पाचन शक्ति को मजबूत कर एवं रोगों को दूर कर हमें शक्तिशाली बनाता है। फलस्वरूप पाचन शक्ति अत्यन्त बढ़ जाती है। यही योगियों द्वारा कुछ भी पचाने एवं अधिक दिनों तक स्वस्थ जीवन जीने का राज है। फिर भी योगी हमेशा हल्का भोजन, कड़ी मेहनत एवं उच्च विचार पर जीवन व्यतीत करता है।

रोगमुक्त होने पर हमेशा प्रयास रहना चाहिए कि हम उचित जीवनचर्या द्वारा पाचन शक्ति एवं रक्त की शुद्धता बनाए रखें।

मोटापा

मोटापे का अर्थ है – शरीर के भार में अत्यधिक वृद्धि होना। इससे शरीर के विभिन्न संस्थानों, जैसे – हृदय, परिसंचरण, श्वसन एवं उत्सर्जन पर अनावश्यक जोर पड़ता है, जिससे चयापचय सम्बन्धी अनेक प्रकार की गम्भीर बीमारियों की संभावना बढ़ जाती है, यथा – मधुमेह, उच्च रक्तचाप, हृदय रोग, आर्थ्राइटिस तथा अन्य रोग। इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति में तेजस्विता की कमी, मानसिक सुस्ती तथा डिप्रेशन के रूप में परिलक्षित होते हैं।

मोटापे का सबसे प्रमुख कारण अधिक मात्रा में खाना है। समस्या केवल अधिक मात्रा में भोजन ग्रहण करने की नहीं है, बल्कि गलत प्रकार का आहार लेने की भी है। अधिक मात्रा में वसा, मसाले, शर्करायुक्त भोजन, मिठाइयों और परिष्कृत आहार से शरीर के वजन में वृद्धि होती है। जबकि ऐसा आहार जिसमें अनाज, फल एवं सब्जियों की बहुलता हो, वह शरीर के भार को सन्तुलित रखता है तथा सर्वोत्तम स्वास्थ्य भी प्रदान करता है।

मोटापा प्राय: दो प्रकार के लोगों में होता है। इनमें से पहले समूह में वे व्यक्ति आते हैं जो स्वभावत: प्रतिस्पर्धी, क्रोधी तथा लोभी होते हैं और तेजी के साथ अधिक मात्रा में खाते हैं, क्योंकि वे भोजन को अपनी छिपी हुई मानसिक ऊर्जा को मुक्त करने तथा अपूर्ण महत्त्वाकांक्षाओं एवं इच्छाओं को पूर्ण करने के माध्यम के रूप में प्रयुक्त करते हैं। इनमें रजोगुण या उत्तेजनात्मक व्यक्तित्व की प्रधानता होती है। दूसरे समूह में गृहणियाँ आती हैं जो ऊब अथवा नीरसता के कारण लगातार खाती हैं। इनमें तमोगुण या व्यक्तित्व में जड़ता, आलस्य तथा सुस्ती की प्रधानता होती है। जैसे-जैसे इनका वजन बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे ये अपने बेडौल रूप के कारण स्वयं

से खिन्न होती जाती हैं एवं इस खिन्नता को दूर करने के लिए पहले से अधिक खाती हैं। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि कुण्ठाजनित निराशा ही अति आहार का कारण है, क्योंकि सृजनात्मक ऊर्जा का उपयोग न होने के कारण वह खाने की इच्छा की ओर दिशांतरित हो जाती है।

मोटे व्यक्तियों में ग्रंथीय स्राव में कमी आ जाती है। इनमें अंत:स्रावी ग्रंथियाँ ठीक प्रकार से कार्य करना बन्द कर देती हैं, जिससे हार्मोन का स्राव के साथ ही मानसिक एवं भावनात्मक असन्तुलन भी आ जाता है। कुछ लोग थायरॉयड, एड्रीनल या प्रजनन सम्बन्धी ग्रंथियों के प्रारम्भिक असन्तुलन के कारण भी मोटापे के शिकार हो जाते हैं। यदि व्यक्ति बिना अति आहार के भी मोटा हो रहा हो तो अंत:स्रावी असन्तुलन या व्यायाम की कमी इसका कारण हो सकता है।

मोटापे का उपचार

यदि एक दृढ निश्चय के साथ प्रतिदिन योग का अभ्यास प्रारम्भ किया जाये तो सभी मोटे व्यक्तियों का वजन कम होकर सामान्य स्तर पर आ सकता है। लेकिन समस्या यह है कि इन लोगों को प्रेरणा एवं इच्छाशक्ति की बहुत आवश्यकता होती है। इन्हें स्वयं अपनी आदतों और खाने के गलत तरीकों को छोड़कर शक्ति को अधिक स्वस्थ तथा सृजनात्मक कार्यों की ओर दिशांतरित करना चाहिए। योगाभ्यास द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति निश्चित रूप से की जा सकती है।

लगातार तनाव की स्थिति में रहने वाले राजसिक प्रवृत्ति के अति आहारी मोटे व्यक्तियों को योगनिद्रा से अत्यधिक लाभ प्राप्त होता है। ये लोग बिना भोजन का स्वाद लिए, बिना उसका आनन्द उठाये तनाव की स्थिति में ही भोजन करते हैं और अधिक मात्रा में खा लेते हैं। इन्हें प्रत्येक भोजन से पहले 10 मिनट का शवासन का अभ्यास करना चाहिए, जिससे पाचन संस्थान एवं अन्य अंगों के तनाव तथा मानसिक व्यस्तता को दूर किया जा सके। इसके साथ ही सजगतापूर्वक भोजन करना भी आहार की मात्रा को कम करने में मदद करता है। उदाहरण के लिए, व्यक्ति को सजग रहना चाहिए कि वह आधा पेट भोजन से, एक चौथाई पानी से तथा एक चौथाई हवा से भर रहा है। वह यह भी सोच सकता है कि भोजन का प्रत्येक ग्रास जो मुँह में डाल रहा है वह अग्निदेव को आहुति अर्पित कर रहा है। इससे भोजन ग्रहण करने

की क्रिया ध्यान और सजगता में परिवर्तित हो जायेगी और ग्रहण किये जाने वाले भोजन की मात्रा स्वत: कम हो जायेगी।

दूसरी तरफ नीरसता या ऊब अनुभव करने वाले अति आहारी व्यक्तियों (पुरुषों या महिलाओं) को कर्मयोग की ओर प्रेरित करना चाहिए। उन्हें किसी प्रकार स्वयं को व्यक्त करने के तरीके जानने चाहिए, जिससे वे घर, रसोई या लगातार भोजन के लालच से दूर रहकर उत्साहवर्द्धक और उपयोगी कार्य कर सकें। जैसे-जैसे अन्य कार्यों में रुचि बढ़ेगी, वैसे-वैसे भोजन की मात्रा में कमी आती जायेगी।

योग कार्यक्रम

1. *आसन*– आसन मोटे व्यक्तियों में ऊर्जा के प्रवाह में आये अवरोधों को दूर कर प्राणों को मुक्त करने में, मन में पुन: तेजस्विता लाने एवं अन्त:स्रावी ग्रंथियों को सन्तुलित करने के लिए अति आवश्यक हैं। मोटे लोगों को बिना थके अधिकतम अभ्यास करना चाहिए। इन्हें आनन्द और शिथिलता के साथ करना चाहिए। वजन कम करने के लिए कड़ी शारीरिक मेहनत करके पसीना बहाना आवश्यक नहीं है, क्योंकि यह पतले होने का सही तरीका नहीं है। मोटे व्यक्ति में शारीरिक और मानसिक दोनों ही शक्तियाँ कम होती हैं। इसीलिए कड़ी मेहनत वाले व्यायाम से वह जल्दी ही थक जाएगा। स्थायी रूप से वजन में कमी लाने के लिए शरीर एवं मन की सम्पूर्ण प्राणिक संरचना की पुनर्कल्पन (ओवरहॉलिंग) आवश्यक है।

   आसनों के द्वारा तेजस्विता में धीरे-धीरे, किन्तु निश्चित रूप से वृद्धि होती है। इनसे बिना किसी प्रयास के क्रमश: नाड़ियों एवं अन्त:स्रावी मार्गों में पुनर्सन्तुलन आता है। योग के द्वारा पतले होने एवं पुनर्सन्तुलन लाने की प्रक्रिया जिमनास्टिक से प्रत्येक स्तर पर भिन्न है, क्योंकि जिमनास्टिक का उद्देश्य वजन को तेजी से कम करना है, किन्तु इसका प्रभाव अस्थाई रूप से ही पड़ता है। यदि अतीन्द्रिय एवं प्राणिक ऊर्जा को पुनर्सन्तुलित एवं अन्त:स्रावी संस्थान को पुनर्व्यवस्थित न किया जाये तो अवश्य ही वजन फिर बढ़ जायेगा। आसनों में सर्वोत्तम अभ्यास हैं– पवनमुक्तासन, वज्रासन एवं शक्तिबन्ध समूह तथा सूर्य नमस्कार। इन सरल आसनों का कुछ महीनों तक नियमित रूप से अभ्यास करने के

बाद उच्च आसनों को भी सम्मिलित किया जा सकता है, क्योंकि ये विशेष रूप से अन्त:स्रावी ग्रंथियों एवं मेरुदण्ड से सम्बन्धित स्नायुओं को सन्तुलित करते हैं।

2. *प्राणायाम*– भ्रामरी और नाड़ी-शोधन प्राणायाम तेजस्विता को पुनर्प्राप्त करने के लिए उपयोगी हैं, परन्तु वे प्राणायाम जिनसे भूख में वृद्धि होती है, नहीं करने चाहिए। सरल भ्रस्त्रिका का अभ्यास चयापचय को बढ़ाता है और वसा को कम करता है, इसलिए यह किया जा सकता है।
3. *षट्कर्म*– नेति और कुंजल प्रतिदिन करना आवश्यक है और एक बार किसी आश्रम में जाकर कुशल मार्गदर्शन में पूर्ण शंखप्रक्षालन का अभ्यास भी करना चाहिए। लघु शंखप्रक्षालन सप्ताह में एक या दो बार करते रहना चाहिए। इससे अवरुद्ध एवं निस्तेज पाचन संस्थान, निष्क्रिय यकृत और अग्न्याशय पुन: क्रियाशील हो जाते हैं। इनके परिणामस्वरूप शारीरिक हल्कापन, बढ़ी हुई जैविक ऊर्जा तथा वैचारिक स्पष्टता का पुन: अनुभव किया जा सकता है।
4. *शिथिलीकरण*– योगनिद्रा का अभ्यास प्रतिदिन आवश्यक है। इसमें नकारात्मक संकल्प नहीं लेना चाहिए, क्योंकि इससे हो सकता है कि अति आहार की आदत और बढ़ जाये। 'मेरी तेजस्विता प्रतिदिन बढ़ रही है' या 'प्रतिदिन आहार से मेरी अधिकतम सृजनात्मक शक्ति मुक्त हो रही है', इस प्रकार के सकारात्मक संकल्प से निस्तेज एवं त्रुटिपूर्ण जीवन शैली को सुधारने में मदद मिलती है।
5. *आहार सम्बन्धी नियम*– मोटे व्यक्तियों को उपवास करने का सुझाव नहीं दिया जा सकता। इन लोगों के लिए उपवास के एक सुनिश्चित कार्यक्रम को अपनाना बहुत कठिन होता है, क्योंकि उपवास समाप्त होने पर ये प्रतिक्रिया स्वरूप पहले से अधिक मात्रा में दुगुनी आसक्ति के साथ खाना प्रारम्भ कर देते हैं। इसके स्थान पर प्रतिदिन पौष्टिकता से परिपूर्ण और सादा भोजन निश्चित समय पर लेना चाहिए तथा सुबह एवं शाम के भोजन के बीच दिन में कुछ नहीं खाना चाहिए। यकृत, पाचन संस्थान एवं हृदय की क्रियाशीलता का सुचारु रूप से बनाये रखने के लिए अधिक मात्रा में शर्करा, मिठाइयाँ, वसा, मसाले, दूध तथा दूध से बने पदार्थ, चावल एवं परिष्कृत भोजन की मात्रा कम करके साबुत अनाज, फल एवं हरी सब्जियाँ ही लेनी चाहिए।

वर्तमान समाज में भूख और शारीरिक आवश्यकता के अनुसार खाने के महत्त्व की शिक्षा देना बहुत आवश्यक हो गया है और यह योग के अभ्यास द्वारा ही सम्भव है, क्योंकि इससे हमारी मौलिक इच्छाओं की अभिव्यक्ति का दिशान्तरण आहार से हटकर रचनात्मक और प्रेरणाप्रद विचारों की ओर हो जाता है।

पंचम खण्ड

मांसपेशीय – अस्थि तंत्र एवं जोड़

आर्थ्राइटिस

जोड़ों में, विशेषकर श्लेषक जोड़ों *(सायनोवियल जाईंट)* में इन्फ्लेमेशन या सूजन, दर्द इत्यादि हो जाने को आर्थ्राइटिस कहते हैं। अधिकतर हाथ एवं पैरों के जोड़ श्लेषक जोड़ों के उदाहरण हैं। इसे सामान्य भाषा में गठिया भी कहा जाता है।

यद्यपि आर्थ्राइटिस के कई प्रकार होते हैं, परन्तु सामान्य तौर पर पाये जाने वाले आर्थ्राइटिस के प्रकारान्तरों की विवेचना इस लेख में की जा रही है। शरीर को अपंग बना देने वाली बीमारियों में से आर्थ्राइटिस सबसे सामान्य बीमारी है। इस बीमारी का प्रकोप प्रत्येक दस में से एक व्यक्ति को होता है। मात्र अमेरिका में इसके एक करोड़ तीस लाख के लगभग मरीज हैं।

गठिया एक ऐसा अपंगता एवं विकृति पैदा करने वाला रोग है जो धीरे-धीरे जोड़ों को पूर्णरूपेण क्षतिग्रस्त कर देता है। इस रोग में जोड़-जोड़ में दर्द, लाली, गर्माहट एवं सूजन होने के साथ-साथ उन्हें हिलाना-डुलाना भी मुश्किल हो जाता है। इसमें प्राय: शरीर का वजन ढोने वाले अंगों के जोड़, जैसे – नितम्ब, घुटने या टखने इत्यादि अधिक प्रभावित होते हैं। इसी प्रकार ऊँगलियों के पोर इत्यादि जैसे छोटे-छोटे जोड़ भी आक्रान्त होते हैं।

आर्थ्राइटिस का शरीर-विज्ञान

जोड़ों को लचीला बनाने एवं सहज ढंग से कार्य करने के लिए दो चीजें जरूरी हैं। पहली तो जो हड्डियाँ जोड़ बनाती हैं उनके किनारे पूर्ण रूप से चिकने हों (यह कार्य उनके सिरों पर चिपकी *उपास्थियों* अथवा *कार्टिलेज* द्वारा होता है)। दूसरा, जिस प्रकार ठीक से कार्य करने के लिए मशीन के पुर्जों के बीच में

ग्रीज की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार उनके बीच में चिकनाई-युक्त पदार्थ आवश्यक है। (यह कार्य श्लेषक तेल करता है) इस प्रकार दोनों में किसी की भी कमी से जोड़ों की क्रियाशीलता में बाधा पड़ेगी।

जोड़ों को चारों ओर से अस्थिबन्ध बाँधे रहते हैं ताकि दोनों हड्डियाँ एक-दूसरे के सम्पर्क में बनी रहें तथा असामान्य रूप से इधर-उधर खिसके नहीं, किन्तु उनमें इतना लचीलापन बना रहे कि सामान्य गतिविधियाँ ठीक से हो सकें। जोड़ों की आन्तरिक सतह पर एक पतली झिल्ली *(श्लेषक झिल्ली)* रहती है जो लगातार श्लेषक तेल बनाती एवं सोखती रहती है। श्लेषक जोड़ इस तैलीय पदार्थ में हमेशा चिकने बने रहते हैं और उनके मुड़ने में कोई रुकावट नहीं होती।

श्लेषक तेल श्लेषक झिल्ली द्वारा रक्त से बनता है और शिराओं एवं लसिकाओं *(लिम्फेटिक्स)* द्वारा सोख लिया जाता है। इस प्रकार उसका संचार जोड़ों और उनकी उपास्थियों में रक्त से पोषक तत्त्व पहुँचाता है तथा उनके द्वारा उत्सर्जित पदार्थों को अपने साथ बहा ले जाता है। यह संचरण कोशिकाओं को पोषण प्रदान करने एवं उन्हें ह्रास से बचाने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अगर इन जोड़ों में प्रवाहित होने वाली प्राणशक्ति में किसी प्रकार की रुकावट अथवा कमी हो जाये और वह अधिक दिनों तक बनी रहे तो रक्त तथा लसिका (लिम्फ) का प्रवाह धीमा पड़ जायेगा तथा श्लेषक तेल के संचरण में कमी आ जायेगी। इस प्रकार कोशिकाओं के पोषण में कमी होगी तथा उनके टूटने-फूटने से जो उत्सर्जित विषाक्त पदार्थ होंगे, वे इसी तेल में पड़े रहेंगे, जबकि उनका उत्सर्जन गुर्दे एवं त्वचा इत्यादि द्वारा बाहर हो जाना चाहिए।

शरीर में उत्पन्न अम्लीय तथा विषाक्त पदार्थों के जोड़ों में एकत्र होने के कारण वहाँ के संवेदनशील स्नायु तंत्र उत्तेजित होते हैं जिससे दर्द और कड़ापन उत्पन्न होता है। अगर जोड़ों में प्राणशक्ति का प्रवाह बहुत दिनों तक अवरुद्ध रहा तो फिर इनमें क्षति उत्पन्न होने लगती है। श्लेषक तेल की चिकनाई कम हो जाती है, जो कोमल उपास्थियाँ हैं, उनका क्षय होने लगता है और जोड़ों में कैल्शियम इत्यादि पदार्थ एकत्र होने लगते हैं। फलत: जोड़ों की हलचल में बाधा उत्पन्न होती है। यही स्थिति बनी रहने पर जोड़ का स्वरूप ही नष्ट होने लगता है। सूजन, दर्द, कड़ापन इत्यादि बढ़ता जाता है और रोगी अपंग एवं निष्क्रिय हो जाता है।

आर्थ्राइटिस के प्रकार

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में आर्थ्राइटिस के अनेक प्रकार बताये गये हैं, परन्तु योग इन्हें एक ही रोग की मात्र विभिन्न अवस्थायें मानता है जो मूलत: प्राणशक्ति की रुकावट के कारण दिखाई पड़ती हैं। विभिन्न लक्षणों के रूप में दिखाई पड़ने वाले इस रोग का मूल कारण तो एक ही है, परन्तु लक्षण उत्पन्न होने की गति एवं स्थान में भिन्नता होने के कारण इसे अलग-अलग नाम दिये जाते हैं। कई बार जोड़ों की बीमारी के मूल में शरीर की कई अन्य व्याधियाँ होती हैं, जिनका निदान पूर्ण परीक्षण के द्वारा किया जाना जरूरी है।

1. **अतिपाती (एक्यूट) आर्थ्राइटिस –** इस अल्पकालिक गठिया की अवस्था से सभी परिचित हैं। जब कभी सर्दी, खाँसी, फ्लू, बुखार या पेचिश हो तो जोड़ों में दर्द उठता है, क्योंकि इन रोगों के विषाणु जो रक्त प्रवाह में अपने विष छोड़ते हैं, वे जोड़ों के तरल पदार्थ में इकट्ठे हो जाते हैं। लेकिन जैसे ही मूल रोग समाप्त होता है एवं शुद्धिकरण प्रक्रिया पूर्ण होती है, यह लक्षण स्वयं ठीक हो जाता है। इसके लिए विशेष इलाज की आवश्यकता नहीं पड़ती।
2. **अस्थिक्षय (ऑस्टियो) आर्थ्राइटिस –** धीरे-धीरे जोड़ों का विनाश करने वाला यह आर्थ्राइटिस अधिकतर मध्य आयु के बाद या प्रौढ़ावस्था अथवा वृद्धावस्था में होता है। यह विशेषकर उन लोगों को होता है, जिनका शरीर मोटा है और जो बहुत भारी और गरिष्ठ भोजन करते हैं तथा परिश्रम कम करते हैं। चिकित्सा-विज्ञान में इसका सुनिश्चित कारण अज्ञात है, परन्तु रोग अधिकतर उसी जोड़ में उभर आता है जहाँ पर जन्मजात शरीर की बनावट में गड़बड़ी हो या चोट लगी हो। जिसको उसी समय ठीक करने का प्रयत्न न किये जाने से शारीरिक बनावट में अव्यवस्था उत्पन्न होकर प्राणशक्ति में कमी आ जाती है। शरीर का भार यदि विकृत रूप से जोड़ों पर पड़ता रहे तो भी टूट-फूट होने तथा आर्थ्राइटिस की सम्भावना बढ़ जाती है। इसका दूसरा कारण शरीर में कैल्शियम की अधिकता है, जो असन्तुलित भोजन अथवा पैराथॉयराइड ग्रंथि (जो गले में स्थित रहती है) के असन्तुलित ढंग से कार्य करने के कारण भी हो सकती है।
3. **वातजनित गठिया या रूमेटॉइड आर्थ्राइटिस –** यह गम्भीर तीव्र प्रभावी बीमारी वस्तुत: जोड़ों का क्षय कर पंगु बना देती है। अधिकतर यह बीमारी युवकों एवं मध्य आयु के लोगों को होती है और इस बीमारी

से ग्रस्त लोगों की संख्या में धीरे-धीरे वृद्धि हो रही है। इस बीमारी के होने का भी सुनिश्चित कारण अज्ञात है, फिर भी यह माना जाता है कि किसी भावनात्मक आघात के कारण या रक्त में अचानक किसी अवांछित बाह्य पदार्थों के प्रवेश, जैसे – कोई तेज ओषधि, तीक्ष्ण संक्रमण या इनके विरुद्ध बनने वाले प्रतिपिण्डों (एन्टिबॉडीज) के जोड़ों में इकट्ठे होने के कारण हो सकता है। उनके कारण तीव्र सूजन होकर दर्द एवं क्षय की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। ये अवांछित पदार्थ उन जोड़ों से निष्कासित हो जाते हैं, जहाँ पर रक्त परिसंचरण एवं प्राणशक्ति का प्रवाह उचित ढंग से होता है, लेकिन जहाँ पर इनमें कमी होती है, वे जोड़ रोगग्रस्त हो जाते हैं।

4. **गाउट** – गाउट तीक्ष्ण गठिया का ही विशेष रूप है जो भोजन की गड़बड़ी से उत्पन्न होती है। गाउट से अधिकतर वे ही व्यक्ति पीड़ित होते हैं जो अपने भोजन में अधिक मात्रा में प्रोटीन (विशेषकर मांस) लेते हैं। प्रोटीन के पाचन के पश्चात् एक विषोत्पाद, *यूरिक एसिड* पैदा होता है। सामान्यत: यह मूत्र के साथ बाहर निकल जाता है, परन्तु गाउट के मरीजों में वह शरीर में ही एकत्र होने लगता है। जिस प्रकार पानी में अधिक शक्कर घोलने पर वह वापस कणों के रूप में तली में बैठ जाती है, ठीक उसी प्रकार यह जोड़ों में संचित होकर कणों का रूप ले लेता है। हम अनुपयुक्त भोजन द्वारा 'स्व विषपान' कर किस प्रकार से शरीर को रोगग्रस्त करते हैं, गाउट इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण है।

आर्थ्राइटिस (गठिया) के विभिन्न कारण

व्यक्ति के मानसिक एवं भावनात्मक तनाव, रहन-सहन एवं भोजन के गलत तौर-तरीके इत्यादि अनेक कारण हैं जो केन्द्रीय नियंत्रण प्रणालियों एवं अन्त:स्रावी प्रणाली में असन्तुलन उत्पन्न कर पूरे शरीर पर नकारात्मक प्रभाव डालते हैं।

1. *भोजन* – अधिक भोजन करने तथा तेल, घी, मांस, पशुओं की चर्बी, तले भोजन, डिब्बा बन्द एवं कृत्रिम रूप से बने पदार्थ, दूध, चीनी, नमक इत्यादि पदार्थों की अधिकता रोग की शुरुआत एवं उसे बढ़ावा देने में मुख्य भूमिका निभाते हैं। कब्ज भी इस रोग को बढ़ाने में सहायक होता है।
2. *व्यायाम* – नियमित रूप से व्यायाम नहीं करने से अंगों के जोड़ एवं स्नायु कड़े पड़ जाते हैं तथा पूर्णत: हिलने-डुलने के योग्य नहीं रह पाते। उचित

तरीके से बैठने की अपेक्षा सदा कुर्सी पर कार्य करने तथा व्यायाम न करने से पैर, नितम्ब, मेरुदण्ड एवं कंधों की मांसपेशियों एवं जोड़ों का लचीलापन समाप्त हो जाता है।

3. *मानसिक तनाव*– अवचेतन में छिपे तनाव, कुंठित भावनायें, भय एवं अति संवेदनशीलता व्यक्तित्व का सहजपन समाप्त कर उनमें कठोरता ले आते हैं। मानसिक कठोरता, जैसे– जिद्दीपन, सब कुछ खो जाने का भय या असुरक्षा की भावना अन्ततः शारीरिक स्तर पर एलर्जी, अन्तःस्रावी असन्तुलन, प्रतिरोधक क्षमता में कमी, मांसपेशीय तनाव, गठिया तथा तन्तुशोथ (फाइब्रोसाइटिस) कब्ज इत्यादि को जन्म देती है। गठिया का रोगी अपनी मानसिक भावनाओं को, विशेषकर क्रोध को व्यक्त नहीं कर पाता। इस प्रकार उसकी अव्यक्त आन्तरिक पीड़ा उसे भीतर-ही-भीतर कमजोर बनाकर उसके चयापचय को असन्तुलित कर देती है।

आधुनिक चिकित्सा

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान गठिया के दर्द को तो राहत दे सका है, परन्तु इसके वास्तविक कारणों का पता नहीं लगा पाया है, न ही उसके द्वारा पूर्ण निराकरण सम्भव हो सका है। इलाज का प्रारम्भ एस्प्रीन वर्ग की दवाइयों से होता है जो दर्द एवं इन्फ्लेमेशन, यानी सूजन इत्यादि कम करती हैं। वे काफी प्रभावशाली तो हैं लेकिन कुछ समय तक प्रयोग करने के बाद शरीर उन दवाओं का अभ्यस्त हो जाता है और उनका प्रभाव कम होने लगाता है। तत्पश्चात् दवाओं की मात्रा बढ़ाना आवश्यक हो जाता है। फलस्वरूप इनके कुप्रभाव, जैसे– पेट, यकृत एवं गुर्दे की खराबी, इत्यादि शुरू हो जाते हैं तथा रोग इलाज की दूसरी सीढ़ी पर पहुँच जाता है।

फिर एस्प्रीन से और अधिक प्रभावशाली अन्य दवा, जैसे– *इन्थोमेथासीन* या *फिनाइलब्यूटाजोन* का प्रयोग करना पड़ता है। जब इनका भी प्रभाव कम होने लगता है या कुप्रभाव उत्पन्न होने लगते हैं तो फिर तीसरी सीढ़ी पर कॉर्टिकोस्टीरॉयड्स का प्रयोग शुरू होता है।

कॉर्टिकोस्टीरॉयड्स एक प्राकृतिक हॉर्मोन है जो एड्रीनल ग्रन्थि की बाह्य कोशिकाओं द्वारा अन्तःस्रावित होता है। बाहर से इनका प्रवेश शरीर में होने पर ये प्राकृतिक तंत्र पर कुप्रभाव डालती हैं। लम्बे समय तक इनके उपयोग से पेट में छाले, प्रतिरोधी प्रणाली की क्षमता में कमी एवं एड्रिनल

ग्रन्थि में सिकुड़न होने लगती है, शरीर की चर्बी विकृत रूप से बढ़ने लगती है, उच्च रक्तचाप तथा मधुमेह की संभावना बढ़ जाती है एवं हड्डियाँ कमजोर पड़ जाती हैं तथा आसानी से टूट सकती हैं।

अन्ततः दवाओं के विफल होने पर अन्तिम उपाय यही रह जाता है कि आक्रान्त जोड़ को शल्य क्रिया द्वारा हटाकर कृत्रिम धातु का जोड़ लगा दिया जाये। ये कृत्रिम जोड़ स्टील से मिलती-जुलती धातु से बने होते हैं तथा बहुत वर्षों तक काफी कारगर ढंग से कार्य करते हैं। फिर भी काफी सालों बाद इन्हें भी बदलने की आवश्यकता पड़ सकती है, लेकिन तब तक रोगी की अवस्था इतनी हो जाती है कि वह शल्य चिकित्सा के आघात को सहन नहीं कर पाता। वैसे भी वह शल्य-क्रिया काफी खर्चीली होती है और शायद सभी व्यक्तियों के लिए इतना खर्च उठाना सम्भव न हो।

यौगिक-चिकित्सा

आर्थ्राइटिस के यौगिक उपचार की प्रक्रिया सर्वमान्य, सर्वसम्मत एवं अत्यन्त प्रभावकारी है। योग कभी रोग के मूल में स्थित भोजन, व्यायाम एवं जीवनचर्या की गड़बड़ी को ठीक किये बिना या इनकी अवहेलना कर सिर्फ लक्षण मिटाने के लिए दवा खाने की सलाह नहीं देता।

योग अभ्यास आश्रम के वातावरण में रहकर सीखने और करने पर उनका परिणाम काफी लाभकारी और सहायक होता है, जबकि घर या कार्यक्षेत्र में नकारात्मक वातावरण अथवा निर्भरात्मकता या परावलम्बता को बढ़ावा मिलता है। उदाहरण के रूप में यदि रोगी कर्मयोग करना चाहे तो उसे सुनना पड़ता है– "अरे भाई! तुम तो बहुत बीमार हो, आराम करो, हमलोग सब कर लेंगे। तुम क्यों परेशान होते हो?" गठिया के रोगियों के इलाज के लिए कर्मयोग भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि आसन, प्राणायाम इत्यादि।

यौगिक उपचार के एक आदर्श कार्यक्रम में निम्नलिखित अवयव अवश्य होने चाहिए–

1. *आसन*– गठिया से बचाव एवं उसके नियंत्रण के लिए किये जाने वाले आसनों में जो आसन मुख्य हैं, वे इस प्रकार हैं–
   - वात या गठिया निरोधक पवनमुक्तासन के सभी आसन जो शरीर के समस्त जोड़ों को जितना सम्भव हो सके, सक्रिय बनाकर उसकी भली-भाँति मालिश करते हैं तथा कड़ापन एवं तनाव दूर कर उन्हें

शिथिल करते हैं। पवनमुक्तासन का अभ्यास करने के पहले रोगी को अपने हाथ-पैर ठण्डे पानी, फिर गर्म पानी में नमक घोलकर उसमें डुबाकर रखना चाहिए ताकि रोगग्रस्त क्षेत्रों में रक्त संचार बढ़ जाये।

- जैसे-जैसे जोड़ों का लचीलापन बढ़ता जाये, अन्य आसनों को अभ्यास में जोड़ते जाना चाहिए। जैसे – *शशांकासन, मार्जरी आसन, शशांक-भुजंगासन* तथा *आकर्ण धनुरासन*। भोजनोपरान्त यदि सम्भव हो तो वज्रासन करना चाहिए। प्रारम्भ में तकिये का सहारा लिया जा सकता है।
- अन्ततः सूर्यनमस्कार का अभ्यास अपनी शक्ति अनुसार करना चाहिए। रोज सबेरे 6 से 12 चक्र तक सूर्यनमस्कार करने से जीवन भर आर्थ्राइटिस के प्रभाव से मुक्त रहना सम्भव है तथा रोग की विकसित अवस्था में इसके क्षय को आगे बढ़ने से रोकने के लिए तथा पीड़ामुक्त रहने के लिए यथेष्ट है।

2. *हठयोग क्रियाएँ* – लघु अथवा पूर्ण शंख प्रक्षालन, कुंजल एवं नेति क्रियाएँ अत्युत्तम हैं। ये कब्ज को दूर कर रक्त में, जोड़ों में एवं अन्य ऊत्तकों में एकत्र अम्ल तथा अन्य विषैले पदार्थों को निष्कासित करने में सहायक हैं। कब्ज के रहते गठिया पूर्ण रूप से कभी ठीक नहीं हो सकेगा।
3. *प्राणायाम* – उदर श्वसन, नाड़ीशोधन प्राणायाम तथा भस्त्रिका प्राणायाम पाचन शक्ति को बढ़ाते हैं तथा नाड़ियों में प्राणशक्ति के प्रवाह को बढ़ाकर उनमें जो भी अवरोध हों उन्हें दूर करते हैं। ये शरीर की जीवनी-शक्ति बढ़ाते हैं तथा उसे स्वस्थ रखने में सहायक हैं।
4. *ध्यान* – ध्यान के अभ्यास से मानसिक तथा भावनात्मक तनाव मुक्त होते हैं। ध्यान एवं शिथिलीकरण के अभ्यास से व्यक्ति में सकारात्मक विचार विकसित होते हैं।
   - अन्तर्मौन – अन्तर्मौन की दूसरी अवस्था के अभ्यास में मन को स्वतंत्र छोड़कर मन में सहज रूप से उठने वाले विचारों को साक्षी भाव से देखा जाता है। इस प्रकार विचारों को साक्षी भाव से देखने से कुछ समय के उपरान्त अर्द्धचेतन मन में दबे हुए कुंठित विचार एवं भावनायें चेतन तल पर उभरने लगती हैं और मन में दबे हुए विचार बाहर निकलने लगते हैं। विचारों के बाहर निकलने से व्यक्ति की समस्याएँ भी बाहर निकलने लगती

हैं। मन के तनाव से मुक्त होने से शरीर भी तनावरहित एवं हल्का हो जाता है। गठिया, जो शरीर और मन में जकड़न के रूप में दिखलाई देता था, उससे व्यक्ति मुक्त होकर स्वस्थ एवं सुखी हो जाता है। गठिया के मरीज के लिए योगनिद्रा भी बहुत ही शक्तिशाली अभ्यास है।

5. *आहार* – नीचे बतलाये गये सामान्य आहार नियमित रूप से लेने पर शरीर से विषात्मक प्रभाव खत्म होंगे तथा सफाई की प्रक्रियाएँ निर्बाध गति से हो सकेंगी। साथ ही आवश्यक पोषक तत्त्वों की आपूर्ति भी होगी।
   - उबले हुए हल्के दाने अथवा अनाज – जैसे चावल, बाजरा, जौ, गेहूँ, चपाती आदि।
   - उबली एवं सुपाच्य दालें – जैसे, मूँग इत्यादि। ये प्रोटीन की आवश्यकता पूर्ण करती हैं।
   - उबली या पकाई हुई हरी सब्जियाँ, लेकिन प्याज नहीं।
   - सभी प्रकार के फल (केले को छोड़कर), गिरीदार फल, सूखे मेवे (कम मात्रा में) तथा शक्कर के स्थान पर शहद लें। ऋतु एवं स्थान के अनुसार सभी फल एवं सब्जियाँ, जो सुगमता से प्राप्त हो जायें, लेनी चाहिए।

वर्जित पदार्थ

1. दूध या दूध से बने पदार्थ, जैसे – घी, मक्खन, पनीर, चीज आदि गठिया के रोगियों को नहीं लेने चाहिए।
2. डिब्बे बन्द अप्राकृतिक अथवा परिष्कृत भोज्य पदार्थ, जैसे – मैदा इत्यादि हानिकारक होते हैं।
3. मांस, मछली, अंडा इत्यादि सभी सामिष पदार्थ पूर्णत: वर्जित हैं। अगर अत्यन्त आवश्यक हो तो कभी-कभी थोड़ी मात्रा में ले सकते हैं। परन्तु याद रहे, ये उस रूप में भी नुकसानदायक ही होंगे।
4. आहार में चीकू, केला, पका पपीता, परवल, कद्दू, टिण्डा, टमाटर, लहसुन, प्याज, मूली, अदरक, गाजर, खट्टा फल (अम्लकारक) बिल्कुल नहीं। उड़द दाल, चना दाल, मसूर दाल, राजमा, खट्टे खाद्य, कदिमा, कच्चू, बैंगन, गोभी इत्यादि सभी वायुकारक खाद्य वर्जित हैं।

अन्य निर्देश

- दिन का भोजन सुबह 10 से 12 बजे के बीच तथा संध्या का भोजन 5 से 7 के बीच ले लेना चाहिए। शाम का भोजन हल्का होना चाहिए। कारण यह है कि भोजन पेट में उस समय पहुँच जाना चाहिए, जब पाचन-शक्ति पूर्ण रूप से क्रियाशील हो एवं सोने के समय तक पाचन प्रक्रिया लगभग पूर्ण हो जाए।
- दोनों समय भोजन के अलावा बीच में कुछ नहीं लेना चाहिए। न ही भारी नाश्ता लेना चाहिए।
- हफ्ते में एक दिन उपवास रखना चाहिए, विशेषकर उस समय जब जोड़ों में अधिक दर्द हो। एक-आध समय भोजन न करने से दर्द शीघ्र दूर होता है तथा स्वास्थ्य-लाभ होता है।
- *अमरोली*– 1 से 3 गिलास ताजा शिवाम्बू प्रतिदिन पीने से, पुराने अथवा उबले शिवाम्बू की मालिश करने से या उसमें भीगी पट्टी जोड़ों पर रखने से काफी आराम मिलता है, विशेषकर पुराने रोग में, जहाँ ओषधियाँ या स्टीरॉयड्स असफल हो चुके हैं।
- *आराम*– तीक्ष्ण दर्द की अवस्था में आराम करना बहुत आवश्यक है। कार्य के साथ-साथ, बीच-बीच में आराम भी करते रहना चाहिए। इससे शरीर शिथिल और हल्का हो जाता है।
- *गर्म सेंक एवं मालिश*– विशेषकर जाड़े के मौसम में गर्म पानी में अंगों को डुबाकर रखने अथवा पीड़ा वाले स्थान को सेंकने से मांसपेशियाँ हल्की हो जाती हैं और दर्द बहुत कम हो जाता है। इसके अलावा सूजन इत्यादि तो कम होती ही है, बल्कि वहाँ पर जमे हुए अवांछित पदार्थ निकल जाते हैं, नैसर्गिक तैलीय पदार्थ बनने लगते हैं तथा कैल्शियम का जमाव घुल जाता है। मांसपेशियों एवं अस्थियों में जो रेशे अथवा क्षतिचिह्न बनने शुरू हो गये थे, उनमें कमी आती है। गर्म सेंक के बाद मालिश करने से तंत्रिकाएँ शिथिल हो जाती हैं तथा सम्पूर्ण अंग में हल्कापन महसूस होने लगता है।
- *मानसिक अवस्था*– जो व्यक्ति यौगिक पद्धति से अपना इलाज चाहते हैं, उनके लिए धैर्य एवं सकारात्मक तरीका अपनाना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यह कोशिश शारीरिक बीमारी एवं मानसिक विकारों के दुष्चक्र को तोड़ने के लिए आवश्यक है।

योगविज्ञान के अनुसार आर्थ्राइटिस (गठिया) अपने आप में कोई रोग नहीं, वरन् एक लक्षण मात्र है, जो जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में ही पूरे शरीर में चयापचय या प्राणशक्ति के असन्तुलित हो जाने के कारण होता है। चूँकि जोड़ों पर सर्वाधिक घर्षण और भार पड़ता है, इसीलिए वहाँ पर प्राणशक्ति के प्रवाह में जरा सी भी कमी होने पर ऊत्तकों की जीवनीशक्ति क्षीण पड़ जाती है तथा वे रोगग्रस्त हो जाते हैं। जब तक प्राणशक्ति का प्रवाह अवरुद्ध रहेगा, जोड़ों में क्षय की प्रक्रिया चलती रहेगी। इसीलिए योगाभ्यास एक ऐसा तरीका है जो प्राण तथा जीवनीशक्ति के संचरण में जो भी अवरोध तथा कमी है, उसे ठीक कर रोग को बढ़ने से रोकने में सक्षम है। वस्तुत: यदि शरीर के जोड़ों में क्षतिग्रस्त होने के पहले ही योगाभ्यास प्रारम्भ कर दिया जाए तो पूर्ण निराकरण सम्भव है। लेकिन यदि बहुत समय बीत गया है तो भी योगाभ्यास द्वारा ओषधियों पर निर्भरता कम हो जायेगी और जोड़ों की बची कार्यक्षमता और क्रियाशीलता में वृद्धि हो जायेगी। गठिया के ऐसे अनेक मरीज हैं जो लगभग अपंग हो गये थे, परन्तु प्रतिदिन योगाभ्यास करने से उनके जोड़ों की कार्यक्षमता को आश्चर्यजनक तरीके से वापस आते तथा जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण को पूर्णरूपेण बदलते हुए देखा गया है।

ग्रीवादंश (सर्वाइकल स्पॉण्डिलाइटिस)

ग्रीवादंश अथवा सर्वाइकल स्पॉण्डिलाइटिस, गर्दन में स्थित रीढ़ की हड्डियों में लम्बे समय तक कड़ापन रहने तथा उनमें ह्रास हो जाने के कारण होता है।

इस रोग में गर्दन तथा कंधों में दर्द तथा जकड़न के साथ-साथ सिर मे पीड़ा तथा तनाव बना रहता है। यह दर्द कंधे से आगे बाँहों तथा हाथों तक समय पाकर बढ़ जाता है। इन स्थानों में सुई चुभने जैसी संवेदना होती है। गर्दन का हिलना-डुलना मुश्किल हो जाता है तथा इन अंगों में कमजोरी मालूम पड़ने लगती है और बाँहों की मांसपेशियाँ धीरे-धीरे सूखती नजर आने लगती हैं। सिर में चक्कर और कानों मे आवाज जैसे लक्षण भी हो सकते हैं।

एक्स-रे लेने पर गर्दन की हड्डियों में विकृति स्पष्ट मालूम पड़ती है। लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि कभी-कभी इनमें कोई विकृति या ह्रास नहीं दिखलाई पड़ता, बल्कि हड्डी सामान्य दिखलाई पड़ती है। जब रीढ़ की हड्डी में विकृति आती है तो रीढ़ की दो हड्डियों के बीच में जो डिस्क या गद्दी होती है, वह सिकुड़ कर नष्टप्राय हो जाती है और उस स्थान पर हड्डी की मोटी तथा विकलांग हुई नोंक दिखलाई देती है, जिसे अंग्रेजी में *ऑस्टियोफाईट्स* कहते हैं। इस स्थान की हड्डी नलिका (फोरमिना) जिससे होकर रक्त का प्रवाह होता है, वह भी सिकुड़ कर छोटी हो जाती है। इन रक्त नलियों से रीढ़ की हड्डी को ही नहीं, बल्कि मस्तिष्क के पिछले हिस्से को भी रक्त मिलता है। इन हड्डियों के छोटा हो जाने के कारण इनमें प्रवाहित होने वाली रक्त नलियाँ भी दब जाती हैं। इस कारण मस्तिष्क में रक्त का प्रवाह

घट जाता है, जिससे कभी बेहोशी और चक्कर इत्यादि लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। इसी प्रकार हड्डी में जो नोक (ऑस्टियोफाईट्स) निकल आती है उससे स्नायुओं पर दबाव पड़ता है, जिससे बाँहों और आँखों में दर्द उत्पन्न हो जाता है।

रोग का कारण

गर्दन की रीढ़ की यह सूजन *(ऑस्टियो-आर्थ्राइटिस)* गर्दन में पड़ने वाले खिंचाव या चोट के कारण उभर सकती है। मेरुदण्ड में सबसे कोमल और सुकुमार अंग गर्दन ही होती है। यह सब ओर से असुरक्षित है। यदि किसी चलती गाड़ी मे एकाएक बैठ जायें तो अचानक गर्दन में झटका लग जाता है और उसमें दर्द हो जाता है। अधिकांशत: गर्दन में धीरे-धीरे विकृति तथा ह्रास होने के कारण यह रोग उत्पन्न होता है। विकृति के कारण हड्डियाँ एवं उनके जोड़ घिसने लगते हैं, मांसपेशियों तथा उनके अस्थिबंधों का भी नाश होने लगता है। यह रोग मध्य आयु के लोगों में, विशेषकर जो बैठे-बैठे गर्दन झुकाये काम किया करते हैं, अधिकतर होता है।

ओषधीय चिकित्सा

आधुनिक चिकित्सा में रोग का इलाज मात्र *फिजियोथेरापी* है। इसके साथ-साथ कुछ दर्दनाशक ओषधियाँ डॉक्टर देते हैं; कभी-कभी गर्दन की रीढ़ की हड्डियों के बीच, जहाँ पर विशेष रूप से दर्द होता है, कार्टीकास्टीरायड्स की सुई देने से सूजन का शमन शीघ्र हो जाता है, परन्तु बहुत-से रोगियों का कहना है कि इसके इन्जेक्शन की कुछ-एक सुईयाँ लेने के बाद उनका रोग पहले की अपेक्षा और अधिक बढ़ जाता है। फिजियोथेरापी से अस्थायी और प्रभावकारी आराम तो मिल जाता है, पर यह रोग का स्थायी इलाज नहीं है। लघु तरंग उष्मा द्वारा, मालिश तथा कर्षण द्वारा तथा गर्दन पर पट्टा लगाकर भी इसकी चिकित्सा करते हैं।

यौगिक चिकित्सा

योगासनों द्वारा स्पॉण्डिलाईटिस में काफी आराम और फायदा पहुँचता है। विशेषकर जब रोग का पता शीघ्र चल जाये तथा एक्स-रे परीक्षण में हड्डी में आई विकृति कम पाई जाये। आसन से मांसपेशियाँ स्वस्थ हो जाती हैं

तथा गर्दन की स्थिति ठीक हो जाती है। इसके अतिरिक्त गर्दन में प्राणशक्ति का पुन: संचार होने लगता है, जिससे नाश हुए ऊत्तकों का पुनर्जीवन होने लगता है तथा हड्डी में हो रही विकृति भी रुक जाती है। नीचे दिये अभ्यास स्पॉण्डिलाइटिस के रोगी को प्रतिदिन प्रात: काल कुशल योग शिक्षक के मार्गदर्शन में करने चाहिए–

1. *आसन*– पवनमुक्तासन प्रथम भाग, विशेषत: अभ्यास क्रमांक 6, 9, 15 एवं 16 का अभ्यास। गर्दन घुमाने का अभ्यास सावधानी के साथ करना चाहिए, गर्दन कभी सामने नहीं झुकानी चाहिए। वज्रासन, भुजंगासन, शशांक-भुजंगासन, भद्रासन, शवासन, आकर्ण धनुरासन, मकरासन, अद्वासन, ज्येष्टिकासन, मार्जारी आसन एवं सर्पासन। तदन्तर जैसे-जैसे दर्द घटता जाये इसमें पद्मासन, मत्स्यासन, योगमुद्रा, सुप्त वज्रासन, सरल धनुरासन, अर्धमत्स्येन्द्रासन जोड़ देना चाहिए।
2. *प्राणायाम*– नाड़ीशोधन प्राणायाम प्रथम और द्वितीय स्थिति, बिना बन्धों के। भ्रामरी एवं उज्जायी प्राणायाम।
3. *ध्यान*– रीढ़ की हड्डियों की विकृति और उसकी बीमारी में काया-स्थैर्यम् बहुत ही प्रभावकारी है। इसके अभ्यास में सिर सीधा, रीढ़ की हड्डी एकदम सीधी और कंधा शिथिल होना चाहिए। अजपाजप का अभ्यास वज्रासन या अद्वासन में रीढ़ की हड्डी में सूक्ष्म श्वास पथ की चेतना के साथ।
4. *शिथिलीकरण*– शवासन में योगनिद्रा का अभ्यास। गर्दन के सहारे के लिए मुलायम तकिया बहुत ही लाभप्रद है।
5. *हठयोग*– प्रतिदिन नेति-क्रिया का अभ्यास।
6. *अतिरिक्त उपचार*– इसमें गर्दन पर पट्टा बाँधना बहुत ही लाभकारी सिद्ध हुआ है। साथ ही कड़ी चौकी पर सोना चाहिए, वजन नहीं उठाना तथा सिर झुकाकर काम नहीं करना चाहिए।

स्लिप-डिस्क एवं सायटिका

आजकल पीठदर्द को बहुत ही सामान्य बीमारी के रूप में माना जाने लगा है। आँकड़ों से यह पता चला है कि प्रत्येक वर्ष सिर्फ अमेरिका में ही दीर्घकालीन पीठदर्द से पीड़ित नये रोगियों की संख्या दो करोड़ के लगभग होती है, जबकि इंग्लैण्ड में इसका दूसरा स्थान है, क्योंकि वहाँ श्वसन सम्बन्धी तकलीफें, जैसे – सर्दी, खाँसी, फ्लू इत्यादि का स्थान प्रथम है। इन रोगों के कारण लोगों को अपने कार्यों से अधिक अवकाश लेना पड़ता है, जिससे व्यापार और उद्योग-धंधों में काफी नुकसान होता है तथा अनुमान लगाया गया है कि भविष्य में लगभग 50–60 प्रतिशत जनसमुदाय तीव्र या दीर्घकालिक पीठदर्द की तकलीफ से अवश्य पीड़ित होंगे।

पीठदर्द का बहुत ही सरल, सहज और प्रभावशाली इलाज होते हुए भी आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने इस रोग को दु:साध्य साबित कर दिया है। जिसकी वजह से अधिकांश डॉक्टर पीठदर्द के मरीज का प्रभावशाली ढंग से इलाज करने में असमर्थता का अनुभव करते हैं तथा यह चिकित्सा डॉक्टर एवं मरीज दोनों के लिए प्राय: दीर्घकालिक, निष्फल और निराशाजनक हो गई है। फलस्वरूप पीठदर्द का मरीज प्राय: भाग्यवादी और कष्टदायक स्थिति को मरणान्तक समझ कर उसे उसी रूप मे स्वीकार करने के लिए विवश हो जाता है।

जबकि हमारे विचारानुसार इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न नहीं होनी चाहिए, क्योंकि योग कष्टप्रद स्थिति में सरल, प्रभावशाली और स्थायी उपचार प्रदान करता है। अधिकतर दीर्घकालिक पीठदर्द के रोगी, जिन्होंने कष्टप्रद जीवन के समक्ष पूर्णरूप से समर्पण कर दिया था, कुछ दिनों या सप्ताहों के सरल

दैनिक योगाभ्यास से रीढ़ की विकृति तथा प्रारम्भिक ऑस्टियो-आर्थ्राइटिस जैसी तकलीफों तथा उसकी पुनरावृत्ति से मुक्त हो गये। इसके अतिरिक्त कुछ और रोगी (लगभग 5 प्रतिशत), जिनके एक्स-रे परीक्षण द्वारा पाया गया कि वे अन्तराकशेरूक डिस्क के अपने स्थान से खिसक जाने की तकलीफ से पीड़ित थे, वे भी योग चिकित्सा द्वारा समान रूप से लाभान्वित हुए।

पीठ-दर्द क्यों?

पीठदर्द का मुख्य कारण क्या है? चिकित्सकों के लिए यह प्रश्न काफी समय से विवादास्पद रहा है। जबकि अभी हाल के अध्ययन एवं शोधों के आधार पर पता चला है कि पीठदर्द का कारण अधिकतर मांसपेशियों और नसों में अपर्याप्त लचीलापन तथा तनाव को माना गया है। लेकिन यह तथ्य प्रचलित प्रधान विश्वासों के प्रतिकूल है, जिसमें अधिकांशत: पीठदर्द का कारण स्लिपडिस्क, आर्थ्राइटिस, जोड़ों के दर्द या शरीर के आन्तरिक अंगों, जैसे–हड्डी का कैंसर, पेगेट्स की बीमारी और सूखारोग को ही माना जाता है।

शोध-अध्ययन

अमेरिका की न्यूयार्क यूनिवर्सिटी एवं कोलम्बिया यूनिवर्सिटी के शोधकर्त्ताओं द्वारा संयुक्त रूप से एक अध्ययन किया गया, जिसमें विभिन्न स्थानों से आये हुए 5000 ऐसे रोगियों को परीक्षण के लिए चुना गया, जो पीठदर्द की शिकायत लेकर अस्पताल में भर्ती किये गये थे। इन परीक्षणों के आधार पर यह पाया गया कि 81% रोगियों का पीठदर्द अंतराकशेरूक डिस्क के खिसकने, ट्यूमर या शरीर के किन्हीं आन्तरिक अंगों की गड़बड़ी के कारण नहीं था। लगभग 4000 से ऊपर रोगियों की विशेष जाँच करने से पता चला कि इसमें कष्टप्रद पीठदर्द का मुख्य कारण मांसपेशीय तनाव एवं उनका अत्यधिक कड़ापन था।

ठीक इसी प्रकार का अनुसंधान 'आई.सी.डी.', रिहेबिलिटेशन एवं रिसर्च सेन्टर, यू.एस.ए. के डॉक्टर फ्राइमैन द्वारा किया गया, जिसमें उन्होंने भी सामान्यत: समरूप परिणाम प्राप्त किये। निष्कर्षों से यह परिणाम निकला कि पाँच में से चार रोगियों के तीव्र पीठदर्द का मुख्य कारण उनकी मांसपेशियों का अपनी कार्यक्षमता से अधिक कार्य करना था।

शायद आजकल इस रोग का इलाज ठीक प्रकार से न कर पाने का कारण इसके सामान्य एवं मुख्य कारण को समझ न पाना है।

सामान्य पीठ दर्द की प्रक्रिया

पीठ दर्द में पीठ का निचला हिस्सा ही अधिक प्रभावित होता है जो गर्दन और कंधों के बीच से होते हुए नीचे पीठ तक जाता है। जब रीढ़ की हड्डी के चारों ओर सहारा देने वाली मांसपेशियाँ लम्बे समय तक कठोर, असुविधाजनक स्थिति के कारण संकुचित हो जाती हैं, तब उस स्थान में दर्द आरम्भ हो जाता है, जैसे – अधिक देर तक कुर्सी में बैठकर कार्य करने या मोटर-गाड़ी में बैठने से इस प्रकार के परिणाम सामने आते हैं। दिन-प्रतिदिन जैसे-जैसे मांसपेशियाँ कड़ी होती जाती हैं, वैसे-वैसे उनमें कष्टप्रद ऐंठन होने लगती हैं। कड़े तन्तुओं का अनुभव पीठ की नाजुक मांसपेशियों में गाँठ या कड़ी पट्टी के रूप में अनुभव होता है।

दीर्घकालीन पीठ दर्द दिन के अन्तिम प्रहर या संध्या समय अधिक बढ़ जाता है तथा इसमें उचित रीति से मालिश, गर्म सेंक, शिथिलीकरण तथा पूर्ण विश्राम द्वारा जल्दी आराम मिलता है। योग के विभिन्न अभ्यासों एवं योगनिद्रा से बहुत शीघ्र और स्थायी रूप से लाभ पहुँचता है तथा कमजोर मांसपेशियाँ सशक्त होती हैं और उनकी कार्यक्षमता बढ़ती है।

शरीर संरचना अवस्था

मनुष्य के मेरुदण्ड में लगभग 33 अस्थियाँ होती हैं, जिन्हें 'रीढ़ की हड्डी' या कशेरूका (वर्टिब्रा) कहते हैं। ये कशेरूकाएँ एक के ऊपर एक रखी होती हैं और मजबूत मेरुदण्डीय मांसपेशियों से जकड़ी होती हैं। हर दो कशेरूका के बीच में एक प्रकार की गद्दी (डिस्क) की तरह जोड़ होता है, जिसमें तेल या चिकनाहट भरा तरल पदार्थ होता है। ये तेल भरी गद्दियाँ आघात-अवशोषक (शॉक ऑब्जर्वर) का काम करती हैं जिसके कारण मस्तिष्क, मेरुरज्जु (स्पाइनल कॉर्ड) तथा सारे आन्तरिक अवयव चलने-फिरने की स्थिति में धक्कों के आघातों से बचे रहते हैं। इन गद्दियों में जेली के समान एक प्रकार का चिकना तरल पदार्थ भरा रहता है और ये सभी अस्थियाँ अस्थिबंधों (लिगामेन्ट्स) से अच्छी तरह जकड़ कर बंधी रहती हैं।

रोग की अवस्थाओं का विवरण

कमर के निचले क्षेत्र में जब अत्यधिक भार पड़ने के कारण उसकी गद्दी (डिस्क) में दरार पड़ जाती है या वह टूट जाती है तो उसे स्लिप-डिस्क की बीमारी कहते हैं। गद्दी के टूटने से उसका चिपचिपा तरल पदार्थ बाहर बहकर किसी स्नायु पर दबाव डालने लगता है, जिससे दर्द उत्पन्न होने लगता है। स्थायी तौर पर रहने वाला यह दर्द प्राय: कमर की 4-5 नम्बर की कशेरूका में या उसके ऊपर या नीचे की कशेरूकाओं मे होता है। यह बीमारी प्राय: कमर से झुककर भारी बोझ उठाने से, अथवा बेलचा चलाने या बगीचे से खर-पतवार निकालते समय भी होती है। कभी-कभी यह मोटर-गाड़ी चलाते रहने के कारण उसका क्लच बराबर दबाने-छोड़ने के कारण भी होती है।

यह बीमारी उन लोगों में अत्यधिक होती है जो अधिकतर कुर्सी पर काम करते हैं या जिन व्यक्तियों के कमर की मेरुदण्डीय मांसपेशियाँ या अस्थिबंध (लिगामेंट) कमजोर हैं। ऐसे मजदूर जो खेतों मे काम करते हैं या हाथों से काम करते हैं, उन्हें स्लिप-डिस्क की बीमारी शायद ही कभी होती है। ऐसे लोग जो परिश्रम नहीं करते और बैठकर कार्य करते हैं, उन्हें ही यह रोग अधिक होता है।

तीव्र पीठ दर्द

तीव्र पीठ दर्द सामान्य पीठदर्द का ही एक प्रकार है। यह पीठ दर्द अचानक प्रारम्भ होता है, जो अत्यन्त पीड़ादायक है, जिसके फलस्वरूप पीठ दर्द का रोगी पूर्णरूप से निश्चल और असहाय हो जाता है। ऐसी स्थिति किसी भी समय उत्पन्न हो सकती है, विशेष रूप से वे लोग इसके शिकार होते हैं जो एक जगह बैठे रहने वाला कार्य या अभ्रमणशील जीवनयापन करते हैं और जिनके जीवन में व्यायाम की कमी होती है या जो मोटे होते हैं। इस अवस्था में पीठ की मांसपेशियों की कार्यक्षमता घटती हैं। तीव्र पीठदर्द सामान्यत: हल्के से धक्के, अर्थात् खाँसने या छींकने जैसी थोड़ी-सी हलचल से भी हो जाता है तथा इतना भयंकर दर्द बढ़ जाता है कि रोगी के लिए चलना तक असंभव हो जाता है। इसका मुख्य कारण स्लिप डिस्क या गद्दी का फटना तथा फलस्वरूप मांसपेशियों का कड़ापन तथा कोमल दर्दवाहिनी तंत्रिकाओं का उद्दीपन होता है।

सायटिका में बड़ा ही चुभने वाला दर्द होता है जो कमर की आखिरी तीन कशेरुकाओं एवं नितम्बीय दो कशेरुकाओं के बीच के क्षेत्र से बढ़ते हुए नीचे पैर के पिछले हिस्से तक जाता है। फटी गद्दियों से जो तरल पदार्थ निकलता है वह इस स्थान से निकलने वाली सायटिका स्नायु (सायटिका नर्व) पर दबाव डालता है, और इस कारण तीव्र दर्द होता है।

सायटिका स्नायु (सायटिका नर्व) कमर से होकर दोनों पैरों के पिछले हिस्से से जंघा एवं टखनों से होते हुए एड़ी तक जाती है। यही कारण है कि सायटिका में नितम्ब, जाँघ तथा टखने में दर्द मालूम पड़ता है। यद्यपि दर्द का मूल कारण कमर के क्षेत्र में होता है। इस स्थिति में अगर रोगी लेटे नहीं और चलता रहे तो पैर के निचले हिस्से में और अधिक तनाव बढ़ जायेगा, जिसके कारण दर्द के बढ़ने की सम्भावना हो जायेगी। रोगी के चलते रहने से पैर की मासंपेशियों में अत्यधिक जकड़न एवं ऐंठन हो जाती है, जिससे स्नायु-तंत्र में प्रदाह उत्पन्न हो जाता है।

जब किसी व्यक्ति को इस प्रकार का पीठदर्द हो तो सर्वप्रथम जितना जल्दी संभव हो सके उसे बिस्तर पर लेट जाना चाहिए। इस समय दर्द के स्थान के आसपास की मांसपेशियाँ बहुत शीघ्र संकुचित हो जाती हैं। प्लास्टर या खपच्चियाँ उस स्थान को सुरक्षात्मक स्थिरता प्रदान करने के लिए बाँध दी जाती हैं, जो उस स्थान की गतिविधियों को रोक देती हैं। इस प्रकार से बिस्तर पर विश्राम करने से मेरुदण्ड को शरीर के अंगों को सहारा प्रदान नहीं करना पड़ता। अत: मांसपेशियों को पूर्ण शिथिलता प्राप्त होती है और उसका तनाव कम होने लगता है।

तीव्र पीठदर्द की स्थिति में दर्द निवारक ओषधियों द्वारा शीघ्र आराम मिलता है। इस समय सोने के लिए सख्त लकड़ी की चौकी पर रुई के पतले गद्दे का उपयोग करना चाहिए।

रोग का पूर्वानुमान एवं जटिलतायें

सायटिका एवं स्लिप-डिस्क के अधिकतर रोगी वर्षों से पीड़ित होने की शिकायत करते हैं और बार-बार असह्य पीड़ा का दौरा आने की और उठने-बैठने में विवश हो जाने की बात कहते हैं। थोड़ा सा झुकना, मुड़ना या किसी प्रकार का तनाव उन्हें परेशान कर देता है। परिणाम यह होता है कि उन्हें अपना जीवन दूभर मालूम पड़ने लगता है। वे पीड़ा हरने वाली ओषधियों पर निर्भर

हो जाते हैं और घर के या अन्य किसी काम से छुट्टी लेने को विवश हो जाते हैं। वे सदा बिस्तर पर पड़े रहना चाहते हैं ताकि दर्द से उन्हें राहत मिलती रहे।

रोगी का शरीर कमजोर हो जाता है। वह सदा उदास, खिन्न एवं झुंझलाया रहता है। लोग उसे खीझने और बराबर शिकायत करने वाला समझने लगते हैं और उससे मिलने से भी कतराने लगते हैं। बारम्बार रोगाक्रान्त होने के कारण उसका दाम्पत्य एवं पारिवारिक, सामाजिक जीवन भी दयनीय हो जाता है। ऐसी स्थिति में डॉक्टर कमर में बाँधने के लिए एक प्रकार का बेल्ट बताते हैं। इससे कुछ आराम तो जरूर मिलता है, पर रोग दूर होता नहीं है। इस रोग के रोगियों की दुर्भाग्यवश यही दुर्दशा होती है। बहुत दिनों से स्लिप-डिस्क के बीमार रोगी को आखिरकार शल्य चिकित्सा के लिए जाना पड़ता है।

शल्य-चिकित्सक टूटी या फटी हुई गद्दी को निकालकर मेरुदण्ड की दोनों अस्थियों को जोड़ देते हैं। ऐसा कर देने से कमर के नीचे के जोड़ का झुकना-मुड़ना सदा के लिए बन्द हो जाता है और जो रोगी वर्षों से बीमार एवं असहाय अनुभव कर रहे थे, उन्हें आराम मिल जाता है। यह शल्य चिकित्सा एक वैकल्पिक उपाय तो कहा जा सकता है, लेकिन यह तरीका आदर्श नहीं माना जा सकता। परन्तु मेडिकल चिकित्सा में अन्य कोई उपाय भी नहीं है। इस कठिन रोग से राहत पाने का दूसरा प्रभावकारी, कम दर्दनाक तथा आसान तरीका 'योग' हो सकता है। इससे आप शीघ्र ही पीठ दर्द से राहत पा सकते हैं।

प्रारम्भिक स्वास्थ्य लाभ का तरीका एवं व्यवस्था

अगर स्लिप-डिस्क या सायटिका का दर्द तीव्र हो, तो तत्काल बिछावन पर लेट जाना चाहिए और कमर को हिलाना-डुलाना बन्द कर देना चाहिए। जब तक हड्डी की टूटी गद्दी ठीक न हो जाये और सूजन कम न हो जाये, बिस्तर पर पूर्ण विश्राम करना चाहिए। प्रारम्भ में दर्द और सूजन वाली जगह पर बारी-बारी से गर्म और ठण्ढी पट्टी देते रहने से आराम मिलता है। हल्की मालिश भी आराम पहुँचाती है। एस्प्रीन या मांसपेशियों को शिथिल करने वाली दवा का भी प्रयोग किया जा सकता है।

यह अत्यावश्यक है कि इस रोग में मेरुदण्ड की हड्डियों को हिलाया-डुलाया न जाये तथा उसे बिल्कुल गतिहीन कर दिया जाये। शीघ्र नीरोग होने

का यही एक उपाय है। कभी किसी कारणवश बिस्तर से उठने और चलने का प्रयास नहीं करना चाहिए। रोगी को एक शान्त कमरे में चुपचाप व्यवधान-रहित पड़े रहना चाहिए। उसे भोजन बिस्तर पर ही खिलाना चाहिए और पेशाब या शौच के लिए बेड-पेन लगा देना चाहिए। ऐसा करने से दस-पंद्रह दिनों के अंदर तकलीफ दूर होने की संभावना होती है, लेकिन अगर बीमारी दीर्घकालीन हो तो ठीक होने में महीनों भी लग सकते हैं। अगर ठीक तरह से योगाभ्यास किया जाए तो शीघ्र स्वास्थ्य-लाभ हो सकता है।

यौगिक चिकित्सा

यौगिक चिकित्सा में मूलत: पीठ को पीछे झुकाने वाले आसन करने चाहिए, जिससे कशेरुकाओं एवं डिस्क की जो मांसपेशियाँ एवं अस्थिबंध हैं वे मजबूत होकर डिस्क को अपने स्थान पर रखने के योग्य हो जायें तथा वहाँ रुधिर का यथेष्ट प्रवाह हो। पीछे झुकने वाले आसनों को धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए, जब तक कि पीठ ठीक से मुड़ने-झुकने न लगे। इस तरह सामान्य स्थिति आ जाने पर शल्य-चिकित्सा की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इस बीमारी का पुनरावृत्ति न होने पाये, इसके लिए इन आसनों को करते रहना आवश्यक है।

आसनों की विधि

अत्यधिक पीड़ा काल में, जबकि पीठ का हिलना-डुलना बिल्कुल सम्भव न हो, एक कड़े बिछावन पर (मुँह नीचे कर) पेट के बल लेटे रहना चाहिए। अधिक समय तक मकरासन में लेटे रहने से डिस्क तथा स्नायुओं पर तनाव कम पड़ता है, जिससे दर्द में कमी होती है तथा रोग शीघ्रता से दूर होता है। अद्वासन एवं ज्येष्टिकासन में सोना लाभदायक होता है। पैरों को छाती तक लाकर मत्स्यक्रीड़ासन में विश्राम करने से टूटे स्नायुओं को आराम मिलता है। अत्यधिक पीड़ा में ये सारे आसन अधिक-से-अधिक आराम पहुँचाते हैं।

जैसे-जैसे दर्द कम होता जाए, दीर्घ मकरासन के बाद प्रारम्भिक भुजंगासन का अभ्यास करें। इस बात का ध्यान रखें कि पीठ की निचली मांसपेशियाँ अधिक-से-अधिक तनाव रहित हों। जैसे ही दर्द मालूम पड़े, तुरन्त अद्वासन में लेट जायें। ऐसा पाँच बार करें, फिर धीरे-धीरे ज्यादा बार भी कर सकते हैं। जब यह आसन अच्छी तरह होने लगे तो क्रमश: अर्द्ध-

शलभासन, सर्पासन, सरल-धनुरासन, भुजंगासन, शलभासन, वज्रासन, उष्ट्रासन, मेरु वक्रासन तथा भू-नमनासन का अभ्यास करना चाहिए। इन अभ्यासों को प्रतिदिन करना चाहिए। प्रत्येक आसन को पाँच-पाँच बार करने के पश्चात् अद्वासन में आराम करना चाहिए।

कंधों और ऊपरी पीठ के लिए–द्विकोणासन, सर्पासन, भुजंगासन, गरुड़ासन, गोमुखासन तथा मार्जारी आसन।

शिथिलीकरण

प्रत्येक आसन के अन्त में 15-20 सेकण्ड तक अद्वासन में आराम करना चाहिए। आसन क्रम के पश्चात् शवासन का अभ्यास और अंत में योगनिद्रा का अभ्यास करना चाहिए।

आवश्यक

सामने झुकने वाले आसनों को कम-से-कम छ: महीने के लिए बन्द कर देना चाहिए, अन्यथा रोग पुन: प्रकट हो सकता है। रोग जब बिल्कुल दूर हो जाये तो किसी कुशल योग प्रशिक्षक के मार्गदर्शन में आगे झुकने वाले आसनों का अभ्यास प्रारम्भ किया जा सकता है। प्रारम्भ में शशांकासन, मार्जारी आसन, शशांक-भुजंगासन, तत्पश्चात् शक्तिबन्ध समूह के आसनों का अभ्यास करना चाहिए।

रोग जब तक पूरी तरह दूर न हो जाये, इस अवधि में सुखासन, पद्मासन या सिद्धासन में करने वाले सभी आसनों का अभ्यास बन्द कर देना चाहिए। इससे कमर के पास पीड़ा होने लगती है। प्राणायाम तथा ध्यान वज्रासन में किये जा सकते हैं।

अजपा-जप

सभी मेरुदण्डीय रोगों में, विशेषकर स्लिप-डिस्क एवं सायटिका में 'अजपाजप', अर्थात् मूलाधार से आज्ञा चक्र एवं आज्ञा से मूलाधार चक्र तक श्वास-प्रश्वास की क्रिया को पूरी चेतना एवं शिथिलीकरण की सजगता के साथ करना बड़ा ही लाभदायक है। मेरुदण्ड को सीधा रखकर किसी भी आसन में इसका अभ्यास किया जा सकता है। अभ्यास के समय अनुभव कीजिए कि पीठ की कड़ी मांसपेशियाँ धीरे-धीरे तनावरहित हो रही हैं और

उस क्षेत्र में शुद्ध रक्त प्रवाहित हो रहा है। श्वास के साथ पीठ की मांसपेशियों में प्राणशक्ति को प्रवाहित होते हुए अनुभव कीजिए। प्रारम्भ में अद्वासन ठीक है, पर चित्त लेटने में जब कोई कठिनाई न हो तो शवासन बेहतर है। अजपा-जप का अभ्यास जितनी बार एवं जितनी देर हो सके, करना अच्छा है, क्योंकि इससे रोग जल्दी दूर हो जाता है और शरीर और मन शान्त होते हैं। जैसे-जैसे शरीर स्वस्थ होने लगे, अजपा-जप का अभ्यास मकरासन एवं वज्रासन में, तब फिर सुखासन, पद्मासन या सिद्धासन में बैठकर करना चाहिए।

भोजन

प्रारम्भ में हल्का तथा अर्द्ध तरल भोजन करना चाहिए। सब्जियों का रस उत्तम है, फिर खिचड़ी लेनी चाहिए। यह शारीरिक शक्ति को विनष्ट होने से बचाकर रोग के अच्छा होने में सहायक है। सब्जी का रस तथा खिचड़ी कब्ज दूर करते हैं। बिस्तर में बराबर पड़े रहने से मरीजों को अक्सर कब्ज हो जाया करती है।

ज्यों-ज्यों रोग अच्छा होता जाए, चावल, दाल, सब्जी, एवं रोटी खायी जा सकती है। ऐसे सभी भोजन, जिनसे कब्ज होती है, जैसे–मांस, पनीर, तेल में तली वस्तुएँ आदि नहीं खानी चाहिए। कब्ज पीठ-दर्द एवं गठिया रोगों को बढ़ाती है। डेयरी से प्राप्त खाद्य पदार्थ, जैसे–अण्डा, दूध, घी आदि, जिनमें प्रोटीन अत्यधिक मात्रा में पाया जाता है, नहीं लेने चाहिए, क्योंकि इन रोगों में अधिक प्रोटीन लेने से रोग को ठीक होने में समय लगता है।

रोकथाम

स्लिप-डिस्क एवं सायटिका रोग ऐसे लोगों को होता है जो लगातार कुर्सी में बैठकर काम करते हैं और कमर का कोई व्यायाम नहीं करते। उन्हें मेरुदण्ड की मांसपेशियों, डिस्क एवं अस्थिबंधनों को ढीला करने और चुस्त रखने के लिए कुछ ऐसे लाभप्रद योगासनों का अभ्यास करना चाहिए जिससे उनका मेरुदण्ड लचीला हो। उन्हें लगातार कुर्सी पर बैठकर काम नहीं करना चाहिए और जमीन से भारी चीजें घुटनों को मोड़कर सावधानी से उठानी चाहिए, ताकि कमर पर अधिक जोर न पड़े। इस सब बातों का ध्यान रखा जाए तो इस रोग से बचा जा सकता है और कमर को भी मजबूत रखा जा सकता है।

षष्ट खण्ड

मूत्र एवं प्रजनन प्रणाली

मूत्र एवं प्रजनन-प्रणाली

तंत्र विज्ञान के अनुसार मूत्र एवं प्रजनन प्रणाली का सम्बन्ध जल तत्त्व से कहा गया है। शारीरिक स्तर पर भी गुर्दे तथा उनसे जुड़ी हुई संरचनाएँ शरीर में जल की मात्रा एवं उसके रासायनिक सन्तुलन को नियंत्रित करती हैं। प्राणिक स्तर पर इस प्रणाली का सम्बन्ध अपान वायु से है। अपान, यानी अधोगामी प्राणिक ऊर्जा क्षेत्र, जिसका कार्य सम्बन्ध निष्कासन की प्रक्रियाओं से है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मानवीय विकास क्रम में सबसे नीचे मूल प्रवृत्तियों का आधार है, जिसे प्रतीकात्मक तौर पर मूलाधार चक्र का नाम दिया गया है। मूल प्रवृत्तियों का तुष्टीकरण मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकता है। उसके बाद, इन्द्रिय अनुभवों, प्रतिक्रियाओं, मानसिक-बौद्धिक विश्लेषण, महत्त्वाकांक्षाओं के प्रकटीकरण एवं प्राथमिकताओं के निर्धारण इत्यादि का क्षेत्र आता है। यह क्षेत्र स्वाधिष्ठान चक्र का है। योग के मतानुसार स्वाधिष्ठान चक्र का स्थान पुच्छ अस्थि के अंतिम सिरे पर, गुदा द्वार के ठीक पीछे और कुछ ऊपर की ओर होता है।

मूत्र-प्रजनन प्रणाली के बार-बार होने वाले दुस्साध्य रोग, अक्सर ऐसी परिस्थितियों में होते हैं, जब जीवन-प्रणाली व्यक्तिगत इन्द्रिय सुखभोग एवं लालसा पूर्ति पर आधारित हो तथा मन पर वासनाओं का अनियंत्रित शासन हो। दूसरी ओर इसके बिल्कुल विपरीत परिस्थिति होने पर भी अनेक अन्य रोगों की संभावना जकड़ लेती है। मानवीय प्रकृति की मूल प्रवृत्तियों को ठीक से न समझ पाना, तथा उसे स्वीकार करने के बजाय उनका दमन करना भी ठीक नहीं है। काम अभिव्यक्ति के साथ भय, कुंठा, अपराध-बोध तथा हीन-भावना इत्यादि जोड़ देने से उसका उचित अभिव्यक्तिकरण नहीं हो पाता तथा

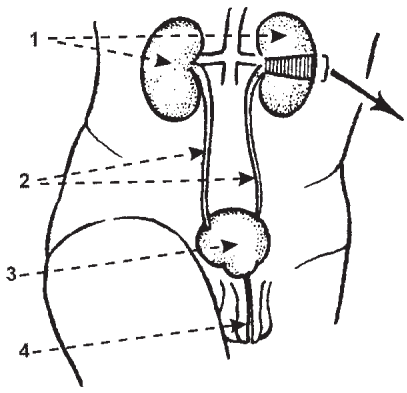

मूत्रवाहक पथ

1. गुर्दे (किडनी)
2. मुख्य मूत्रवाहक नली (युरेटर)
3. मूत्रथैली
4. यूरेथ्रा

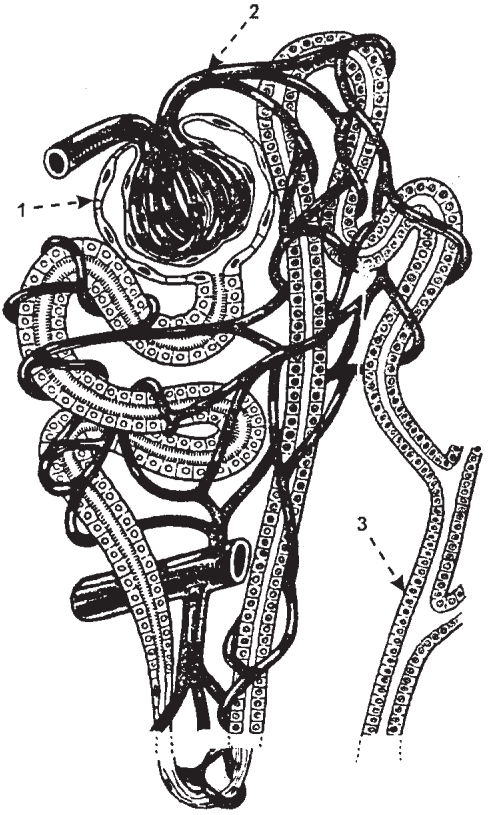

नेफ्रॉन

1. छन्ना
2. रक्त नलिकायें
3. द्रव संवहिनी

रोग जड़ें जमाने लगता है। इन दोनों में कोई भी परिस्थिति होने पर, निम्न अतीन्द्रिय चक्रों में मनस् शक्ति तथा प्राण शक्ति असन्तुलित हो जाती है। शरीर में कहीं भी मनस् तथा प्राण शक्तियों का सन्तुलन ही स्वास्थ्य निर्धारित करता है। अत: इस असन्तुलन के फलस्वरूप सम्बन्धित अंगों के कार्य में गड़बड़ी उत्पन्न होने लगती है।

मूत्रवाहक पथ

मूत्र-प्रणाली तथा प्रजनन-प्रणाली एक-दूसरे से संरचनात्मक रूप से इतने मिले-जुले हैं कि उनकी समस्याओं की चर्चा अलग-अलग करना संभव नहीं है, विशेषत: पुरुष शरीर में जहाँ पर दोनों एक ही वाहिका पथ का उपयोग मूत्र एवं वीर्य निष्कासन हेतु करते हैं।

मूत्र पथ की शुरुआत गुर्दों से होती है। गुर्दे संख्या में दो, सेम के बीज के आकार के तथा एक मुट्ठी बराबर माप के अंग होते हैं। वे कमर के पास, पेट के भीतरी कोने में रीढ़ की हड्डी के दोनों ओर अवस्थित होते हैं। प्रत्येक गुर्दा करोड़ों महीन छानने वाली नलियों से बना होता है, जिन्हें नेफ्रान कहते हैं। ये रक्त को लगातार छानते रहते हैं तथा उसमें से अतिरिक्त लवण, जल तथा उसमें घुले हुए ऊतकीय चयापचय के अपशिष्ट पदार्थों, जैसे – *यूरिया, यूरिक अम्ल, अमोनिया, ऑक्जेलिक अम्ल एवं क्रियेटिनीन* इत्यादि को छानकर निकालते रहते हैं। नेफ्रॉन से छनने के पश्चात् यह द्रव *संवाहिनियों* में से होता हुआ गुजरता है, जो इस द्रव में से आवश्यक पदार्थ अवशोषित कर इसे और अधिक सांद्र बना देती हैं। ये सभी संवाहिनियाँ गुर्दे के भीतरी केन्द्र (पेलविक) में जुड़ कर नलिकाओं का रूप धारण कर *मुख्य मूत्र वाहक नली* में खुल जाती हैं। यह नली गुर्दे के बीच में से निकल कर अधोगामी हो नीचे, श्रोणि प्रदेश में आकर *मूत्र थैली* में खुलती है।

मूत्र थैली एक गुब्बारे की तरह फैलने-सिकुड़ने वाली थैली है, जिसके ऊपर से दोनों मुख्य मूत्र वाहिकाएँ खुलती हैं, तथा लगातार बूँद-बूँद कर मूत्र उड़ेलती रहती हैं। जैसे-जैसे मूत्राशय के भीतर द्रव की मात्रा बढ़ती जाती है, यह थैली फैलती जाती है। जब आयतन एक निश्चित सीमा तक पहुँच जाता है, तो मस्तिष्क को संवेदनाएँ जाना शुरू हो जाती हैं। ये संवेदनाएँ जब चेतन स्तर पर पहुँचती हैं तो हमें लघुशंका जाने की आवश्यकता मालूम पड़ने लगती है। प्राणमय कोश में इन संवेदनाओं के

आदान-प्रदान का कार्य वज्र नाड़ी द्वारा संपादित किया जाता है। चेतना का सम्बन्ध मूत्र-प्रजनन-प्रणाली से जोड़ने वाली प्राणिक नाड़ी को ही वज्र नाड़ी कहा जाता है। सामान्यत: मूत्र थैली को खाली करने का कार्य ऐच्छिक नियंत्रण में रहता है (ऐसी अवस्था को छोड़कर जिसमें इतना दबाव होने लगे कि रोकना मुश्किल हो जाये)। यह ऐच्छिक नियंत्रण नसों एवं मांसपेशियों की कार्यक्षमता के ऊपर निर्भर रहता है। उनकी कमजोरी अथवा अल्प क्रियाशीलता के कारण कई बार मूत्र प्रक्रिया पर नियंत्रण नहीं रह पाता। ऐसा बुढ़ापे के, कमजोरी के या पौरुष ग्रंथि की वृद्धि के कारण या स्त्री शरीर में बच्चों को जन्म देते समय गलत दबाव पड़ने के कारण भी हो सकता है। कभी-कभी विशुद्ध मनोवैज्ञानिक कारणों से भी हो सकता है, जिसे *'इरिटेबल ब्लैडर सिन्ड्रोम'* कहते हैं।

मूत्र-प्रणाली के अलग-अलग भागों में दोष उत्पन्न होने से अलग-अलग किस्म के लक्षण उत्पन्न होते हैं। उदाहरण के लिए गुर्दे के अनेक रोग इतने चुपचाप हमला करते हैं कि मरीज को जब तक पता चले तब तक इसमें गुर्दे 80% नष्ट हो चुके होते हैं। इसके विपरीत कुछ संक्रामक रोगों में शुरुआत से ही इतना कष्ट होता है कि पेशाब करना तक मुश्किल हो जाता है। गुर्दे की खराबी के मुख्य लक्षण हैं – मितली आना, खून की कमी, सूजन आना तथा शरीर में जल एवं लवण सन्तुलन की गड़बड़ियाँ। संक्रामक रोगों के लक्षण मुख्यत: पेशाब में जलन, पीब आना, बुखार, पेशाब में बदबू आना इत्यादि हो सकते हैं। गुर्दों के संक्रमण कहीं बाहर से रक्त के माध्यम से गुर्दे तक पहुँच सकते हैं अथवा नीचे के अंगों का संक्रमण ऊपर फैल सकता है।

यौगिक दृष्टिकोण से संक्रमण इत्यादि अन्य सभी रोग सम्बन्धित अंगों में प्राण शक्ति तथा चित्त शक्ति के प्रवाह के आन्तरिक अवरोधों के बाह्य लक्षण मात्र हैं। मनुष्य व्यक्तित्व के सूक्ष्म अस्तित्वों की गड़बड़ियाँ, जो अन्नमय तथा प्राणमय कोशों में होती हैं, वे इन रोगों का मूल कारण हैं तथा यौगिक उपचार इन सूक्ष्म स्तरों पर पुनरुज्जीवन लाने का विज्ञान है।

प्रजनन प्रणाली

पुरुष और स्त्री, दोनों में ही मूत्र थैली के तल से निकलकर जो मूत्र वाहिका नली बाहर खुलती है, उसे यूरेथ्रा कहते हैं। पुरुष शरीर में यूरेथ्रा को चारों

ओर से घेरे हुए एक रबर जैसी कड़ी ग्रंथि होती है, जिसे *पौरुष ग्रंथि* कहते हैं। इस ग्रंथि में से एक दूधिया द्रव स्रावित होता है। दो लम्बी नलियाँ पौरुष ग्रंथि एवं अण्डकोषों को एक-दूसरे से सम्बन्धित करती हैं, जिन्हें *शुक्रवाहिनी नलिकाएँ* कहा जाता है। ये नलिकाएँ अंडकोषों से जीवित शुक्राणुओं को पौरुष ग्रंथि तक लाती हैं। इस ग्रंथि के बाद मूत्र एवं वीर्य एक ही मार्ग का उपयोग करते हैं, जो लिंग में से होता हुआ बाहर की ओर खुलता है।

स्त्री शरीर में मूत्र एवं प्रजनन अंग संरचनात्मक रूप से बिल्कुल अलग-अलग होते हैं। मूत्र वाहिका नली अलग होती है, जो योनि के ऊपरी भाग में खुलती है तथा योनि से अलग रहती है। यह नली पुरुषों की अपेक्षा अधिक छोटी और सीधी होती है, इसी कारण पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में मूत्र नली के संक्रमण अधिक पाये जाते हैं तथा अधिक कष्टप्रद होते हैं।

योनि का ऊपरी सिरा गर्भाशय से जुड़ा होता है। गर्भाशय के ऊपरी हिस्से में दो नलियाँ आकर मिलती हैं। ये नलियाँ डिम्ब ग्रंथि से हर महीने एक अण्डे या डिम्ब को गर्भाशय तक पहुँचाती हैं। जहाँ पर उसके एवं पुरुष के शुक्राणुओं से मिलकर भ्रूण या बच्चे का निर्माण होता है। यदि यह मिलन न हो तो यह अण्डाणु गर्भाशय की भित्ति एवं रक्त के साथ मिलकर मासिक स्राव के रूप में बाहर निकल जाता है। इस सम्पूर्ण प्रणाली की जटिल संरचना एवं कार्यात्मक प्रणाली गड़बड़ियों की अनेक संभावनाएँ उत्पन्न कर देती हैं।

वज्रोली मुद्रा

मूत्र प्रजनन प्रणाली के रोग वज्रोली मुद्रा (पुरुषों के लिए) या सहजोली (स्त्रियों के लिए) के अभ्यास द्वारा सहजता से नियंत्रित किये जा सकते हैं। वज्रोली मुद्रा के अभ्यास में निम्न अंगों से सम्बन्धित मांसपेशियों को सिकोड़ कर इन्हें ऊपर की ओर खींचा जाता है। जिस प्रकार मूत्र प्रवाह को बीच में ही ऐच्छिक रूप से रोकने के लिए मूत्र नली के आसपास की मांसपेशियों को सिकोड़ा जाता है, ठीक उसी प्रकार से इस मुद्रा का अभ्यास किया जाता है। इस प्रक्रिया को ठीक तरीके से सीख कर करना चाहिए। प्राणायाम एवं बन्धों के अभ्यास के साथ जोड़कर इस मुद्रा का प्रभाव कई गुना बढ़ जाता है। शारीरिक स्तर पर इसका प्रभाव स्नायविक मांसपेशीय सन्तुलन बढ़ाता है; स्नायुओं की तान ठीक करता है। सूक्ष्म स्तर पर वज्र नाड़ी में प्राण का

प्रवाह सुचारु होने से अंगों की प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है तथा काम ऊर्जा पर नियंत्रण एवं सन्तुलन सुदृढ़ बनते हैं।

कुण्डलिनी योग एवं क्रिया योग के अभ्यास में वज्रोली मुद्रा पर धीरे-धीरे सम्पूर्ण नियंत्रण प्राप्त किया जाता है, जिससे अभ्यासी को मूल प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण की उच्च अवस्था प्राप्त होती है, जिससे उसकी चेतना का उत्तरोत्तर विकास होता है। वह चेतना की गहराई में उतर कर वासनाओं के मूल बीज रूप को पहचान, उनमें अन्तर्निहित ऊर्जा का विस्फोट कर इच्छित दिशा में मोड़ने में सक्षम हो जाता है, तब अनुभव के उच्च आयामों का अतिक्रमण करना अपेक्षाकृत सरल कार्य बन जाता है।

गुर्दे की पथरी

गुर्दे में बनने वाली पथरी की समस्या, पेशाब में घुले महीन कणों के धीरे-धीरे जम जाने से उत्पन्न होती है। ये महीन कण सामान्यत: घुलित अवस्था में रहते हैं, तथा पेशाब के साथ निष्कासित होते रहते हैं। परन्तु कुछ विशेष अवस्थाओं में ये अवक्षेपित हो चूर्ण या बालू रूप में अथवा छोटे या बड़े कंकड़ों के रूप में जमने लगते हैं। ऐसी अवस्था प्रमुखत: शारीरिक चयापचय की गड़बड़ी अथवा भोजन में असन्तुलन के कारण उत्पन्न होना शुरू होती है। इन कंकड़ों का बनना शरीर के लवणों में रासायनिक असन्तुलन की अवस्था को दर्शाता है। अधिकांशत: ये कंकड़ गुर्दे में बिना किसी लक्षण के शान्त पड़े रहते हैं, परन्तु कभी-कभी मूत्र प्रवाह के साथ मूत्र नली में उतर कर वहाँ फँस जाते हैं तथा अंदरूनी कोमल त्वचा को छील देते हैं। फलस्वरूप असहनीय दर्द, जलन एवं पेशाब में रक्त आने जैसे लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

पथरी के प्रकार

मुख्य रूप से गुर्दे की पथरी तीन किस्मों की होती है –

1. *ऑक्जेलेट पथरी* – इस किस्म की पथरी बनने की सम्भावना लम्बे समय तक लगातार सान्द्र पेशाब बनने के कारण बढ़ जाती है। दूसरी विचारधारा यह है कि भोजन में अत्यधिक ऑक्जेलेट युक्त पदार्थों का सेवन इस प्रकार की पथरी बनने के लिए आवश्यक है। ऐसे पदार्थ हैं – टमाटर, हरे पत्ते वाली सब्जियाँ, जैसे – पालक इत्यादि।
2. *कैल्सियम या फॉस्फेट पथरी* – इस प्रकार की पथरी कुछ बड़े आकार की होती है। जब भी पेशाब क्षारीय हो अथवा कैल्शियम के चयापचय

में कुछ गड़बड़ी हो तो इस प्रकार की पथरी आकार में तेजी से बढ़ जाती है। संक्रामक रोगों के साथ भी इसका सम्बन्ध होता है। कैल्सियम चयापचय की गड़बड़ी पैराथाइराइड ग्रंथि के कारण या भोजन में अधिक कैल्शियम युक्त पदार्थों का सेवन करने से (जैसे – दूध) अथवा लम्बे समय तक बिस्तर पर पड़े रहने या बुढ़ापे में हड्डियों के घुलने के कारण भी रक्त में कैल्शियम की मात्रा बढ़ जाती है, जो गुर्दे में जमकर पथरी का आकार ले लेता है।

3. *यूरिक अम्ल तथा यूरेट पथरी* – यह अम्लीय पेशाब के कारण या गाउट के रोग में, अथवा जब अत्यधिक प्रोटीन युक्त आहार लिया जाए (जैसे – मांस, मछली, अंडा इत्यादि) तब बनती है।

पथरी के कारण

उपर्युक्त विवरण से हम समझ सकते हैं कि गुर्दे में पथरी बनने के अनेक कारण हो सकते हैं। किसी व्यक्ति विशेष में एक या एक से अधिक कारणों का सम्मिलित प्रभाव, पथरी उत्पन्न कर सकता है। मुख्यत: दो कारण महत्त्वपूर्ण जान पड़ते हैं – प्रथम तो अन्तर्निहित चयापयय की गड़बड़ी, जिसके कारण पेशाब में लवणों की मात्रा बढ़ जाती है तथा वह लगातार अधिक सांद्र या विकृत रासायनिक अनुपात में बनता है। दूसरा मुख्य कारण भोजन में गड़बड़ी है।

ऐसा भोजन जिसमें अत्यधिक मांस, प्रोटीन, अम्लोत्पादक पदार्थ, जैसे – मैदा एवं परिशोधित शर्करा, अत्यधिक चाय, कॉफी, रासायनिक तरीके से परिरक्षित पदार्थ, तीक्ष्ण तथा खट्टे मसाले इत्यादि आते हैं। ये सभी पथरी को अवक्षेपित करने में सहायक बनते हैं। एक असन्तुलित असंयत आहार प्रणाली यकृत की चयापचय प्रक्रिया पर अत्यधिक दबाव डालती है, जिसके फलस्वरूप यकृत अपशिष्ट पदार्थों एवं रसायनों को ठीक से प्रभावहीन नहीं कर पाता।

ये पदार्थ शरीर से बाहर निष्कासन हेतु गुर्दों में पहुँचते हैं, वहाँ पर इनकी अत्यधिक मात्रा होने से, वे धीरे-धीरे जम कर पथरी का रूप धारण कर लेते हैं।

पथरी के कुछ अन्य सहायक कारण भी हैं। जिनमें एक कारण अत्यधिक नमक का सेवन और कम पानी पीना भी है। इनके कारण गाढ़ा पेशाब बनता

है। दूसरा कारण है पेशाब के रास्ते में कोई संक्रमण या रुकावट, जिसके कारण पेशाब ठीक से प्रवाह नहीं हो पा रहा है, तो रुके हुए द्रव में पथरी जमने लगती है। तीसरा कारण है व्यायाम की कमी, विशेषत: किसी चोट या बीमारी के कारण दीर्घकालिन क्रियाहीनता, जिसके कारण बिस्तर पर पड़े रहने से पथरी बनने की संभावना बढ़ जाती है।

पथरी के दुष्प्रभाव

सबसे महत्त्वपूर्ण जटिलता है पथरी का मूत्र पथ में फँस जाना। जब तुलनात्मक रूप से कुछ बड़ी पथरी गुर्दे से नीचे उतर कर पतली मूत्र वाहिनी नलिका में फँस कर धीरे-धीरे नीचे उतरना प्रारम्भ कर देती है तो उसके कारण असहनीय वेदना होती है, जिसे यूरेटेरिक कॉलिक कहते हैं। यह वेदना कमर से प्रारम्भ होकर सामने जननेन्द्रियों तक फैलती है। यह दर्द, रह-रहकर, कुछ घंटों तक या दिनों तक परेशान करता है।

वेदना अचानक शुरू होती है, तथा पीड़ित व्यक्ति कराहते हुए पैरों को ऊपर सीने तक मोड़कर कष्ट के कारण इधर-उधर लुढ़कते लगता है। अधिकांशत: वेदना के साथ उल्टी, पसीना आना तथा पेशाब करने की दर्द युक्त तीव्र इच्छा जैसे लक्षण भी जुड़े रहते हैं। पेशाब की इच्छा के बावजूद भी पेशाब बहुत कम मात्रा में उतरता है तथा रक्त मिश्रित भी हो सकता है। ये सभी लक्षण पथरी का होना तथा मूत्र पथ का अवरोध स्पष्टत: इंगित करते हैं।

इस अवस्था में फौरन दर्द निवारक ओषधियों का इन्जेक्शन मरीज को राहत पहुँचाता है। मरीज को सलाह दी जाती है कि खूब पानी पीये, जिससे पेशाब के दबाव के कारण पथरी अपने आप शीघ्रता से नली में उतर जाये। जब एक से अधिक बड़ी पथरियाँ हों या अन्य जटिलता हो तो शल्य चिकित्सा द्वारा पथरी को निकालना अनिवार्य हो जाता है। आधुनिक शल्य चिकित्सकों ने पथरी निकालने के अनेक अनूठे उपकरण खोज निकाले हैं, जिनसे यह प्रक्रिया बहुत आसान हो जाती है।

पथरी के कारण अन्य जटिलताएँ भी उत्पन्न हो सकती हैं, जैसे, रुके हुए पेशाब में संक्रमण, आन्तरिक मूत्र मार्ग की सूजन, उसमें छाले पड़ना तथा बदबूदार या जलनयुक्त पेशाब का होना। लम्बे समय तक उत्तेजना के कारण मूत्र पथ के कैंसर की संभावना भी बढ़ जाती है।

पथरी का यौगिक उपचार

पथरी की तीव्र वेदना में अथवा बड़ी पथरी के लिए ओषधीय चिकित्सा अथवा शल्य चिकित्सा ही सबसे उपयुक्त इलाज है। परन्तु बार-बार बनने वाली पथरी की रोकथाम तथा पुरानी छोटी पथरी या पथरी के चूर्ण को बाहर निकालने के लिए, अन्य आवश्यक सुझावों के साथ निम्नलिखित यौगिक कार्यक्रम लाभदायी सिद्ध होगा। जिन लोगों को दर्द का एक हल्का या तीव्र अनुभव हो चुका हो या जिन्हें बार-बार पथरी होती हो, वे इस कार्यक्रम से लाभ उठा सकते हैं ताकि वैसी समस्या दोबारा उत्पन्न न हो।

1. *सूर्य नमस्कार* – दो या अधिक चक्र क्षमतानुसार।
2. *आसन* – त्रिकोणासन, वज्रासन समूह (वज्रासन, मार्जारि आसन, व्याघ्रासन, सुप्त वज्रासन, उष्ट्रासन, शशांक भुजंगासन), ताड़ासन, तिर्यक ताड़ासन, कटि चक्रासन, उदराकर्षणासन, शलाभासन, चक्रासन, अर्धमत्स्येन्द्रासन, नौकासन, अर्ध पद्म पश्चिमोत्तानासन, अर्ध पद्म हलासन, मेरुदण्डासन, हंसासन, मयूरासन, कूर्मासन, द्विपादशीर्षासन इत्यादि।
3. *प्राणायाम* – भस्त्रिका प्राणायाम (बन्धों सहित), नाड़ी शोधन प्राणायाम।
4. *मुद्रा बन्ध* – पाशिनी मुद्रा एवं योग मुद्रा। वज्रोली मुद्रा या सहजोली मुद्रा, मूल बन्ध, उड्डियान बन्ध।
5. *षट्क्रिया* – अग्निसार क्रिया एवं नौली, दोनों प्रतिदिन। आश्रम वातावरण में पूर्ण शंख प्रक्षालन। लघु शंखप्रक्षालन प्रति सप्ताह।
6. *शिथिलीकरण* – योग निद्रा एवं शवासन में लेटकर उदर श्वसन।
7. *ध्यान* – अजपा जप एवं नाद योग।
8. *भोजन* – सम्पूर्ण, सन्तुलित एवं ताजा प्राकृतिक भोजन सर्वाधिक स्वास्थ्यप्रद होगा। फल, फलों का रस, तथा हल्की उबली हुई गूदेदार सब्जियाँ लेने से पेशाब अधिक क्षारीय बनेगा तथा पथरी जमने की सम्भावना कम होगी। मांस, अण्डे, मछली, दूध, एवं दूध से बनी चीजें लेना बन्द कर दें, क्योंकि इनके सेवन से अम्लीय पदार्थों का उत्पादन होता है जो पथरी की संभावना बढ़ा देते हैं। अन्य अम्लोत्पादक पदार्थ, जैसे – मैदा, केक, बिस्कुट तथा परिशोधित शर्करायुक्त आहार न लें। टमाटर एवं पालक का सेवन बन्द कर दें, जिनमें ऑक्ज़ेलिक अम्ल की मात्रा अधिक होती है। नमक का सेवन कम करें ताकि पेशाब गाढ़ा न हो।

पानी खूब पीयें। विशेषत: गर्मी के मौसम में कम-से-कम 20 गिलास पानी अवश्य पीयें। ऐसा कहा जाता है कि प्रतिदिन यदि कोई एक दर्जन नाशपाती खाये तो पथरी घुल कर बाहर निकल जाती है।

9. *उपवास* – हफ्ते में कम-से-कम एक दिन, (पानी पीने की मात्रा बढ़ाकर) भोजन छोड़ देने से मूत्र प्रणाली की मन्द क्रियाशीलता उत्तेजित होती है तथा वह धुलकर साफ हो जाती है। यह एक अति महत्त्वपूर्ण सुझाव है।

अन्य सुझाव

- प्रतिदिन कुछ दूर टहलना चाहिए, विशेषत: शाम के भोजन के बाद।
- हफ्ते में एक या दो दिन अधिक परिश्रम वाली कसरत करनी चाहिए।
- चार गिलास पानी में एक यवनल तथा नींबू घास डालकर रखिये। उसका अर्क उतरने पर रोज पीने से लगभग सभी किस्म की पथरी में लाभ होता है। शिलाजीत 500 मिलीग्राम से 1 ग्राम प्रतिदिन दो बार लेने से गुर्दे मजबूत होते हैं तथा पथरी में लाभ होता है।
- कुल्थी की दाल रात भर पानी में भिगोकर सुबह उठकर उसका पानी पीने से भी लाभ होता है।

अंग उतरना (प्रोलैप्स)

यह एक बहुतायत में पाये जाने वाला रोग है, जिससे विश्वभर में अनेक महिलाएँ एवं पुरुष पीड़ित हैं। परन्तु बहुत कम लोग प्राकृतिक रूप से इसे ठीक करने हेतु उपयुक्त तरीकों की जानकारी रखते हैं। ऑपरेशन के द्वारा इलाज तो सर्वविदित है, परन्तु अनेक ऐसे यौगिक अभ्यास हैं जो श्रोणि प्रदेश के अंगों को पुनर्विन्यास कर उन्हें पूर्वावस्था में स्थिर कर देने में सक्षम हैं तथा दीर्घकाल में ऑपरेशन से भी अधिक लाभदायक सिद्ध होते हैं, क्योंकि शल्य-क्रिया द्वारा अंगों को ठीक स्थान पर बैठा तो दिया जाता है, परन्तु जिस भी मूल कारण से कमजोरी आई थी, उसे दूर करने एवं तंतुओं को शक्ति प्रदान करने का कोई उपाय नहीं किया जाता। अत: अक्सर ऑपरेशन के कुछ समय बाद समस्या दुबारा उत्पन्न हो जाती है।

सामान्यत: अंग उतरने की संज्ञा ऐसी अवस्था को संबोधित करने हेतु दी जाती है जिसमें शरीर के भीतर का कोई अंग या हिस्सा अपनी जगह से खिसक कर उतर जाए। प्रमुखत: इसका उपयोग श्रोणि प्रदेश के अंगों हेतु किया जाता है। उदाहरण के लिए, जैसे, मलाशय खिसक कर गुदाद्वार से बाहर निकलने लगे, जिससे मल त्याग करते समय कमर में दर्द शुरू हो जाये अथवा गुदाद्वार में जलन एवं पीड़ा का अनुभव भी होने लगे, उसे *रेक्टल प्रोलैप्स* कहते हैं। कई बार स्त्रियों में गर्भाशय अपने स्थान से नीचे खिसक कर, योनि मार्ग में उतरने लगता है या यहाँ तक कि योनि मुख से बाहर भी निकल सकता है। इसमें पीड़ा या कष्ट कभी महसूस नहीं होता। कभी-कभी मात्र कमर के निचले हिस्से में धीमा दर्द भर अनुभव हो सकता है। इस समस्या की जटिलता स्वरूप मूत्र-पथ की विकृति होने से, बार-बार पेशाब

लगना या प्रवाह पर नियंत्रण खो देना, (जिससे जब भी व्यक्ति हँसे या खाँसे तो पेशाब निकल जाये) जैसे लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। मूत्र की अपर्याप्त निकासी के कारण बार-बार संक्रमण होने का खतरा भी बना रहता है। कभी-कभी खिसके हुए अंग अपने स्थान से हटकर श्रोणि स्थान के अन्य अंगों पर दबाव डालने लगते हैं। उदाहरण के लिए, कई बार गर्भाशय आगे की ओर मुड़ कर मूत्र थैली को दबाने लगता है या पीछे मुड़कर मलाशय पर दबाव डालने लगता है। इस प्रकार के दबाव से मल रुकने या दर्द अथवा मरोड़ के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। गर्भाशय की इस विकृत स्थिति में गर्भाधान होने पर समय से पहले ही गर्भपात हो जाता है। प्रोलैप्स की समस्या जन्मजात हो सकती है या बाद के जीवन में अंगों पर जोर पड़ने के फलस्वरूप भी उत्पन्न हो सकती है।

समस्या के कारण

हालाँकि इसमें बहुत पीड़ा या कष्ट तो नहीं होता, परन्तु लगातार हल्की-हल्की असुविधा-सी बनी रहती है, जिससे व्यक्ति अपने प्रति बहुत सशंकित बना रहता है। रोगी शरीर के निम्न प्रदेशों में एक असुरक्षा एवं कमजोरी का अनुभव करते हैं। अपने अंदरूनी अंगों की रचना कैसी है तथा क्यों यह समस्या उत्पन्न हुई है, इन तथ्यों की जानकारी आपकी अनावश्यक चिन्ता दूर करने और व्यावहारिक बुद्धि के साथ इस समस्या का सामना करने के लिए आवश्यक है।

गर्भाशय योनि के अन्तिम सिरे पर अवस्थित होता है तथा चारों ओर से कड़े तन्तुओं द्वारा श्रोणि प्रदेश की हड्डियों एवं मांसपेशियों के सहारे अपनी स्थिति में मजबूती से स्थिर रहता है। इन तन्तुओं का जाल मजबूत रस्सियों की भाँति गर्भाशय एवं अन्य सम्बन्धित अंगों को लपेट कर और सहारा देकर भली-भाँति स्थिर रखता है।

इन सभी तन्तुओं एवं मांसपेशियों का जाल एक केन्द्रीय बिन्दु से जुड़ा रहता है। इस केन्द्र बिन्दु से सभी तन्तु एवं मांसपेशियाँ एक चक्र के आरों की भाँति चारों ओर फैलकर आजू-बाजू की हड्डियों से जुड़ी रहती है। यह केन्द्र बिन्दु योनि और गुदा के मध्य में कम-से-कम दो इंच भीतर एक गाँठ की भाँति स्थित होता है, जिसे *'पेरीनियल बॉडी'* कहते हैं। इस गाँठ से आठ प्रमुख मांसपेशियाँ एवं सम्बन्धित तन्तु, जुड़े रहते हैं जो गर्भाशय

के अलावा मूत्राशय, मलाशय एवं गुदा को भी सहारा देते हैं। यदि यह गाँठ कमजोर पड़ जाए या क्षतिग्रस्त हो जाए तो पूरा तंत्र प्रभावित हो ढीला पड़ जाता है और अंग अपने-अपने स्थानों से खिसकने लगते हैं। गुरुत्वाकर्षण के कारण ये अंग नीचे की ओर खिसकते हैं और चूँकि सहारा देने वाले तन्तुओं और मांसपेशियों का तंत्र प्रभावहीन हो चुका होता है इसलिये वह इन अंगों को खिसकने से रोक नहीं पाता।

प्रश्न यह उठता है कि ये तन्तु कमजोर हुए क्यों? उत्तर है – गर्भावस्था के दौरान गर्भाशय के बढ़ते आकार और वजन को सहारा देने हेतु इन मांसपेशियों एवं तन्तुओं को फैलना और खिंचना पड़ता है। जब प्रसव प्रारम्भ होता है तब यह खिंचाव अपनी चरम अवस्था पर पहुँचता है। प्रसव के दौरान पूरी शक्ति बच्चे को नीचे ढकेलने में लगती है। नीचे की सभी संरचनाओं पर अत्यधिक खिंचाव एवं तनाव पड़ता है। यदि नीचे के तन्तु और पेशियाँ सशक्त तथा लचीले नहीं होंगे तो क्षति की संभावना पूरी-पूरी रहती है। यदि किसी प्रकार सफल प्रसव हो भी गया तो प्रसवोपरान्त तन्तुओं एवं पेशियों को पुनर्व्यवस्थित और पुन: शक्तिशाली बनाने हेतु उचित प्रयास करना आवश्यक है।

अत: यदि प्रसव के दौरान इन संरचनाओं को क्षति पहुँचे, अथवा प्रसवोपरान्त उन अंगों की कसावट पुनर्व्यवस्थित करने की कोशिश न की जाये, तो उनमें अपरिवर्तनीय कमजोरी उत्पन्न होना स्वाभाविक है। यहीं पर यौगिक अभ्यासों की जरूरत महसूस होती है, क्योंकि वे न केवल तन्तुओं और पेशियों को लचीला बनाते हैं, वरन् इनकी कसावट को भी पुन: पूर्ववत् बना लेते हैं। अत: योग समस्या की रोकथाम का सर्वोत्तम उपाय है।

इसी प्रकार दीर्घकालीन कब्ज में बार-बार नीचे जोर लगाने पर या बार-बार दस्त के कारण भी इन तन्तुओं में कमजोरी आ सकती है तथा अंग उतर सकते हैं।

मूल कारण

कुण्डलिनी योग का अध्ययन करने पर हम यह पाते हैं कि शरीर की जीवनी ऊर्जा का स्त्रोत स्थान 'मूलाधार चक्र' में है। यह मूल अथवा प्राथमिक केन्द्र भौतिक शरीर में पेरीनियल बॉडी के स्थान में ही अवस्थित होता है, जिसकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं।

यह गाँठ ही उस जीवनी का केन्द्र भी है जो न केवल हमारे भौतिक शरीर, भावनाओं एवं संवेदनाओं को गति देती है, वरन् हमारे आध्यात्मिक प्रयासों एवं आकांक्षाओं का भी आधार है। इस केन्द्र से जुड़ी हुई अथवा सम्बन्ध रखने वाली सभी संरचनाएँ भावनात्मक उथल-पुथल एवं अन्तर्द्वन्द्वों के प्रति अति संवेदनशील होती हैं। ये द्वन्द्व ही हमारी ऊर्जा को अवरुद्ध करके हमारी सृजनात्मक संभावनाओं एवं भौतिक ऊर्जाओं का क्षय करते हैं।

अत: मूलाधार क्षेत्र को शक्तिशाली एवं सन्तुलित रूप से क्रियाशील बनाए रखना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है। कुछ विशिष्ट यौगिक अभ्यासों की सहायता से आप इसे शक्तिशाली एवं पुनरुज्जीवित करने के मार्ग पर आसानी से अग्रसर हो सकते हैं। इनसे आपकी ऊर्जा पुनर्गठित और सन्तुलित होगी, जो आपके भौतिक, मानसिक, भावनात्मक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य का मार्ग प्रशस्त करेगी, ताकि आप पुन: एक स्वस्थ, प्रसन्न एवं सम्पूर्ण व्यक्तित्व का आनन्द ले सकें।

यौगिक उपचार

यदि आप अंग उतरने (प्रोलैप्स) या इससे सम्बन्धित किसी अन्य जटिलता से ग्रस्त हैं तो निम्नलिखित यौगिक अभ्यासों को अपनाने से अवश्य लाभान्वित होंगे। इन आसनों, मुद्राओं एवं बन्धों से आप पायेंगे कि आपकी समस्याएँ नियंत्रण में आना प्रारम्भ कर रही हैं और धीरे-धीरे पूर्ण रूप से ठीक भी हो सकती हैं, परन्तु फौरन चमत्कारी प्रभावों की अपेक्षा न रखें।

इस समस्या के यौगिक उपचार में प्रगति सामान्य रूप से शनै:-शनै: ही होती है, विशेषकर जब अंग अधिक क्षतिग्रस्त हों तथा एक-आध तन्तु पूरी तरह फट गया हो। यदि शल्य चिकित्सा आवश्यक हो जाये तो भी उस अवस्था में अपने आपको शल्य-क्रिया के लिए अधिक तैयार बनाने में और ऑपरेशन के उपरान्त शीघ्र स्वास्थ्य लाभ करने में योग अवश्य सहायता कर सकता है, तथा पुन: समस्या उत्पन्न न हो इस संभावना की भी रोकथाम योग करता है।

यदि अंग विन्यास में क्षति अधिक नहीं हो तथा तंतु पूरी तौर पर नष्ट नहीं हुए हों तो आपको योग चिकित्सा द्वारा सर्वाधिक लाभ मिलेगा। अपने अभ्यास के दौरान आप यह भी अनुभव करेंगे कि भावनात्मक असन्तुलन, कमजोरी, थकावट एवं निराशा इत्यादि भूतकाल की स्मृति मात्र रह जाते हैं और वर्तमान में आप अधिक ऊर्जान्वित एवं सम्पूर्ण जीवन का आनन्द ले सकते हैं।

1. *आसन* – पवनमुक्तासन भाग – 2, विशेषत: नौकासन, वज्रासन, शशांकासन, मार्जारि आसन, भुजंगासन, शलभासन, कंधरासन, पश्चिमोत्तानासन, विपरीतकरणी मुद्रा, सर्वांगासन, सुप्त वज्रासन।
2. *प्राणायाम* – नाड़ी शोधन, भस्त्रिका एवं उज्जायी।
3. *मुद्रा एवं बन्ध* – अश्विनी मुद्रा, वज्रोली मुद्रा, मूल बन्ध एवं उड्डियान बन्ध। इनमें से आप सभी का अभ्यास कर सकते हैं अथवा अपनी आवश्यकता के अनुरूप चुनाव कर सकते हैं।

अन्य सुझाव

दिन में अधिक-से-अधिक समय किसी अन्य अवस्था की अपेक्षा उत्तानपादासन में बैठें। इसमें दोनों पैर सामने की ओर सीधे फैले रहते हैं। इस अवस्था में भीतरी अंगों पर ऊपर की ओर खिंचाव पड़ता है। कम-से-कम समय उकड़ूँ बैठिये। उकड़ूँ बैठने से नीचे की मांसपेशियाँ और नीचे की ओर खिंचती हैं तथा अंग नीचे उतरने लगते हैं। जिन महिलाओं के अंगों में थोड़ी सी भी कमजोरी है उनके अंग इस अवस्था में बहुत दिनों तक लम्बे समय बैठने से उतरना प्रारम्भ हो जाते हैं। उत्तानपादासन में जमीन या सख्त सतह पर पैरों को सामने सीधे फैलाकर पास-पास रखिये। हाथ घुटनों या जाँघों के बगल में जमीन पर हल्के से रखे रहें। उसको और अधिक शक्तिशाली बनाने हेतु घुटनों को सीधा ही रखते हुए कमर से पैरों को सीधा ऊपर उठाइये। आधे से एक फुट की ऊँचाई पर कुछ देर स्थिर रखिये, फिर नीचे ले आइये। आसन बहिर्कुम्भक में करें। सिर नीचे करके किये जाने वाले आसनों के साथ अश्विनी मुद्रा एवं मूलबन्ध जोड़ देने से लाभ दुगुना हो जाता है। भारी वजन न उठाएँ, कब्ज न होने दें तथा शौच के समय जोर न लगायें, इनसे तन्तुओं पर गलत तरीके से जोर पड़ता है।

स्त्रियों की मूत्र-प्रणाली की समस्याएँ

मूत्र पथ संक्रमण– मूत्र प्रणाली की विशेष बनावट के कारण पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में संक्रमण अधिक आम रूप से पाया जाता है। यदि यह बार-बार हो तो यह एक गम्भीर समस्या बन जाता है तथा जटिलताएँ पैदा कर सकता है, जिसमें गुर्दों का पूरा नष्ट होना भी संभव है। कभी-कभी यही संक्रमण रक्त के माध्यम से पूरे शरीर में फैल कर घातक भी सिद्ध हो सकता है।

ऐसा माना जाता है कीटाणु आँतों से (रक्त के द्वारा) अथवा गुदा से सीधे मूत्र मार्ग में प्रवेश कर जाते हैं। इस स्थान की सफाई में लापरवाही बरतने से, मैथुन से अथवा मूत्र मार्ग में नली डालने से रोग के प्रति प्रवणता बढ़ जाती है। अत: इस स्थान की सफाई का विशेष महत्त्व है। स्त्रियों की छोटी और सीधी मूत्र नलिका से संक्रमण का सीधे मूत्राशय में प्रविष्ट होना अधिक आसान है और एक बार मूत्राशय में जमने के पश्चात् संक्रमण ऊपर गुर्दों की ओर और भी अधिक आसानी से चढ़ सकता है।

सवाल यह उठता है कि क्या कीटाणु ही पूर्णत: इस समस्या के लिए जिम्मेदार हैं या इसका कोई दूसरा पहलू भी है? दूसरा पहलू व्यक्तिगत है। यदि किसी स्त्री की प्रतिरक्षा प्रणाली कमजोर हो तो वह संक्रमण का मुकाबला ही नहीं कर पायेगी। इसीलिए हम देखते हैं कि ओषधियाँ कीटाणुओं को मार तो देती हैं, परन्तु कुछ दिनों बाद संक्रमण दुबारा हो जाता है, और यही क्रम अक्सर महीनों तक चलता रहता है। ओषधि-विज्ञान एक तरफा इलाज करता है। अत: जब तक हम अपनी प्रतिरोधन क्षमता को नहीं बढ़ायेंगे तथा अन्तर्निहित प्राणिक अवरोधों को दूर नहीं करेंगे, बीमारी का उन्मूलन नहीं होगा। यही योग चिकित्सा का आधार है।

अलग-अलग स्थानों में होने वाले संक्रमण को अलग-अलग नाम दिया जाता है। उदाहरण के लिए, मूत्राशय से मूत्र को बाहर ले जाने वाली नली में संक्रमण होने को *'यूरिथ्राइटिस'* कहते हैं। इसका प्रमुख लक्षण है पेशाब करते समय जलन होना। मूत्राशय में होने वाले संक्रमण को 'सिस्टाइटिस' कहते हैं। और यदि गुर्दों तक संक्रमण बढ़ जाये तो उसे 'पाइलोनेफ्राइटिस' कहते हैं। सामान्यत: संक्रमण जितना भीतर हो, उतना ही नुकसानदेह होता है, क्योंकि वह संरचना तथा क्रिया-प्रणाली, दोनों को अस्त-व्यस्त कर सकता है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि प्राण शक्ति में जितनी कमी होगी संक्रमण उतने ही भीतर तक प्रवेश करता जायेगा।

मूत्राशय संक्रमण

मूत्राशय में कीटाणुओं का जमना और उनकी संख्या में गुणात्मक वृद्धि होना संक्रमण का सबसे महत्त्वपूर्ण चरण है। स्वस्थ व्यक्ति के मूत्रपथ में मूत्र बिल्कुल रोगाणुविहीन होता है, क्योंकि वहाँ मूत्र निश्चित गति से प्रवाहित होता रहता है तथा श्लेष्मा झिल्ली मजबूत रहती है। यदि वहाँ मूत्र प्रवाह धीमा हो अथवा प्रवाह में अवरोध हो तो यह प्रतिरोधक क्षमता घटने लगेगी।

मूत्राशय संक्रमण अधिकांशत: पित्त और अम्ल की प्रबलता से अवक्षेपित होता है। जो लोग ऐसा भोजन करते हैं जिसमें शर्करा तथा स्टार्च अत्यधिक मात्रा में हों अथवा जो लोग कुछ विशेष मानसिक तनावों व आशंकाओं से पीड़ित रहते हैं उन्हें यह समस्या ज्यादा तंग करती है। यौन जीवन की अनियमितताएँ या उससे सम्बन्धित कुंठाएँ भी इस समस्या में भागीदार होती हैं। ऐसा भी कहा जाता है कि पसीने के बाद ठण्ड लगने पर या चोट लगने अथवा किसी अन्य संक्रामक रोग के चलते भी मूत्र-पथ संक्रमण हो सकता है।

मूत्राशय शोथ के लक्षण हैं – बार-बार पेशाब लगना, पेशाब करते समय पीड़ा होना, मूत्राशय खाली होने पर भी मूत्र करने की इच्छा होना तथा पेट के सबसे नीचे के भाग में दर्द होना इत्यादि। मूत्र अक्सर धुँआपन लिए हुए तथा अम्लीय होता है तथा उसमें पीब अथवा रक्त भी आ सकता है। पेशाब से दुर्गंध आती है। अधिकांशत: साथ में कब्ज की शिकायत भी जुड़ी होती है।

गुर्दों का संक्रमण

जिन लोगों को लम्बे समय तक बार-बार मूत्राशय शोथ रहता है, अथवा उसका दीर्घकाल तक उचित उपचार न हो, तो संक्रमण मूत्रवाहिनियों से ऊपर चढ़ता हुआ गुर्दों तक पहुँच जाता है। गुर्दे, संक्रमण के कारण धीरे-धीरे क्षतिग्रस्त होने लगते हैं और अन्ततः अपरिवर्तनीय रूप से नष्ट हो जाते हैं। यह विनाशकारी समस्या पूरे शरीर की क्रिया-प्रणाली को प्रभावित करती है तथा गम्भीर रूप ले लेती है, जिसे *क्रॉनिक रीनल फेलियर* कहते हैं। इस अवस्था में गुर्दे रक्त को शुद्ध करने में अक्षम हो जाते हैं। फलस्वरूप लवणों एवं जल का गम्भीर असन्तुलन उत्पन्न हो जाता है तथा पूरा शरीर स्वयं के ही अपशिष्ट पदार्थों के जमा होने से विषाक्त हो जाता है।

इस स्व-विषाक्तता का अंतिम व अपरिहार्य परिणाम मृत्यु ही है जब तक जीवनवर्द्धन हेतु *'डायलिसिस'* की सहायता न ली जाये अथवा गुर्दे का प्रत्यारोपण न किया जाये। डायलिसिस में एक कृत्रिम उपकरण द्वारा मरीज का रक्त शुद्ध किया जाता है। इस प्रक्रिया की अपनी जटिलताएँ एवं दुष्प्रभाव हैं। जहाँ तक संभव हो इस अंतिम अवस्था को आने ही न दिया जाये तो इस दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति को टाला जा सकता है। संक्रमण इतनी गहराई तक तभी जा सकता है जब व्यक्ति की प्रतिरोधक क्षमता तथा प्राण शक्ति अत्यधिक क्षीण पड़ जाये। प्राण शक्ति, जिसे जीवनी-ऊर्जा भी कह सकते हैं, का स्तर प्रतिरोधक क्षमता से सीधा सम्बन्ध रखता है तथा इसे प्रभावित और वर्द्धित करना योगाभ्यास द्वारा ही संभव है।

प्रतिजैविक ओषधियों की भूमिका

प्रतिजैविक ओषधियाँ (एन्टीबायोटिक्स) कुछ समय के लिए संक्रमण के परेशान कर देने वाले लक्षणों को रोकने में बहुत सक्षम सिद्ध होती हैं। परन्तु ये ओषधियाँ रोग को हमेशा के लिए समाप्त नहीं करतीं, बल्कि लम्बे कालांतर में एन्टीबायोटिक ओषधियाँ वास्तव में प्रतिरोधक प्रणाली को और अधिक कमजोर एवं निर्भर बना देती हैं। इसीलिए हम यह सलाह देते हैं कि यदि ओषधियाँ आवश्यक हों तो प्रारम्भिक रूप से लक्षणों को नियंत्रित करने में उपयोग की जा सकती है, परन्तु इलाज वहीं समाप्त नहीं हो जाना चाहिए। योगाभ्यास के एक अधिक विस्तृत कार्यक्रम को, जो योजनाबद्ध तरीके से प्राण-शक्ति के अवरोध को दूर करे, अपनाकर लाभान्वित होना चाहिए। इस

प्रकार से पुराने-से-पुराने जमे हुए संक्रमण को भी जड़ से उखाड़ कर फेंका जा सकता है। ओषधियों के साथ योग को प्रारंम्भिक दौर में जोड़ा जा सकता है, परन्तु दुबारा हमला न हो यह केवल योगाभ्यास से संभव है।

गर्भावस्था में मूत्र विकार

गर्भवती महिला को स्वास्थ्य का उच्च स्तर बनाए रखना आवश्यक है, क्योंकि उसके साथ बच्चे का स्वास्थ्य भी अन्योन्याश्रित रूप से जुड़ा हुआ है। गर्भावस्था के परिवर्तनों के कारण वह अनेक गंभीर समस्याओं के प्रति पूर्वप्रवण हो जाती है, जिससे उसके तथा शिशु, दोनों के जीवन को खतरा भी उत्पन्न हो सकता है। मूत्र प्रणाली के सम्बन्ध में मूत्र प्रवाह में अवरोध, ऊर्ध्वगामी संक्रमण, गुर्दों की गड़बड़ियाँ, जल एवं लवणों का असन्तुलन इत्यादि पूरे शरीर को आसानी से कुप्रभावित कर सकते हैं, क्योंकि बदले हुए गर्भाशय के दबाव के कारण मूत्र निष्कासन प्रणाली में विकृति उत्पन्न हो जाती है।

यदि गर्भावस्था में संक्रमण हो जाये तो उससे पूर्ववर्णित जटिलताएँ तो होंगी ही, परन्तु उसके अलावा रक्त की कमी, बच्चे की वृद्धि रुकना तथा *'टॉक्सीमिया'* नामक एक गंभीर रोग का होना भी संभव है। 'टॉक्सीमिया' गर्भावस्था के अन्तिम महीनों में गुर्दे की गड़बड़ी के कारण होता है, जिसमें अन्य लक्षणों के अलावा रक्तचाप बहुत ऊपर तक चला जाता है तथा बेहोशी और झटके भी आ सकते हैं। इससे गर्भपात की तथा यहाँ तक कि माँ या शिशु या दोनों की मृत्यु की संभावना होती है। इस रोग का मूल कारण माँ की मूत्र प्रणाली में छिपी हुई कमजोरियाँ हैं, जो गर्भावस्था में बढ़ी हुई माँगों और तनावों के कारण अवक्षेपित हो जाती है।

गर्भावस्था में संक्रमण कई बार बिना कोई लक्षण उत्पन्न किये भीतर ही भीतर विनाश शुरू कर देते हैं। अत: हर स्त्री के लिए आवश्यक है कि वह गर्भावस्था के पहले से ही या प्रारम्भिक महीनों से ही नियमित योगाभ्यास कार्यक्रम अपनाकर इन समस्याओं की रोकथाम करे।

स्ट्रेस इनकॉन्टिनेन्स

यह शब्द उस अवस्था के लिए प्रयुक्त किया जाता है जब मूत्राशय से मूत्र अपने आप बाहर निकल जाता है तथा इसे नियंत्रित करना मुश्किल होता है। कभी भी हँसने, खाँसने या ऐसी कोई क्रिया जिससे पेट पर दबाव पड़ता हो

या तनाव हो तो, थोड़ा-सा मूत्र बाहर निकल जाता है। यह समस्या अनेक स्त्रियों को परेशान करती है तथा अपने आप में शर्म तथा तनाव उत्पन्न करने वाली परिस्थिति बन जाती है। अधिकांशत: अनेक बच्चों को जन्म देने वाली माताएँ, जो शिशु के जन्म के उपरांत अपने शरीर को पुनर्गठित करने पर विशेष ध्यान नहीं देतीं, इस समस्या का शिकार बनती हैं। उम्र अधिक होने पर जो ढीलापन आता है उससे भी ऐसा हो सकता है। शिशु जन्म के दौरान नीचे के अंगों पर बहुत दबाव एवं खिंचाव पड़ता है, विशेषकर मूत्राशय एवं मूत्रनली तथा उनसे सम्बन्धित तन्तु एवं मांसपेशियों पर, फलस्वरूप मूत्र नियंत्रण प्रणाली में दोष उत्पन्न हो जाते हैं। यदि इन अंगों को पुन: पूर्वावस्था में लाने का कोई प्रयास नहीं किया जाए तो वे ढीले ही रह जाते हैं। तदुपरान्त कई महीनों में मूत्र नियंत्रण संभव नहीं हो पाता।

जो स्त्रियाँ शिशु जन्म के पूर्व तथा पश्चात् योगाभ्यास करती हैं वे बहुत शीघ्र मूत्र-नियंत्रण एवं श्रोणि प्रदेश के अंगों की सुचारु क्रियाशीलता पुनर्प्राप्त कर लेती हैं। परन्तु जो अपने अंगों की कसावट को पुन: सुगठित करने का कोई सजग प्रयास नहीं करतीं, उनमें ये सभी विकृतियाँ रह जाती हैं। योगाभ्यास से शरीर विन्यास एवं सौंदर्य तो सुरक्षित रहता ही है, साथ-ही-साथ शिशु जन्म से क्षति भी बहुत कम होती है और यदि हो भी तो शीघ्र सुधर जाती है।

परन्तु एक चेतावनी उन स्त्रियों के लिए है जो शिशु जन्म के तुरन्त बाद से ही अपने अंगों को पुनर्व्यवस्थित करने तथा शरीर विन्यास सुघड़ बनाने हेतु योगाभ्यास अपनाने के लिए आतुर हों – उन्हें यह सलाह दी जाती है कि शिशु जन्म के तुरन्त बाद से ही आसन करना प्रारम्भ न कर दें। खासकर बिना किसी दक्ष प्रशिक्षक के निर्देशन के। यह प्रतिबन्ध प्रसव के चालीस दिन पश्चात् तक मानना चाहिए। ताकि प्रारम्भिक क्षतिपूर्ति प्राकृतिक रूप से पूर्ण हो जाये तथा प्रसवोपरान्त अतिरिक्त प्रवाह का खतरा कम हो जाये। शिथिलीकरण, ध्यान व मृदु प्राणायाम के कुछ अभ्यास निश्चित रूप से प्रसव के तुरन्त बाद आरम्भ किये जा सकते हैं।

स्त्री मूत्र प्रणाली के रोगों का यौगिक उपचार

इन रोगों के यौगिक उपचार का लक्ष्य है सम्पूर्ण मूत्र-प्रजनन प्रणाली एवं सम्बन्धित क्षेत्रों में जो प्राणशक्ति की कमी है उसे परिपूरित करना। जब यह प्राणशक्ति सुचारु रूप से प्रवाहित होने लगेगी तो संक्रमण इस क्षेत्र में

अपना पैर जमा ही नहीं सकेगा तथा सम्पूर्ण शरीर का स्वास्थ्य सुदृढ़ बनेगा व प्रतिरोध क्षमता का स्तर ऊपर उठेगा।

1. *सूर्य नमस्कार* – एक चक्र से प्रारम्भ करें, तदुपरान्त धीरे-धीरे बढ़ाते हुए 12 चक्र प्रतिदिन सूर्योदय के समय करें।
2. *आसन* – शक्तिबन्ध समूह के आसन – व्याघ्रासन, उष्ट्रासन, शशांक-भुजंगासन, भुजंगासन, धनुरासन, चक्रासन, अर्धपद्म पश्चिमोत्तानासन, सर्वांगासन, हलासन, अर्धपद्म हलासन, अर्ध मत्स्येन्द्रासन, वातायनासन, द्विपाद कंधरासन, सिद्धयोनि आसन।
3. *प्राणायाम* – नाड़ी शोधन प्राणायाम एवं भस्त्रिका प्राणायाम कुंभक एवं बन्धों के साथ (अन्तर्कुम्भक के साथ मूल बन्ध व जालंधर बन्ध, बर्हिकुम्भक के साथ उड्डियान बन्ध) सूर्य भेद प्राणायाम भी प्रतिदिन 10 चक्र तक करें।
4. *मुद्रा एवं बन्ध* – विपरीतकरणी मुद्रा और पाशिनी मुद्रा, सहजोली मुद्रा एवं मूलबन्ध – प्रतिदिन 30 बार तक।
   महामुद्रा एवं महाबेध मुद्रा – शुरू में 3-3 बार, बाद में संख्या बढ़ा सकते हैं।
5. *षट्क्रिया* – नेति एवं कुंजल क्रिया।
   योगाभ्यास प्रारम्भ करने से पूर्व पूर्ण शंखप्रक्षालन का अभ्यास आश्रम वातावरण में करना सर्वश्रेष्ठ होगा। तदुपरान्त लघु शंखप्रक्षालन हर हफ्ते करते रहना चाहिए।
6. *शिथिलीकरण* – योगनिद्रा प्रतिदिन दोपहर में या सोने से पहले।
7. *अमरोली* – संक्रमण को दूर करने में इसका विशेष योगदान है। प्रतिदिन 3 से 4 लीटर पानी पीयें, ताकि अमरोली शुद्ध एवं हल्की रहे।
8. *भोजन* – हल्का और अवश्यत: शाकाहारी होना चाहिए, जिसमें प्रोटीन कम मात्रा में और उत्तेजक मसालों से रहित हो। परिशोधित भोज्य पदार्थ, मैदा, शक्कर और मसाले इत्यादि न लें। शराब और तम्बाकू का सेवन वर्जित है। चाय-कॉफी के स्थान पर एक कप जौ का पानी या अन्य जड़ी-बूटियों वाली चाय का सेवन दिन में तीन बार करें।
9. *उपवास* – हफ्ते में एक दिन उपवास अवश्य करें या संध्या को भोजन न लें। इससे दीर्घकालीन संक्रमण को उखाड़ फेंकने के लिए अतिरिक्त ऊर्जा प्राप्त होगी। लम्बे समय का उपवास पूरे शरीर की सफाई करेगा और यदि इसके बाद फलाहार लिया जाये तो रोग निवारण तीव्र गति से होगा। फल क्षारीय होते हैं, जो अम्लता को कम करने में सहायक होते हैं।

अन्य सुझाव

जिन्हें मूत्राशय की गड़बड़ियाँ होती रहती हों अथवा पूर्व में मूत्र प्रणाली का संक्रमण हो चुका हो, उन्हें सलाह दी जाती है कि योगाभ्यास के साथ-साथ पानी अधिक मात्रा में पीयें (प्रतिदिन 6 से 10 गिलास) ताकि मूत्र प्रणाली की धुलाई होती रहे। यौन क्रिया के तुरन्त बाद मूत्राशय खाली कर लेने से संक्रामक कीटाणु भीतर प्रवेश करने से पहले ही धुल जायेंगे। पहले से ही कमजोर अंग प्रणाली में अधिकांशत: संक्रमणों का प्रवेश इसी प्रक्रिया के दौरान होता है। हरसिंगार के पत्ते का रस भी इसमें बहुत लाभकारी होता है।

सौभाग्यवश योग एकमात्र ऐसी प्रणाली है जो गुर्दों के ठप्प होने और जीवन को खतरा होने से पहले ही ह्रासीय प्रक्रिया को रोककर स्वास्थ्य-प्रदायी हो सकती है।

रज:स्राव की अनियमितताएँ

स्त्रियों की प्रजनन प्रणाली न केवल संरचनात्मक दृष्टिकोण से, वरन् क्रियात्मक रूप से भी पुरुषों की अपेक्षा काफी जटिल होती है। बाहर से दृष्टिगोचर न होने पर भी एक स्त्री शरीर के भीतर में सभी अंग, शिशु के रूप में एक नये जीवन का निर्माण करने हेतु, प्रकृति के एक संवेदनशील और जटिल परन्तु कुशल उपकरण की भाँति कार्य करते रहते हैं।

यह उपकरण अति संवेदनशील और जटिल होने के कारण अनेक प्रकार से गड़बड़ी का शिकार होने की संभावना रखता है। फलस्वरूप मासिक धर्म की गड़बड़ियाँ आम तौर पर देखी जाती हैं। विशेषकर आधुनिक अप्राकृतिक परिवेश में। ये दोष कई स्त्रियों को जीवनपर्यन्त लगातार परेशान करते रहते हैं। भारत जैसे देशों में, जहाँ प्रजनन सम्बन्धी विषयों को पारम्परिक तौर पर गुप्त रखा जाता है, कई स्त्रियाँ अपने शरीर को एवं उसकी प्राकृतिक क्रियाओं को ही ठीक से नहीं समझ पातीं एवं अक्सर भ्राँतियों और अंधविश्वासों के चलते गुमराह भी हो जाती हैं। कई स्त्रियाँ तो लाज-शर्म के कारण सहायता तथा सलाह तक नहीं लेतीं जब तक रोग बहुत कष्टप्रद न हो जाये। इसके विपरीत कई स्त्रियाँ अपनी समस्याओं को दार्शनिक तौर पर स्वीकार कर लेतीं हैं तथा इस बात के प्रति सजग भी नहीं रहती कि एक बेहतर स्वास्थ्य की अवस्था भी कभी प्राप्त कर जा सकती है।

इतना जानना भी आवश्यक है कि किसी स्त्री का रज:स्राव हमेशा नियमित नहीं रहता, क्योंकि प्रत्येक चक्र अपने आप में प्रकृति का नया खेल होता है और थोड़ा-बहुत, कम-ज्यादा होना किसी रोग का ही लक्षण हो, ऐसा आवश्यक नहीं है। लगातार दीर्घकालिक गड़बड़ी बने रहने पर ही हम उसे किसी रोग की संज्ञा देते हैं।

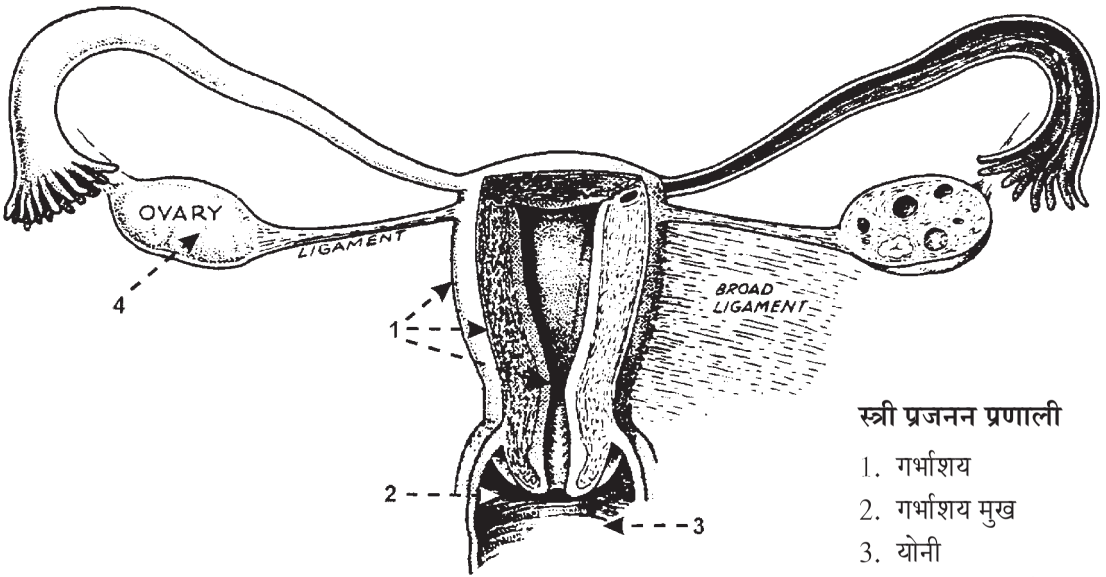

स्त्री प्रजनन प्रणाली

1. गर्भाशय
2. गर्भाशय मुख
3. योनी
4. डिम्ब ग्रन्थि (ओवरी)

मासिक धर्म के विशिष्ट रोग

1. **अनार्तव** – इसका अर्थ है मासिक स्राव का न होना। बच्चियों में किशोरावस्था पहुँचने के पूर्व तक तथा अधेड़ अवस्था (40–45 वर्ष) के पश्चात्, जिसे रजोनिवृत्ति कहते हैं, ऐसा प्राकृतिक रूप से होता ही है। वे स्त्रियाँ जो गर्भवती हैं अथवा बच्चे को स्तनपान कराती हैं उनको भी मासिक धर्म नहीं होता। चिन्ता, परेशानी, भय, तनाव तथा भोजन या वातावरण में परिवर्तन इत्यादि भी स्राव रोकने का कारण बन सकते हैं। इस समस्या का यौगिक निदान करने से पहले अन्त:स्रावी प्रणाली के हारमोन्स की गड़बड़ी या कोई ट्यूमर वगैरह तो नहीं है, यह जाँच द्वारा देख लेना श्रेयस्कर होता है। अनार्तव के दो मुख्य प्रकार होते हैं –

   - *प्राथमिक अनार्तव* – जब तक किशोरवय बच्ची को मासिक धर्म 16–17 वर्ष की वय तक प्रारम्भ नहीं होता तो उसे प्राथमिक अनार्तव कहते हैं। अक्सर ऐसा पोषक तत्त्वों की कमी, खुली हवा, खुली धूप एवं समुचित व्यायाम की कमी से होता है। कब्ज अथवा तनाव के अन्य लक्षण भी साथ में परिलक्षित हो सकते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से किशोर अवस्था में अनेक परिस्थितियाँ बच्चे के मन को कुप्रभावित करती हैं। आधुनिक सामाजिक परिवेश में पारिवारिक, सामाजिक तनाव, अध्ययन और कैरियर का दबाव, लैंगिक समस्याएँ सभी मिल-जुलकर गहरे तनाव का रूप ले अचेतन मन के माध्यम से रजोदर्शन की इस संवेदनशील प्रक्रिया को प्रभावित कर सकते हैं। जैसे ही ये कारण अचेतन मन से हटते हैं, मासिक धर्म स्वत: शुरू हो जाता है।

     यदि 16 वर्ष तक रज:स्राव की प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं हुई है तथा चिकित्सालय जाँच द्वारा कोई कारण समझ में नहीं आता तो भी घबराने वाली परिस्थिति नहीं बननी चाहिए। बस कारण ढूँढ़कर उसका निवारण करना चाहिए। कई बार ईश्वर प्रदत्त गुणों से अभिभूत आध्यात्मिक मानसिकता वाले बच्चों में मासिक धर्म का अभाव एवं विलम्ब से प्रारम्भ होना सामान्य बात है, क्योंकि जाग्रत पीनियल ग्रंथि पीयूष ग्रंथि पर सशक्त नियंत्रण बनाए रखती है। जब तक यह साबित न हो जाये कि बच्चों में स्वत: हॉरमोन उत्पादित करने की क्षमता नष्ट हो चुकी है, कृत्रिम हारमोन्स द्वारा मासिक धर्म एवं डिम्ब उत्प्रेरण की संभावना को जहाँ तक हो, टालना चाहिए।

- *द्वितीयक अनार्तव* – यदि एक बार प्रारम्भ होने के बाद बीच में कभी मासिक धर्म बन्द हो जाए तो उसे इस श्रेणी में रखा जायेगा। यदि गर्भावस्था आदि कोई दूसरा कारण न हो तो निर्देशित योगाभ्यास कार्यक्रम द्वारा पुन: रज:स्राव शुरू किया जा सकता है। इस समस्या के मूल में अधिकांशत: स्थान, भोजन या जीवनचर्या में परिवर्तन, मौसमी बुखार, कब्ज या तनाव जैसे कारण होते हैं। उदाहरण के लिए, विवाह के तुरन्त बाद या कॉलेज के होस्टल में जाने से ही मस्तिष्क और अन्त:स्रावी प्रणाली प्रभावित हो ठीक से काम करना बन्द कर देती है। योगाभ्यास द्वारा ये अस्थाई विषमताएँ आसानी से दूर हो सकती हैं। कभी-कभी गर्भनिरोधक गोलियों के गलत उपयोग से भी यह समस्या उत्पन्न हो सकती है। अत: उनका सेवन बन्द करने के बाद पुन: सामान्य अवस्था लौट आयेगी। एक पूर्ण सात्त्विक या यौगिक जीवनचर्या अपनाने से, जिसमें आहार-विहार, विचार-व्यवहार सभी का सन्तुलन हो, रज: प्रणाली अनिवार्यत: पूर्णरूप से स्वस्थ रहती है। उग्र योगाभ्यास या उच्च साधना कभी-कभी रज:स्राव को कम या बन्द कर देती है, परन्तु यह किसी रोग की नहीं, वरन् स्वास्थ्य की उच्च अवस्था की द्योतक है।

2. **कष्टार्तव** – मासिक धर्म शुरू होने के पहले या दौरान होने वाली पीड़ा या समस्या को कष्टार्तव या *डिसमेनोरिया* कहते हैं। यह भी एक बहुत आम समस्या है, जिसका एकमात्र इलाज दर्द निवारक ओषधियाँ ही नहीं है। साधारण नियमित योगाभ्यास कार्यक्रम से इससे हमेशा के लिए आसानी से छुटकारा पाया जा सकता है।

यह समस्या दो कारणों से हो सकती है – एक तो अंगों में रक्त का संचार अत्यधिक होना (पेलविक कनजेशन) और दूसरा गर्भाशय की मांसपेशियों का आकुंचन (स्पाज़म)। दोनों ही अवस्थाएँ श्रोणिप्रदेश के अंगों से सम्बन्धित नस-नाड़ियों (ऑटोनॉमिक नर्वस) एवं अन्त:स्रावी रसायनों (ऑरस्टोज़न, प्रोजेस्ट्रॉन) में असन्तुलन होने से उत्पन्न होती हैं। ये सभी असन्तुलन अन्योन्याश्रित रूप से जुड़े हैं और इनके मूल में एक ही प्रकार की समस्या छुपी होती है। मनोभावनात्मक व शरीर-क्रियात्मक असन्तुलनों का इतना निकट का सम्बन्ध इस रोग में बहुत स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। हालाँकि यह अनुवांशिक रोग नहीं है, परन्तु फिर

भी ऐसा देखा गया है कि यदि माँ को कष्टार्तव हो तो अधिक संभावित है कि पुत्री को भी होगा। यदि इकलौती पुत्री हो तो समस्या और भी बढ़ जाती है। कई बार सुखी वैवाहिक जीवन या मातृत्व प्रारम्भ होते ही यह समस्या अपने आप समाप्त हो जाती है। ये सभी तथ्य मानसिक परिवेश के प्रभाव को दर्शाते हैं।

वैसे भी मासिक स्राव शुरू होने के पहले से ही तथा होते समय अधिकांश स्त्रियाँ शारीरिक रूप से कमजोरी एवं भावनात्मक रूप से असन्तुलन का अनुभव करती हैं। यह प्रतिक्रिया अपने आप में सहनशक्ति को क्षीण बनाने वाली होती है। फलस्वरूप कम कष्ट भी अधिक अनुभव होने लगता है। परन्तु नेपथ्य में छिपी अन्तर्निहित चिन्ताएँ और तनाव, अनसुलझी या असन्तुष्ट यौन भावनाएँ, शरीर क्रिया के बारे में गलतफहमियाँ, परीक्षा या नौकरी की चिन्ता, पारिवारिक समस्याएँ और समुचित व्यायाम का अभाव इत्यादि ही मुख्य दोषी है।

- *आकुंचन प्रधान कष्टार्तव*– इसका विशिष्ट लक्षण है– स्राव की शुरुआत में ही पेट के निचले भाग में तीव्र पीड़ा और मितली आना तथा कमजोरी महसूस होना। यह बहुधा 25 वर्ष से कम अवस्था की, विशेषत: अविवाहित स्त्रियों को प्रभावित करता है तथा प्राय: पहले शिशु के जन्म के बाद अपने आप समाप्त हो जाता है।
- *संकुलता प्रधान कष्टार्तव*– इसके साथ अति तनावपूर्ण परिस्थिति जुड़ी होती है जिसे चिकित्सक *'प्री मेन्स्टूअल सिन्ड्रोम'* के नाम से भी जानते हैं। निचली कमर एवं पेट में भारीपन तथा पीड़ा की स्थिति स्राव शुरू होने के तीन-चार दिन पहले से ही बनना शुरू हो जाती है। कुछ महिलाओं को वक्षों, पेट और कभी-कभी पूरे शरीर में सूजन एवं हल्का दर्द अनुभव होने लगता है। शरीर में पानी जमा होने से वजन 2–3 किलो तक बढ़ जाता है तथा मितली, सिरदर्द, कब्ज या कड़ापन जैसे लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। सबसे विषम लक्षण उद्विग्नता, निराशा एवं शक्तिहीनता के होते हैं, जो इस काल में भावनात्मक उथल-पुथल मचा देते हैं। जैसे ही स्राव शुरू होता है, यह शारीरिक और मानसिक भारीपन कम होने लगता है तथा जब स्राव बहुलता से होता है तो ये लक्षण भी समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार की समस्या रज:स्वल से रजोनिवृति तक सभी उम्र की स्त्रियों

को प्रभावित कर सकती है तथा हर शिशु जन्म के उपरान्त और भी बदतर हो जाती है।

योग द्वारा इस समस्या का समाधान आदर्श रूप में हो सकता है, क्योंकि योग न केवल शारीरिक, वरन् मनोभावनात्मक स्तर तक सशक्त प्रभाव डालने में सक्षम है, और इसका कोई दुष्प्रभाव भी नहीं होता तथा इसका सद्प्रभाव सम्पूर्ण जीवन को सुखद बना देता है। कुण्डलिनी योग के अनुसार ये समस्याएँ मूलाधार-स्वाधिष्ठान चक्र क्षेत्र की विषमताओं से उत्पन्न होती हैं। योग द्वारा इन चक्रों में और अपान वायु के ऊर्जा क्षेत्र में सन्तुलन की अवस्था आती है एवं सम्बन्धित अंगों की स्वाभाविक क्रियाशीलता स्वत: प्रारम्भ हो जाती है।

3. **अति रज:स्राव –** यदि रज:स्राव में रक्त की मात्रा अत्यधिक हो या वह सामान्य से ज्यादा अवधि तक होता रहे तो उसे यह संज्ञा दी जाती है। सामान्यत: 4 से 6 दिन चलने वाली इस प्रक्रिया में 7 से 8 दिन भी लग सकते हैं, जिसे सामान्य ही माना जाता है। यदि अत्यधिक स्राव हो तो सर्वप्रथम चिकित्सक की सलाह एवं जाँच द्वारा किसी गंभीर समस्या होने की शंका दूर कर लेनी चाहिए। यह योग चिकित्सा शुरू करने से पहले लिया जाने वाला सुरक्षात्मक महत्त्वपूर्ण कदम है। तदुपरान्त कारणानुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

   प्रमुखत: इस समस्या में भी वही मनोभावनात्मक कारण छिपे होते हैं जो अनार्तव के खण्ड में वर्णित किये गये हैं। ये तनाव अन्त:स्रावी तंत्र या मस्तिष्क नियंत्रण प्रणाली को दोनों में से किसी भी दिशा में घुमा सकते हैं, जिससे किसी में या तो रज:स्राव बिल्कुल बन्द हो जाता है या किसी को बहुत ज्यादा होने लगता है।

   इसके अलावा गर्भाशय इत्यादि स्थानीय अंगों की स्नायविक विषमताओं एवं ऊतकों की असामान्य वृद्धि के मूल में अपान वायु तथा स्वाधिष्ठान चक्र की क्रियाशीलता में अवरोधों का होना है। योगाभ्यास द्वारा प्राणशक्ति का संचार इन अवरोधों को आसानी से दूर कर सकता है।

सजगता का उच्च आयाम

शारीरिक और भावनात्मक दृष्टिकोणों से स्त्री के जीवन में रजोधर्म चक्र का समय ऊर्जा को अधोगामी दिशा में ले जाता हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि

इस समय की वास्तविक अभिव्यंजकता हमें अब भी नहीं मालूम। शरीर और मन से ऊपर चेतना का एक उच्च आयाम और भी है। अपने व्यक्तित्व के इस अन्तर्जाग्रत पहलू की अनभिज्ञता ही हमारी परेशानियों का मूल कारण है। पौराणिक काल से ही प्रत्येक सभ्यता की गल्पों में इस बात को विशेष महत्त्व दिया जाता रहा है कि मासिक चक्र काल में स्त्रियों की चेतना का प्रसुप्त भाग खुल जाता है और इसीलिए पारंपरिक तौर पर इस काल के दौरान स्त्रियों को विशेष कर्मकांडीय अनुष्ठान से गुजरना पड़ता है। कई परिवारों में आज भी लोग इसके वास्तविक अर्थ को बिना जाने ही मात्र एक परंपरा के रूप में स्त्रियों को रसोई एवं गृहकार्य से दूर अकेले में रखते हैं। यह अपवित्रता का सूचक नहीं, वरन् इसका प्रयोजन चेतना की अभिव्यक्ति का पूरा लाभ उठाने का मौका देना है।

आधुनिक शोधों से भी यह पुष्टि होती है कि लगभग 70 प्रतिशत स्त्रियों का मासिक धर्म चन्द्रमा की कलाओं से जुड़ा होता है। 28 दिवस का चंद्र चक्र स्त्रियों के मासिक चक्र से निकट का तालमेल रखता है। चंद्रमा की कलाओं और ज्वार-भाटे का सम्बन्ध तो सर्वविदित है, इसी प्रकार हमारे शरीर का जल चयापचय एवं पीनियल ग्रंथि भी चंद्रमा से प्रभावित होता है। हमारे मस्तिष्क के अति सुग्राही केन्द्र ब्रह्माण्डीय तरंगों के प्रति संवेदनशील होते हैं, जिनका सम्बन्ध *लिम्बिक तंत्र* एवं *पीनियल ग्रंथि* से होता है। इनका सम्बन्ध हमारी भावनाओं से तथा अन्त:स्रावी तंत्र की क्रियाशीलता से होता है। हममें से अधिकतर लोग अपने जीवन में इस सम्बन्ध के सकारात्मक पक्ष को स्पष्टत: अनुभव नहीं कर पाते, क्योंकि हम प्रकृति से बहुत दूर होते जा रहे हैं। जीवन की कृत्रिमता हमारी अनेक प्राकृतिक प्रतिक्रियाओं को कुंठित एवं भोंडा बना देती है। और जो लोग इन्हें अनुभव करते हैं, वे इसे ठीक से न समझ पाते हैं, न संभाल पाते हैं, अत: विकृतियाँ जन्म लेती है।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से मासिक काल के दिन एक स्त्री के लिए बहुत शुभ एवं शक्तिशाली माने गये हैं। रज:स्राव शुरू होने के तीन दिन पहले से शुरू होकर स्राव के पाँच दिनों तक तथा उसके बाद के शुरुआती पाँच दिन, इस प्रकार कुल तेरह दिन ऐसा समय है जब प्राकृतिक रूप से भावनात्मक एवं अन्त:स्रावी सन्तुलन में ऐसा परिवर्तन आता है कि स्त्री की चेतना उच्च अवस्था को छूने लगती है। इस समय उसकी अन्तर्दृष्टि व अन्त:प्रज्ञा, जिसे छठी इन्द्रिय या इन्ट्यूशन कहते हैं, प्राकृतिक रूप से अतिक्रियाशील

बन जाती है। यह काल जप-ध्यान द्वारा आध्यात्मिक जागृति के लिए बहुत शक्तिशाली माना जाता है।

अनेक स्त्रियाँ इस काल के दौरान इन्द्रिय सुग्राह्यता, अतीन्द्रिय ग्रहणशीलता व संवेदनशीलता का उत्कर्ष पर अनुभव करती हैं। उदाहरण के लिए वे गंध, ध्वनियों, वस्त्रों एवं वस्तुओं के पोत (टेक्सचर) एवं स्वाद इत्यादि के प्रति अति सुग्राह्य बन जाती हैं अथवा परिस्थितियों या व्यक्तियों से असामान्य आकर्षण या विकर्षण का अनुभव करती हैं, जो वास्तव में उनकी चेतना की परिवर्तित अवस्था का ही प्रकटीकरण है।

कई स्त्रियाँ इन असामान्य अनुभूतियों एवं अनुभवों के कारण भयभीत हो उठती हैं तथा इन्हें मतिभ्रम या किसी मानसिक रोग का लक्षण मान लेती हैं, क्योंकि वे जानती ही नहीं कि वास्तव में हो क्या रहा है। मासिक धर्म की अधिकांश पीड़ा और कष्टानुभूति अवांछित भय एवं तनाव के कारण ही होती है और इसके विकृत अभिव्यक्तिकरण से अवसाद, झुंझलाहट, असहिष्णुता एवं कलह उत्पन्न हो उठते हैं।

जब हम योगाभ्यास द्वारा असन्तुलित शरीर, अन्त:स्रावी ग्रंथियों एवं भावनाओं को सन्तुलित बनाते हैं तो भय एवं तनाव के बादल छँट जाते हैं और हम पूर्ण प्रकाश में इस छद्मवेशी प्राकृतिक घटना के पीछे छुपे हुए आशीष को देख सकते हैं। योग एवं ध्यान का अभ्यास, मासिक धर्म के अनुभव को कष्ट एवं नकारात्मक के धरातल से ऊपर उठा अस्तित्व के आध्यात्मिक आयामों की ऊँचाइयों तक ले जाने का माध्यम है।

कोई भी स्त्री, जो कृत्रिम हॉरमोन्स का सेवन कर रही हो, अथवा रज:स्राव सम्बन्धी गड़बड़ी के निवारण हेतु ऑपरेशन के द्वारा गर्भाशय निकाल देने की नौबत तक आ पड़ी हो, तो भी उसे सलाह दी जाती है कि एक बार अवश्य योगाभ्यास का नियमित कार्यक्रम कुछ महीनों तक अपना कर देखे। जैसे-जैसे तनाव स्तर घटेगा एवं प्राणशक्ति का प्रवाह सुचारु होगा, स्वास्थ्य लाभ त्वरित दृष्टिगोचर होगा। जो स्त्रियाँ नियमित योगाभ्यास करती हैं, उन्होंने पाया है कि रज:स्राव की पीड़ा तो कुछ महीनों में लगभग पूर्णत: समाप्त हो जाती है। वे अपने जीवन में अधिक आराम का अनुभव करती हैं तथा सम्पूर्ण स्वास्थ्य एवं ओज में वृद्धि पाती हैं। इस प्रकार योग, स्त्री के सम्पूर्ण जीवनकाल में घटित होने वाली इस महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया को शुरू होने से रजोनिवृति तक सुगमता से चलाने व स्वस्थ रखने का एकमात्र माध्यम है।

मासिक चक्र की समस्याओं का यौगिक समाधान

अनेक स्त्रियाँ यह प्रश्न पूछती हैं कि क्या रज:स्राव काल के दौरान आसनों का अभ्यास करना निरापद होगा? हालाँकि यह आवश्यक है कि किसी भी समय अत्यधिक जोर पड़ने वाला कार्य न किया जाये, परन्तु इस सामान्य सावधानी को छोड़कर अन्य कोई कारण नहीं है कि आप अपना अभ्यास बन्द कर दें। एक रिपोर्टर ने टिप्पणी की है –

"अधिकतर चिकित्सक अब यह मानते हैं कि मासिक चक्र के दौरान स्त्रियाँ किसी परिश्रम वाली गतिविधि में न केवल भाग ले सकतीं हैं, वरन् वास्तव में उससे लाभान्वित भी हो सकतीं हैं। 1965 में किए गये एक शोध में 65 महिला तैराकों की 138 गैर व्यायामी छात्राओं से तुलना करने पर यह पाया गया कि तैराक महिलाओं को अपेक्षाकृत न्यून मासिक धर्म सम्बन्धी समस्याओं का सामना करना पड़ता है।"

रज:स्राव के दौरान सिर नीचे करने वाले आसन, जैसे – शीर्षासन एवं सर्वांगासन वर्जित है, विशेषत: जब मासिक प्रक्रिया गड़बड़ हो। वज्रासन, शशांकासन, मार्जारि आसन, व्याघ्रासन एवं शवासन में उदर श्वसन करने से पीड़ा एवं ऐंठन कम करने में सहायता मिलती है।

यदि पीड़ा रक्त की अधिक संकुलता के कारण होती है तो वैसा दर्द स्वत: ही रक्तस्राव के साथ कम पड़ जाता है और गर्भाशय के आकुंचन से यह स्राव अधिक तीव्र हो जाता है। इस बात से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मूलबन्ध का अभ्यास इस अवस्था में विशेष लाभकारी होगा। सावधानी यह रहे कि चक्कर या बेहोशी जैसे किसी लक्षण का आभास होते ही अभ्यास तुरन्त बन्द कर दें। प्राथमिक अनार्तव में मूलबन्ध का अभ्यास वर्जित है।

निम्नलिलिखित कार्यक्रम नियमित रूप से करते रहना मासिक चक्र को सुचारु रखने में अत्यन्त सहायक होगा। यदि अत्यधिक रक्तस्राव या असहनीय वेदना न हो तो इस अभ्यास क्रम को रज:स्राव काल में भी किया जा सकता है।

1. *सूर्य नमस्कार* – इससे प्राणशक्ति का स्तर ऊपर उठेगा तथा स्नायविक अन्त:स्रावी क्रियाओं में सन्तुलन आयेगा। अपनी क्षमतानुसार धीरे-धीरे बढ़ाकर बारह चक्रों तक अभ्यास कीजिये।
2. *आसन* – श्रोणि प्रदेश से ऊर्जा अवरोधों को दूर करने का सबसे प्रभावी उपाय है शक्ति बन्ध समूह के आसन, इसके अलावा वज्रासन समूह से वज्रासन,

उष्ट्रासन, मार्जारि आसन, व्याघ्रासन, शशांकासन, सुप्त वज्रासन, शशांक भुजंगासन। पीछे झुकने वाले आसन, जैसे– भुजंगासन, शलभासन, धनुरासन, चक्रासन, कंधरासन, ग्रीवासन (विशेषत: विलम्बित यौवनारम्भ एवं श्वेत प्रदर के लिए) अन्य अभ्यास– पश्चिमोत्तानासन, मत्स्यासन, अर्द्धमत्स्येन्द्रासन, उत्थानासन, ताड़ासन, पाद हस्तासन, हनुमानासन।

सिर नीचे करके किये जाने वाले आसन करना विशेष लाभदायी है, क्योंकि उनसे प्रजनन अंगों से रक्त का प्रवाह उल्टी दिशा में होता है एवं अवरोधक मलों का निष्कासन होता है, साथ ही पीयूष ग्रंथि पर भी सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। परन्तु इन आसनों को रज:स्राव काल में नहीं करना चाहिए।

3. *प्राणायाम*– नाड़ी शोधन, उज्जायी एवं भ्रामरी प्राणायाम रज:काल के साथ जुड़े सिरदर्द, माइग्रेन तथा तनावपूर्ण परिस्थितियों को दूर करने के लिए प्रभावकारी हैं। प्राणायाम द्वारा अतीन्द्रिय स्तरों तक से तनाव दूर हो जाते हैं तथा मानसिक अस्थिरता शान्त हो जाती है। अंग उतरने एवं गर्भाशय मुखशोथ के लिए नाड़ी-शोधन प्राणायाम की तृतीय अवस्था, जिसमें मूलबन्ध एवं जालन्धर बन्ध का अभ्यास किया जाता है, सर्वाधिक प्रभावकारी है। भस्त्रिका प्राणायाम द्वारा जीवनीशक्ति बढ़ती है एवं विषाक्त तत्त्व साफ होते हैं। इसको अनार्तव एवं कष्टार्तव के लिए अनुशंसित किया जाता है।
4. *मुद्रा एवं बन्ध*– विपरीतकरणी मुद्रा, पाशिनी मुद्रा एवं योग मुद्रा का अभ्यास यहाँ पर उचित होगा। अश्विनी मुद्रा, मूल बन्ध एवं सहजोली मुद्रा द्वारा निचले अंगों में से ऊर्जा उत्पन्न होती है। वे सम्बन्धित तंत्रिकाओं को उत्तेजित करती हैं तथा प्रजनन-निष्कासन प्रणाली के अंगों को सुचारु बनाती है।

   मासिक धर्म के पूर्व के तनाव को कम करने हेतु महामुद्रा एवं महाबेध मुद्रा विशेष लाभकारी हैं, क्योंकि उनसे शरीर में प्राणशक्ति का संचार एवं वितरण नियंत्रित होता है तथा शारीरिक-मानसिक और भावनात्मक स्थिरता आती है।
5. *षट्क्रिया*– जल नेति का अभ्यास प्रतिदिन करना चाहिए। कुंजल एवं लघु शंखप्रक्षालन हफ्ते में दो बार या जैसी आवश्यकता हो। याद रखिये, कब्ज से श्रोणि प्रदेश में संकुलता बढ़ती है, जिससे दर्द एवं ऐंठन बदतर

हो जाते हैं। इस प्रदेश के अंगों से सम्बन्धित रोगों में कब्ज को दूर करना इलाज का आवश्यक एवं प्राथमिक अवयव है।

6. *शिथिलीकरण*– योग निद्रा एक अति महत्त्वपूर्ण अभ्यास है, विशेषत: मासिक धर्म शुरू होने के पहले बढ़ती हुई तनाव की स्थिति को नियंत्रित करने हेतु। इससे मानसिक तनाव, निराशा, चिड़चिड़ापन एवं भारीपन दूर होते हैं। यदि सम्पूर्ण अभ्यास के लिए पर्याप्त समय न हो तो शवासन में लेटकर पेट में श्वास गिनने का अभ्यास किया जा सकता है।
7. *ध्यान*– सिद्धयोनि आसन में बैठकर ध्यान का कोई भी अभ्यास, यथा– अजपाजप, अन्तर्मौन, चिदाकाश धारणा, मंत्र जाप या नाद योग।
8. *भोजन*– सम्पूर्ण सन्तुलित शाकाहारी भोजन सभी महिलाओं के लिए उपयुक्त होता है। आधुनिक शोधों में यह पाया गया है कि मांसाहारी भोजन करने वाली स्त्रियों के निम्न अंगों में रक्त संकुलता से रज:स्राव की मात्रा एवं अवधि बढ़ जाती है। मासिक धर्म से पूर्व के दिनों में उपवास या अत्यन्त हल्का भोजन, जिनमें मसाले, तेल, मांस एवं दूध न्यूनतम मात्रा में हों, लेने की विशेष अनुशंसा की जाती है। कई स्त्रियों का अनुभव है कि उनकी पीड़ा और अतिस्राव की मात्रा में पचास प्रतिशत से भी अधिक लाभ मात्र भोजन में परिवर्तन कर देने से महसूस हुआ है। भोजन हल्का, शुद्ध, सात्त्विक, शाकाहारी हो, जिसमें फल, अनाज एवं हल्की उबाली हुई सब्जियाँ प्रचुरता में होनी चाहिए। मासिक धर्म के पूर्व दिनों में यह अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। वैकल्पिक तौर पर रज:स्राव के एक दिन पूर्व एवं शुरू के एक या दो दिनों में मात्र फलाहार लें। चाय, कॉफी, उत्तेजक मादक पदार्थ, अप्राकृतिक रूप से प्रसंस्कृत भोज्य पदार्थ और मांस-मछली बिल्कुल बन्द कर दें।

अन्य सुझाव

- पर्याप्त मात्रा में खुली हवा का सेवन, कसरत तथा साथ ही पर्याप्त आराम मासिक धर्म को पुनर्सन्तुलित बनाने हेतु आवश्यक है।
- शरीर एवं पैरों को यथासम्भव ठण्ढ से बचाये रखें। निम्न उदर पर सेंक करने से दर्द में राहत मिलती है।

श्वेत प्रदर तथा योनि संक्रमण

ल्यूकोरिया अथवा श्वेत प्रदर स्त्रियों की एक बहुत आम समस्या है। अक्सर लम्बे समय तक इस समस्या को महिलाएँ जानकारी के अभाव में या शर्म के कारण छिपाती हैं, अथवा इस पर ध्यान नहीं देतीं। इस सरलता से ठीक हो जाने वाले रोग से डरने या चिन्तित होने की कोई आवश्यकता नहीं है। यही बात सरलता से उपचारित हो जाने वाले अन्य योनि संक्रमणों पर भी लागू होती है। ये सभी रोग निम्न श्रोणि प्रदेश में जीवनी शक्ति के क्रमशः गिरते स्तर तथा बढ़ते हुए असन्तुलन के कारण उत्पन्न होते हैं। जिसके फलस्वरूप रासायनिक अन्तुलन होते हैं तथा संक्रामक रोग उत्पन्न होने लगते हैं।

सामान्य योनि स्राव

अनेक स्त्रियाँ यह भ्रान्ति पाल लेती हैं कि उन्हें ल्यूकोरिया हुआ है, जबकि वास्तव में ऐसी कोई स्थिति नहीं होती। यह अवश्य जान लेना चाहिए कि थोड़ा-बहुत योनि स्राव सामान्य या स्वस्थ अवस्था का द्योतक है। योनि की भीतरी त्वचा में छोटी-छोटी ग्रंथियाँ होती हैं, जिनका कार्य लगातार एक नमी को बनाए रखना होता है ताकि चिकनापन रहे तथा सफाई होती रहे। यह स्रवण योनि के भीतर की नाजुक त्वचा की रक्षा का कार्य करता है ताकि वह सूखे नहीं तथा अवांछित सूक्ष्म कीटाणु नष्ट होते रहें। आँखों की तरह योनि भी सफाई के मामले में स्वावलम्बी है। जिस प्रकार आँखें अश्रुग्रंथियों द्वारा स्रावित नमी से धुलती रहती हैं, उसी प्रकार योनि भी आंतरिक स्रावों के सतत् प्रवाह के कारण सफाई बनाए रखती है।

सामान्य योनि स्राव रंग-विहीन या हल्की सफेदी लिए तथा थोड़ी चिकनाई लिए होता है। मासिक चक्र के अलग-अलग कालों में इसके गुण बदलते रहते हैं, कभी-कभी यह एकदम पानी की तरह पतला हो जाता है और कभी-कभी बहुत सफेद, गाढ़ा एवं चिपचिपा। स्राव की मात्रा भी समय-समय पर बदलती रहती है। एक स्त्री से दूसरी स्त्री में स्राव के गुण और मात्रा भिन्न हो सकते हैं तथा एक ही स्त्री में उम्र के साथ-साथ बदलते भी रहते हैं। कभी-कभी छोटी उम्र में ही, मासिक धर्म शुरू होने के कई साल पहले से यह स्राव शुरू हो जाता है। यदि योनि स्वस्थ है तो इस स्राव में कोई दुर्गन्ध नहीं होगी, न ही योनि के भीतर अथवा बाहर कोई लाली या सूजन होगी। यदि ये लक्षण दृष्टिगोचर हों तो रुग्णता का उचित इलाज आवश्यक है।

श्वेत प्रदर (ल्यूकोरिया)

सामान्य स्राव जो रक्षा करते हैं, और योनि संक्रमण जो रुग्णता के द्योतक हैं, इन दोनों ध्रुवों के बीच एक अन्य अवस्था पायी जाती है, जिसमें न तो कोई सूजन, न ही कोई जलन या पीड़ा होती है, परन्तु स्राव अत्यधिक मात्रा में होना शुरू हो जाता है। इसे ही ल्यूकोरिया अथवा श्वेत प्रदर कहते हैं। सामान्य स्राव का अत्यधिक मात्रा में होना ही श्वेत प्रदर कहलाता है, जिसकी मात्रा अलग-अलग स्त्रियों में भिन्न हो सकती है। जो मात्रा एक स्त्री के लिए सामान्य है वही दूसरी के लिए अत्यधिक मान ली जाती है।

सामान्य स्वस्थ अवस्था में स्राव अन्दर पहने जाने वाले वस्त्रों पर सफेद या पीलापन लिए हुए धब्बे छोड़ सकते हैं। सामान्यत: वे जल्दी ही सूख जाते हैं तथा कष्टहीन होते हैं, परन्तु यदि वस्त्रों पर अधिक धब्बे हों या लगातार गीलेपन का अनुभव बना रहे अथवा आपको दिन में कई बार वस्त्र बदलने पड़ें तो अवश्य ही स्राव अत्यधिक है। कई महिलाओं को लगातार सेनेटरी नैपकिन पहने रहना पड़ता है।

साथ में अन्य लक्षण, जैसे कि कमर दर्द, जाँघों में कड़ापन, खिंचाव या पेट में भारीपन इत्यादि भी प्रकट हो सकते हैं, परन्तु इनकी तीव्रता कम होती है। संक्रमण यदि हो तो अक्सर बार-बार पेशाब लगती है, परन्तु ल्यूकोरिया में पेशाब लगनी कम हो जाती है। ल्यूकोरिया का स्राव गंधहीन एवं साफ होता है, परन्तु संक्रमण में तीव्र दुर्गन्धयुक्त, गाढ़ा स्राव होता है जिसके साथ

पीड़ा, जलन, खुजली, बुखार तथा योनि के आसपास लाली और सूजन दिखाई पड़ती है। परन्तु ये सभी लक्षण ल्यूकोरिया में नहीं होते।

अवक्षेपक कारण

श्वेत प्रदर का प्राथमिक लक्षण गर्भाशय मुख पर होने वाले छाले हो सकता है। यह अक्सर प्रौढ़ महिलाओं में पाया जाता है और ऐसा माना जाता है कि 15 से 40 वर्ष की लगभग 95 प्रतिशत महिलाओं में कभी-न-कभी ये छाले होते ही हैं। अत: हर श्वेत प्रदर के रोगी को चिकित्सक द्वारा जाँच करवाना आवश्यक हो जाता है। आमतौर पर विशेषज्ञ पूरे श्रोणि प्रदेश की जाँच करते हैं तथा द्रव की भी जाँच-पड़ताल करते हैं। द्रव की सूक्ष्मदर्शी यंत्र से जाँच करना इसीलिए आवश्यक है कि कभी-कभार कैंसर की शुरुआत भी इसी छाले से हो सकती है।

परन्तु अधिकतर महिलाओं में श्वेद प्रदर इस बात की सूचना है कि हमारा शरीर निम्न ऊर्जा स्तर से गुजर रहा है, तथा नींद की कमी, गड़बड़ भोजन, एवं स्नायविक तनावों के कारण क्षमता का ह्रास हो रहा है। जिन स्त्रियों को मधुमेह अथवा क्षय रोग हो वे इस समस्या से अधिक परेशान रहती हैं। अत्यधिक स्राव का अन्य प्रमुख कारण अन्त:स्रावी असन्तुलन है। जो स्त्रियाँ गर्भ निरोधक गोलियों का या गर्भाशय में लूप इत्यादि का प्रयोग कर रही हैं उनमें रोग की संभावनाएँ बढ़ जाती हैं। मासिक धर्म के ठीक पहले या बाद में, गर्भावस्था के दौरान अथवा रजोनिवृति के समय भी यह समस्या परेशान कर सकती है, क्योंकि इन अवस्थाओं में हॉरमोन्स का परिवर्तन प्राकृतिक रूप से होता ही है।

भोजन, श्वेत प्रदर के प्रमुख कारणों में से एक है। अधिक मात्रा में लिए गये दूध, मैदा तथा पॉलिश किया हुआ चावल जैसे पदार्थ अत्यधिक म्यूकस बनाते हैं, जिनको शरीर स्रावों के माध्यम से बाहर फेंकता है। मिर्च-मसालेदार भोजन, शक्कर या मिठाइयाँ अधिक मात्रा में लिए जाने पर इस समस्या में योगदान देते हैं। जो भोजन परिष्कृत शर्करा, कार्बोहाइड्रेट, डिब्बा बन्द भोजन और अप्राकृतिक पदार्थों से युक्त हैं, वे योनि में संक्रमण की आदर्श अवस्थाएँ प्रस्तुत कर देते हैं, क्योंकि इनके सेवन से अम्लीयता बढ़ती है और योनि के भीतर अम्लीयता बढ़ने पर कीटाणुओं की संख्या में गुणात्मक वृद्धि होना शुरू हो जाती है। अनेक स्त्रियों ने यह पाया है कि मात्र

भोजन को सन्तुलित और संयत कर लेने से योनि स्राव में आश्यर्यजनक कमी आ जाती है।

ल्यूकोरिया की शिकायत अक्सर कब्जियत के साथ जुड़ी रहती है, जिसका सीधा सम्बन्ध असन्तुलित भोजन, तनाव और परेशानी के साथ होना सर्वविदित है। भावनात्मक कारण अक्सर अचेतन के भीतर दबे हुए रहते हैं तथा अधिकतर महिलाएँ खुले मन से यह स्वीकार नहीं कर पातीं कि कहीं न कहीं वे अपनी भावनाओं को दमित कर रही हैं, तथा अपने भौतिक स्वरूप के प्रति नकारात्मक विचार पाले हुए हैं। विशेषत: जब यौनांगों की बात आती है तो सामाजिक मान्यताओं के कारण इन विचारों को स्वीकारना और भी कठिन हो जाता है। अवचेतन में छिपे इस प्रकार के द्वंद्व, अपराध-बोध या संदेह शारीरिक रूप से ल्यूकोरिया के रूप में प्रकट होते हैं, जो प्रतीकात्मक रूप से आत्म-शुद्धि का या प्रक्षालन का प्रयास है।

संक्रामक रोग

अधिक मात्रा में होने वाले योनि स्राव के कारण उस स्थान में लगातार नमी बनी रहती है, जिसमें कीटाणुओं की वृद्धि बहुत आसानी से हो सकती है। सामान्य रूप से योनि के भीतर जो कीटाणु रहते हैं, वे मित्रवत् कार्य करते हैं तथा हानिकारक कीटाणुओं को पनपने नहीं देते। परन्तु जब यह सामान्य सन्तुलन बिगड़ जाता है तो हानिकारक कीटाणु पनपने लगते हैं। साथ ही स्त्री-अंगों की बनावट ही कुछ ऐसी होती है कि बाहर से कीटाणु सरलता से भीतर चढ़ सकते हैं और नाना किस्म के रोग उत्पन्न कर सकते हैं। संक्रमण कई बार दीर्घकाल तक हल्के-हल्के सुलगते रहते हैं तथा अन्तत: बांझपन का कारण साबित होते हैं।

संक्रमण होने पर अधिक स्राव के साथ-साथ खुजली, जलन, योनि के चारों ओर सूजन, लाली तथा बार-बार पेशाब लगना जैसे लक्षण भी प्रकट हो जाते हैं। संक्रमण का पहला लक्षण कमर दर्द, जाँघों की मांसपेशियों का खिंचाव, ग्रंथि में सूजन तथा पेट के निचले हिस्से में दर्द इत्यादि का होना है।

संक्रमण की प्रमुख पहचान स्राव का गुण है। इसका रंग सफेद, पीला या खून की बूँदें लिए हुए गुलाबी या पीब के सदृश भी हो सकता है। कभी-कभी योनि की भीतरी त्वचा सूज कर लाल पड़ जाती है तथा पीब की गाढ़ी तह जमा हो जाती है। किसी-किसी स्त्री में स्राव सूखा भी रह सकता है।

एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक ये संक्रमण, चाहे मूत्रमार्ग के हों या योनि के, अक्सर संभोग के माध्यम से फैलते हैं। अधिक बार या असम्पूर्ण संभोग से प्राय: मानसिक एवं भावनात्मक तनाव, ऊब अथवा वितृष्णा उत्पन्न होती है। यदि पुरुष अपने साथी की इच्छाओं और भावनाओं का ख्याल किये बिना एक स्वार्थपूर्ण रवैये को अपनाकर सिर्फ आत्मसन्तुष्टि करे तो स्त्री पर नकारात्मक प्रभाव पड़ेगा ही। इससे निम्न प्रदेशों से ऊर्जा की मात्रा घटना शुरू हो जाती है जिससे सम्बन्धित अंग (योनि व मूत्र मार्ग) संक्रमण के प्रति अपनी रोगनिरोधक क्षमता खो देते हैं। *'गोनोरिया'* तथा *'सिफलिस'* जैसे खतरनाक यौन रोग भी इस प्रकार से फैलते हैं। इन रोगों की अपनी एक विशिष्टता है। इनका उपचार सामान्य रूप से वर्णित रोगों से भिन्न है। अत: इनका विभेद करना आवश्यक है। ये बहुत संक्रामक रोग हैं, जिनकी यौगिक चिकित्सा से पूर्व औषधीय चिकित्सा आवश्यक है।

संक्रमण के सबसे प्रमुख कारण हैं–दो प्रकार के कीटाणु, जिन्हें *'मोनीलिया'* तथा *'ट्राइकोमोनास'* कहते हैं। दोनों ही स्वस्थ शरीर में सामान्य रूप से बिना रोग उत्पन्न किये मौजूद रहते हैं, परन्तु किसी कारणवश जब इनकी संख्या असामान्य रूप से बढ़ने लगती है तब रोग उत्पन्न हो जाते हैं। 'मोनीलिया' एक किस्म का फफूंद होता है जिसके संक्रमण से दही के समान गाढ़ा एवं सफेद स्राव होता है। इसकी गंध सड़ी हुई ब्रेड के समान होती है और इसी के कारण स्त्री को खाने की गंध से ही मितली होने लगती है। इस संक्रमण से पूरे योनि प्रदेश में बहुत जलन एवं खुजली के लक्षण अनुभव होते हैं। 'ट्राइकोमोनास' नामक कीटाणु स्त्री और पुरुष दोनों के ही शरीर में रह सकता है। इसके संक्रमण से गाढ़ा, फेनदार, हरा-पीला या भूरा स्राव बनाता है, जिसकी दुर्गन्ध बहुत तीव्र होती है। घर्षण के कारण, संभोग के उपरान्त इसके लक्षण बढ़ जाते हैं। यह संक्रमण एक से दूसरे व्यक्ति तक गीले तौलिये के माध्यम से या एक-दूसरे के गंदे वस्त्रों के पहनने से भी फैल सकता है। यदि पत्नी को यह रोग है तो पति को भी यह संक्रमण अवश्य होगा, लक्षण चाहे भले ही दिखलाई न दें, और दोनों का इलाज एक साथ करना अति आवश्यक है।

ये दोनों संक्रमण बहुत आम हैं। ऐसी शायद ही कोई स्त्री हो जिसने अपने जीवन में कभी-न-कभी इस समस्या का अनुभव नहीं किया हो। अत: इन संक्रमणों को खतरनाक यौन रोगों की श्रेणी में रखना सर्वथा अनुचित

होगा तथा इनके साथ वैसी शर्म या ग्लानि जैसी कोई भावना भी नहीं लानी चाहिए। स्त्री को यौन समस्याओं पर जो गुप्तता तथा अंधविश्वास का पर्दा पड़ा है उसके कारण वे चिकित्सकीय सहायता लेने में भी हिचकिचाती हैं, जिसके बड़े दुष्परिणाम हो सकते हैं। समय पर चिकित्सा हो जाने पर बात यूँ ही टल जाती है, परन्तु लापरवाही से जटिलताएँ बढ़ती जाती हैं तथा अन्ततः अंग नष्ट होकर बांझपन की अवस्था तक पहुँच जाते हैं। यदि गर्भावस्था में इन संक्रमणों के प्रति लापरवाही बरती गई तो शिशु पर भी दुष्प्रभाव पड़ सकता है। सक्षम चिकित्सकीय सहायता तथा स्वास्थ्यवर्द्धक योगाभ्यास के उचित प्रयोग से तुरन्त लाभ होगा तथा हम दीर्घकाल तक नीरोग बने रह सकेंगे।

किसी भी रोगग्रस्त अंग के स्वास्थ्य लाभ एवं पुनरुज्जीवन हेतु उस अंग को उचित विश्राम मिलना चिकित्सा का मूलभूत सिद्धान्त है। अतः यौनांगों से सम्बन्धित सभी रोगों की योग-चिकित्सा का पहला महत्त्वपूर्ण कदम विश्राम है। कुछ समय तक संभोग से दूर रहना चाहिए, क्योंकि इससे लगातार उत्तेजना व घर्षण दूर हो जाता है, यह अंगों को विश्राम तो देता ही है, साथ-ही-साथ संक्रमण को फैलने से भी रोकता है। शारीरिक विश्राम के साथ नियमित योगाभ्यास से मन और व्यक्तित्व भी शान्त एवं सन्तुलित हो जाता है तथा जैसे ही स्वास्थ्य लाभ की प्रक्रिया शुरू होती है, पीड़ा, जलन इत्यादि लक्षण धीरे-धीरे दूर हो जाते हैं। जब एक बार लक्षण दूर हो जाते हैं व सामान्य स्वास्थ्य की पुनः प्राप्ति हो जाती है तब यौन सम्बन्ध पुनः प्रारम्भ किये जा सकते हैं। जो अब अधिक स्वास्थ्यपूर्ण व संतोषजनक होंगे।

सन्तुलन की पुनर्प्राप्ति

ल्यूकोरिया तथा यौन संक्रमणों का सबसे प्रमुख कारण है हॉर्मोन्स का असन्तुलन एवं निम्नांगों में जीवनी शक्ति का ह्रास। स्त्रियों में ये दोनों कारक इतने निकट का सम्बन्ध रखते हैं कि दोनों को अलग-अलग कहने का अर्थ एक बात को ही दो तरीकों से कहना है। जब यह कथन सत्य है तो योगाभ्यास द्वारा अत्यधिक योनि स्राव की समस्या का स्थाई उपचार अवश्यंभावी है। संक्रमण की अवस्था में निम्नलिखित योगाभ्यास क्रम को ओषधियों के साथ अपनाना चाहिए ताकि ओषधियाँ सतही संक्रमण की रोकथाम कर सकें तथा योगाभ्यास रोग की जड़ में छिपे मूल असन्तुलनों को दूर कर सकें। जब लक्षण बहुत तीव्र अथवा पीड़ादायी हों तो शारीरिक गतिविधियाँ तथा आसनों

का अभ्यास बन्द कर दें। अतिपाती अवस्था में कठिन या गतिशील आसन संक्रमण को फैला सकते हैं।

1. *आसन*– सूर्य नमस्कार, वज्रासन, शशांकासन, मर्जारि आसन, उष्ट्रासन, शक्ति बन्ध समूह, भुजंगासन, शलभासन, धनुरासन, चक्रासन, पश्चिमोत्तानासन, विपरीतकरणी मुद्रा।
2. *प्राणायाम*– नाड़ी शोधन, भस्त्रिका तथा उज्जायी प्राणायाम प्राण शक्ति को बढ़ाते हैं तथा मन और भावनाओं को सन्तुलित करते हैं।
3. *बन्ध*– मूलबन्ध एवं उड्डियान बन्ध ल्यूकोरिया के लिए विशेष सहायक हैं।
4. *ध्यान/शिथिलीकरण*– योग निद्रा और अन्तर्मौन के अभ्यास तनाव के चक्रव्यूह को तोड़ देते हैं जो अन्त:स्रावी ग्रंथियों को असन्तुलित करते हैं तथा प्राण शक्ति का ह्रास करते हैं।

अन्य सुझाव

- ल्यूकोरिया के सफल इलाज हेतु व्यक्तिगत साफ-सफाई का कठोरता से पालन आवश्यक है। इससे न केवल संक्रमण की रोकथाम होती है, वरन् मन को भी अच्छा लगता है। गुदाद्वार एवं योनि के प्रदेश को नियमित धोकर पोछ लें और सूखा रखें। अधिकांश योनि संक्रमण गुदा द्वार से मल के साथ निकलने वाले कीटाणुओं के फैलने से होते हैं। अत: गुदाद्वार की सफाई हमेशा सामने से पीछे की ओर करनी चाहिए। मलत्याग के लिए बैठते समय पारंपरिक उकड़ू अवस्था न केवल आरामदायक है, वरन् स्वास्थ्यप्रद भी है, क्योंकि इसमें साफ-सफाई बेहतर तरीके से की जा सकती है।
- नायलोन के जंघिया या चुस्त अधोवस्त्र नहीं पहनने चाहिए। नायलोन गर्मी और नमी को रोक कर रखता है, जिससे खतरनाक कीटाणुओं की वृद्धि होने लगती है। हमेशा ढीले हवादार सूती कपड़े भीतर में पहनने चाहिए और यदि स्राव अधिक न हो तो इन्हें न ही पहनें तो बेहतर है। अधिकांश नुकसानदायक कीटाणु मात्र हवा के सम्पर्क में आने और नमी के अभाव में खुद-ब-खुद नष्ट हो जाते हैं।
- योनि के भीतरी भाग की धुलाई, जिसे *'डूशिंग'* कहते हैं, यह भी संक्रमण की रोकथाम में सहायक होती है। एक स्वस्थ योनि की रासायनिक अवस्था

कुछ अम्लीय होती है। यह अम्लीयता कीटाणुओं को बढ़ने नहीं देती। मासिक धर्म के समय यह अम्लीयता घट जाती है तथा स्त्रियाँ संक्रमण के प्रति प्रवण हो जाती हैं। इस समय में हल्के अम्लीय द्रव से योनि की धुलाई पुन: सामान्य अवस्था ला देगी। उबाल कर ठण्ढा किया हुए साफ, आधा लीटर गुनगुने पानी में एक चम्मच खाने का सोडा डालकर तैयार किया हुआ पानी इस कार्य के लिए उपयुक्त होता है। अन्यथा एक लीटर पानी में एक चम्मच सिरका डाल कर भी घोल बनाया जा सकता है। कई महिलाओं द्वारा पूरे क्षेत्र में दही लगाकर सफाई करने से भी लाभ होता देखा गया है। यदि संक्रमण की शुरुआत होते ही इसका प्रयोग कर लिया जाए, जब लक्षण बिल्कुल प्रारंम्भिक हों तब यह प्रक्रिया सबसे प्रभावशाली होती है ।

- अपने शरीर के बारे में सही जानकारी तथा उसकी क्रियाओं के प्रति संवेदशील जागरूकता अनावश्यक भय तथा ग्लानि का विपरीत अस्त्र है, तथा प्रत्येक महिला के आत्मविश्वास को बढ़ाने के लिए सहायक भी। प्राकृतिक क्रमों तथा परिवर्तनों की सही जानकारी किसी भी शारीरिक एवं मानसिक समस्या के प्रारम्भिक पहचान का आधार है। नियमित आत्मनिरीक्षण और योगाभ्यास इसी समझ को बढ़ाता है।

पुरुष प्रजनन तंत्र की समस्याएँ

पुरुष शरीर में प्रजनन तंत्र एवं उत्सर्जन तंत्र संरचनात्मक रूप से अधिक निकटता से सम्बन्धित हैं, क्योंकि मूत्र एवं वीर्य निष्कासन हेतु प्रकृति ने एक ही मार्ग बनाया है। मूत्र, जो गुर्दों में बनकर *मूत्रवाहिनियों* से होता हुआ *मूत्राशय* तक पहुँचता है; वीर्य जो अण्डकोशों में शुक्राणुओं के रूप में निर्मित हो *शुक्राशय* तक पहुँचता है, तत्पश्चात् दोनों मार्ग मिलकर उत्सर्जन हेतु एक ही *मूत्रमार्ग नलिका* का प्रयोग करते हैं।

वीर्य की भूमिका

इस बात को स्पष्ट करना इसीलिए आवश्यक है कि पुरुषों की अपनी शारीरिक क्रियाओं की स्वाभाविकता के प्रति अनभिज्ञता या पूर्वाग्रहयुक्त जानकारी ही अनेक मनोवैज्ञानिक कुंठाओं एवं विकृतियों की जननी है।

पुरुषों में वीर्य का विसर्जन दो प्रमुख भूमिकाएँ निभाता है। दोनों एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं तथा इन्हें भ्रमपूर्वक जोड़ना नहीं चाहिए। दोनों ही प्राकृतिक एवं पूर्णत: स्वाभाविक हैं तथा बराबर का महत्त्व रखती हैं। प्रथम, वीर्योत्सर्जन स्त्री शरीर के भीतर शिशु निर्माण में योगदान करने हेतु आवश्यक है। यह वीर्य की प्रजनन सम्बन्धी भूमिका है।

दूसरी एवं अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका है वीर्योत्सर्जन द्वारा अवचेतन में दमित इच्छाओं एवं तनावों का उन्मुक्तिकरण। शिशु जन्म हेतु वीर्योत्सर्जन की आवश्यकता तो कभी-कभी ही पड़ती है तथा यह व्यक्तिगत निर्णयों पर निर्भर करती है। परन्तु भावनात्मक दबावों का वीर्योत्सर्जन के माध्यम से उन्मुक्तीकरण तो अधिकतर पुरुषों के लिए नियमित, सामान्य एवं आवश्यक

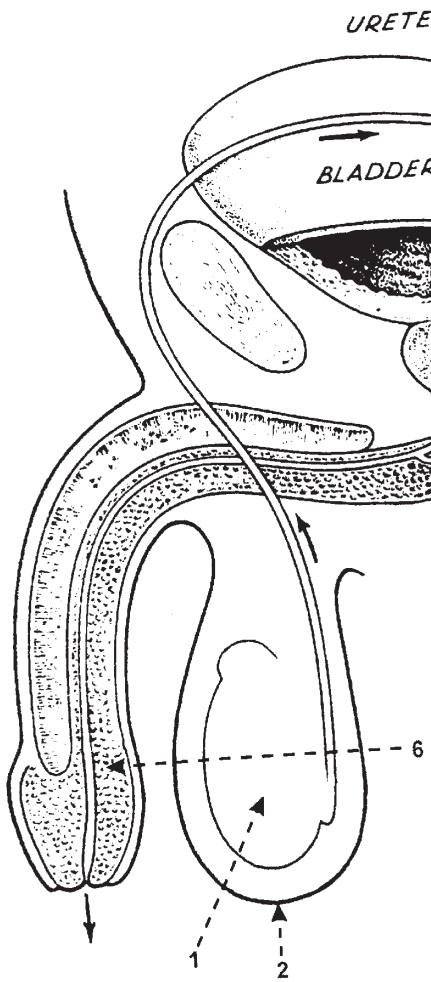

पुरुष प्रजनन प्रणाली

1. अण्डकोष
2. अण्डकोष थैली
3. प्रोस्ट्रेट गन्थि
4. शुक्राशय
5. शुक्रवाहिनी नलिका
6. लिंग मांसपेशी

प्रक्रिया है। चेतन अवस्था में तो यह प्रक्रिया मैथुन द्वारा सम्पन्न होती है, परन्तु अवचेतन या निद्रा की अवस्था में यह अपने आप हो जाती है, जिसे 'स्वप्नदोष' की संज्ञा दी जाती है।

सामान्य कितना है?

इस तथ्य को लेकर अनेक भ्रांतियाँ व्याप्त हैं कि लैंगिक क्रियाशीलता की सामान्य सीमा क्या है। कब इसे अत्यधिक, सामान्य या अल्प कहना चाहिए। कुछ लोगों का ऐसा विश्वास होता है कि वीर्यपतन किसी भी अवस्था में, जागते या सोते में, असामान्य है तथा शरीर का बहुत नुकसान करता है। अन्य लोगों की धारणा होती है कि लैंगिक क्षमता की शक्ति प्रदर्शित करना आवश्यक है तथा वीर्य का प्रचुर उत्सर्जन न केवल स्वस्थ, वरन् प्रशंसनीय भी है।

ये दोनों ही विचारधाराएँ अतिवादी हैं जो एक भ्रमपूर्ण परिस्थिति को जन्म देती हैं, जिसके कारण दुनियाभर में अनेक कुंठाएँ, मनोविकृतियाँ एवं मनोभावनात्मक उलझनें व्याप्त हैं। यह एक सत्य है कि अनियंत्रित, अत्यधिक एवं लम्बे समय तक होने वाला वीर्यक्षय, आगे चलकर स्वास्थ्य को हानि पहुँचाता है एवं जीवनी ऊर्जा को कम कर देता है। परन्तु यह भी सत्य है कि स्वप्नदोष के कारण अपराध-भाव को धारण करना या जबर्दस्ती कामभावों को दमित करना भी अनेक शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक रोगों का कारण बनता है। वास्तविकता इन दोनों अतिवादी दृष्टिकोणों के बीच में कहीं पर है।

दरअसल यह ठीक-ठीक निर्धारित कर पाना कि यथातथ्य कितनी बार वीर्योत्सर्जन एक पुरुष के लिए उचित होगा – यह तो उम्र, मानसिकता, वैवाहिक अवस्था, भावनात्मक परिस्थिति, मौसम तथा भोजन जैसे अनेक कारकों पर निर्भर करता है। परन्तु मोटे तौर पर महीने में दो बार स्वप्न दोष अवश्यत: एक सामान्य पुरुष के लिए स्वस्थ माना जा सकता है जो विवाहित नहीं है तथा हस्तमैथुन नहीं करता।

भावनाओं की भूमिका

भावनात्मक प्रक्रियाओं एवं लैंगिक प्रक्रियाओं की क्रियाविधि में अन्तर्सम्बन्ध स्पष्ट कर देना आवश्यक है। मानसिक स्तर पर हमारी भावनाएँ, कामनाएँ

एवं कल्पनाएँ उत्पन्न तो होती हैं, परन्तु उनका प्रभाव हमारे शारीरिक अंगों की क्रियाशीलता पर निकटता से परावर्तित होते देखा जा सकता है।

भावनाएँ हमारे मस्तिष्क में *लिम्बिक तन्त्र पीयूष ग्रंथि* की क्रियाशीलता पर प्रभाव डालती हैं। इसके प्रभाव से शीर्ष ग्रंथि के हॉरमोन्स से दो युगपत् घटनाएँ घटती हैं। प्रथम तो अंडकोषों में शुक्राणु निर्माण शुरू होता है, दूसरी ओर शारीरिक अंगों द्वारा उस मानसिक इच्छा की पूर्ति हेतु आवश्यक अभिव्यक्तिकरण शुरू होता है। यही अभिव्यक्तिकरण वीर्योत्सर्जन के रूप में परिणत होता है।

अत: वीर्योत्सर्जन की माँग प्राथमिक तौर पर मन में उत्पन्न होती है तथा उत्पादन अन्तिम परिणाम के रूप में होता है। इस परिप्रेक्ष्य में वीर्य भावनात्मक चयापचय का मात्र एक अपशिष्ट पदार्थ है, जो स्खलन की क्रिया द्वारा उत्सर्जित हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार यूरिया, जो प्रोटीन चयापचय का अपशिष्ट पदार्थ है, नियमित रूप से मूत्र द्वारा उत्सर्जित होता रहता है।

अति-वीर्यक्षय

यदि भावनाएँ अत्यधिक उद्वेलित हों या अनियंत्रित हों तो वीर्य का उत्पादन एवं स्खलन स्वचालित रूप से अत्यधिक हो जायेगा, वैसे ही जैसे अत्यधिक प्रोटीन युक्त आहार से मूत्र में यूरिया का उत्सर्जन बढ़ जाता है। अत: अति वीर्यक्षय एक अनियंत्रित मशीनी प्रक्रिया की तरह स्वत: होना स्वाभाविक है। यह प्रकृति का नियम है कि यदि शरीर में कहीं भी किसी भी प्रकार का मल पदार्थ सफाई के अभाव में जमा होने लगता है तो बीमारी का होना स्वाभाविक है। सम्प्रति कभी-कभी स्वप्नदोष होना पुरुषों के लिए सामान्य एवं प्राकृतिक घटना मानी जाती है तथा इसके प्रति अपराध-भाव या परेशानी वाली कोई बात नहीं होनी चाहिए।

परन्तु यदि भावनात्मक चयापचय दीर्घकाल अनियंत्रित तथा विकृत बना रहे तो उसके फलस्वरूप होने वाले अत्यधिक वीर्यक्षय से शारीरिक चयापचय पर नकारात्मक दबाव पड़ेगा, जिससे आगे चलकर जीवनी शक्ति का ह्रास, कमजोरी, प्रतिरोधन क्षमता में कमी, शारीरिक विघटन की प्रक्रिया में वृद्धि तथा इनसे जुड़ी अनेक छोटी-बड़ी समस्याएँ शारीरिक व मानसिक स्तरों पर घेर लेती हैं।

अत्यधिक वीर्यक्षय हानिकारक क्यों है

वीर्यद्रव, जिसके परमाणुओं में कूट-कूट कर शक्ति भरी होती है, का अधिक मात्रा में उत्पादन शारीरिक-चयापचय पर तो अतिरिक्त ऊर्जा भार ही डालेगा। एक स्खलन में उत्सर्जित वीर्यद्रव में करोड़ों शुक्राणु शरीर से बाहर निकल जाते हैं। जब शुक्राणुओं की खपत-उत्पादन दर तीव्र हो जाती है तो नई कोशिकाओं के उत्पादन हेतु शरीर को अत्यधिक चयापचयी ऊर्जा व्यय करनी होती है।

यह बात हमारी सामान्य बुद्धि को प्रभावित नहीं करती कि थोड़ी-सी मात्रा में शारीरिक द्रव के उत्सर्जित हो जाने पर शरीर को क्या हानि होती होगी। परन्तु बात सिर्फ भौतिक आयतन की नहीं है, बल्कि क्रियात्मक ऊर्जा की भी है। प्रत्येक शुक्राणु में इतनी ऊर्जा भरी होती है कि वह अपनी लम्बाई से 3000 गुना दूरी तक तैर कर जा सके, अनुपात में यह उतनी ही ऊर्जा होती है जितनी एक 6 फुट लम्बे व्यक्ति को 1.5 मील तैर कर जाने में लगेगी। अब आप खुद सोचिये कि इतनी चयापचयी ऊर्जा को एक महीन-सी कोशिका में भरकर, प्रकृति ने उसे न केवल दूरी तय करने, वरन् एक पूर्णत: नये जीवन का निर्माण करने की शक्ति भी दी है, और ऐसे करोड़ों शुक्राणु एक बार में स्खलित हो जाते हैं। यानी यह ऊर्जा शरीर से हमेशा के लिए नि:सृत हो जाती है।

परन्तु यह ऊर्जा आती कहाँ से है? यह भोजन के पोषक तत्त्वों के माध्यम से ग्रहण की जाती है, पाचन प्रक्रिया के बाद यह पूरे शरीर में प्रवाहित होकर शुक्राणु निर्माण हेतु सम्बन्धित कोशिकाओं द्वारा स्वांगीकृत कर ली जाती है। इस पूरी प्रक्रिया के हर चरण में चयापचयी ऊर्जा का उपयोग तथा व्यय होता है। विशेषत: चर्बीयुक्त एवं प्रोटीनयुक्त पदार्थों के चयापचय में, जिनकी लगातार शुक्राणु निर्माण एवं ऊर्जान्वयन हेतु अधिक मात्रा में आवश्यकता पड़ती है।

हल्के भोजन की अपेक्षा इन पदार्थों से युक्त भारी भोजन को पचाने, अवशोषित एवं स्वांगीकृत करने हेतु पाचन तन्त्र, यकृत, पेन्क्रियाज, हृदय, रक्तवाहिनियों तथा गुर्दों पर सामान्य की अपेक्षा अधिक कार्यभार पड़ता है। इस अतिरिक्त चयापचयी भार के कारण कोशिकाओं एवं ऊत्तकों का जीवन काल घट जाता है, अत: उन्हें जल्दी-जल्दी बदलने की आवश्यकता होती है। इस कोशिकीय परिवर्तन की आवर्द्धित दर के कारण शारीरिक चयापचयी

ऊर्जा का व्यय बढ़ जाता है। चयापचय की दर बढ़ जाती है तथा शरीर का तापमान स्थायी रूप से बढ़ जाता है।

वार्द्धक्य रोग विशेषज्ञ, जो वैज्ञानिक अनुसंधानों के माध्यम से बुढ़ापे एवं ह्रासीय परिवर्तनों के कारणों का पता लगा रहे हैं कि क्यों हमारे शरीर के अंग कमजोर और क्षीण पड़ते जाते हैं, उनकी मान्यता भी यही है कि इन्हीं प्रक्रियाओं के गतिवर्धन के कारण कोशिकीय पुनर्जीवन क्षमता घट जाती है। यही मानव शरीर को क्षीण बनाकर बुढ़ापे व मृत्यु तक ले जाती है।

इसी प्रक्रिया को प्राणिक स्तर पर भी समझा जा सकता है। भावनाएँ एवं कामनाएँ विचार प्रक्रिया को एक दिशा में प्रेरित कर एक मानसिक रूपरेखा का निर्माण कर उसे कल्पना और प्रयत्नों में व्यस्त कर देती हैं जिसमें प्राण शक्ति का बहुत अपव्यय होता है। दूसरी ओर शुक्राणुओं के साथ उत्सर्जित हो जाने वाली प्राणशक्ति भी तो शरीर से ही जाती है। तीसरी बात, हर स्खलन के साथ होने वाली तीव्र स्नायविक अनुभूति में भी बड़ी मात्रा में प्राणशक्ति का क्षय होता है। वह इतना तीव्र है कि कुछ निम्न योनियों के कीट, जैसे, मकड़ी इत्यादि के नर तो संयोग के तुरन्त बाद मर तक जाते हैं। इसीलिए तन्त्र में बिन्दु रक्षा पर बहुत जोर दिया जाता है। वज्र नाड़ी, जो एक प्रमुख प्राणवाहिनी नाड़ी है, वह इस प्रक्रिया से सम्बन्धित रहती है। इस नाड़ी पर नियंत्रण प्राणशक्ति के अधोगमन एवं व्यय को रोक देता है। वज्रोली मुद्रा का यही महत्त्व है।

कुण्डलिनी योग के अनुसार काम ऊर्जा का सम्बन्ध मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान चक्र से रहता है। यदि हम अपनी चेतना को ऊपर के चक्रों की ओर निर्देशित करना चाहते हैं तो प्राण शक्ति को निम्न चक्रों से दिशान्तरित कर ऊर्ध्वगामी बनाना आवश्यक है। परन्तु दिशान्तरण का प्रयास दमनात्मक न होकर रूपान्तरात्मक हो, तभी सफलता की संभावना है।

क्या वीर्यक्षय नियंत्रित किया जा सकता है?

यदि यह स्पष्ट है कि वीर्योत्पादन पूर्व भावनात्मक प्रक्रिया के फलस्वरूप पीयूष ग्रंथि से आई.सी.एस.एच. नामक हॉरमोन एवं अण्डकोष से *टेस्टोस्टीरॉन* नामक हॉरमोन के प्रभाव के कारण होता है, तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि वीर्य निर्माण एवं क्षय भावनात्मक उथल-पुथल का ही अपरिहार्य परिणाम है।

दूसरी बात, मानवीय भावनाओं का अभिव्यक्तिकरण भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना किसी भी अन्य प्राकृतिक प्रक्रिया का तथा उसके फलोत्पादों की निकासी भी शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य को सुरक्षित रखने के लिए समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। परन्तु यदि कोई व्यक्ति भावुक प्रकृति का है और उसका वीर्यक्षय असामान्य रूप से बार-बार होता हो तो वह क्या कर सकता है जिससे उसका स्वास्थ्य एवं जीवनी-ऊर्जा संरक्षित हो सके?

प्रश्न यहाँ पर वीर्यक्षय रोकने का नहीं है, वरन् उसके उत्पादन के मूल कारणों को नियंत्रित करने का है। जब ये 'कारण' नियंत्रित हो जाते हैं तो वीर्य निष्कासन की आवश्यकता घट जाती है, तथा जीवनीशक्ति का संचय स्वत: शुरू हो जाता है। अत: अतिवीर्यक्षय के रोगी की प्रमुख समस्या भावनात्मक है, भौतिक नहीं, और उसका उपचार भी उसी स्तर के नियंत्रण द्वारा संभव होगा। मन की भावना प्रधान वृत्तियों को शान्त करने का समुचित और प्रभावशाली उपाय योग के अभ्यास हैं, जिनमें आसन, प्राणायाम, ध्यान तथा योगनिद्रा इत्यादि आते हैं।

यौगिक क्रियाओं के प्रभाव

भावनाओं के नियंत्रण हेतु यौगिक क्रियाएँ दो प्रकार से सहायक सिद्ध होती हैं। प्रथम तो मस्तिष्क तरंगों, स्नायविक तन्त्र एवं अन्त:स्रावी ग्रंथियों की क्रियाशीलता को सुचारु एवं सन्तुलित बनाकर तथा दूसरी ओर विभिन्न मानसिक एवं भावनात्मक परिस्थितियों के प्रति सजगता का विकास कर। इसी सजगता के विकास क्रम में धीरे-धीरे स्थिरता एवं नियंत्रण अपने आप आने लगते हैं। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया के फलस्वरूप विचार, व्यक्तित्व और अभिव्यक्तिकरण का मूल ढाँचा ही परिवर्तित होने लगता है। हॉरमोन प्रणाली एवं स्नायविक उत्तेजना का सन्तुलन और उसकी प्रतिक्रिया रूप वीर्य निर्माण एवं क्षय का नियंत्रण, सहजता और सुगमता से हो जाते हैं, उनके लिए अलग से प्रयास नहीं करना पड़ता।

वीर्यक्षय को नियंत्रित करने का मूल मंत्र, इस प्रक्रिया को सही छोर से पकड़ना तथा जड़ को ही उखाड़ फेंकना है। अधिकतर पुरुष जो इस प्रक्रिया को दमन एवं कमजोर इच्छाशक्ति के बलप्रयोग द्वारा नियंत्रित करना चाहते हैं तथा इसके भावनात्मक अन्त:स्रावी सम्बन्धों से अनभिज्ञ हैं, वे हाथी की पूँछ को व्यर्थ ही ऐंठने जैसा काम करते हैं। योग ऐसे लोगों के लिए वरदान

स्वरूप है। यह न केवल उनकी समस्याओं का समाधान करता है, वरन् इस पूरे विषय से जुड़ी कुंठा, अपराध-बोध और तनाव को दूर करता है।

सन्तुलित अभिव्यक्तिकरण की ओर

एक सामान्य व्यक्ति को, जो बाह्य जीवन में पारिवारिक या सामाजिक भावनाओं से जुड़ा हुआ है, जो विवाहित जीवन की जिम्मेदारी निभा रहा है, योग का अभ्यास वीर्यक्षय रोकने के उद्देश्य से नहीं करना चाहिए। इससे एक अप्राकृतिक परिस्थिति ही बनेगी, जिससे अनावश्यक तनाव एवं विकृति जन्म लेंगे, साथ ही यह जीवनसाथी के प्रति अनुचित रवैया होगा। सही तरीका तो यह होगा कि व्यक्ति योग का उपयोग एक "मध्यम मार्ग" का अनुसरण करने हेतु करे, जो पूर्ण दमन और अति अभिव्यक्तिकरण के बीच का सन्तुलित रास्ता हो। एक सामान्य जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति के लिए भावनात्मक अभिव्यक्तिकरण एक सत्य है एवं एक जरूरत भी। मानवीय सम्बन्धों, परिवार और सामजिक जीवन का यह एक मूलभूत आधार है।

आध्यात्मिकता का वास्तविक रहस्य मात्र इतना ही है कि व्यक्ति एक आन्तरिक आध्यात्मिक सजगता को सतत् बनाए रखते हुए, बाह्य सांसारिक गतिविधियों में सामान्य तरीके से भाग लेता रहे। बात आन्तरिक सजगता की है, बाह्य जीवन शैली में उठा-पटक करने की नहीं। आवश्यकता है मात्र नियंत्रित अभिव्यक्तिकरण की, जो नियमित योगाभ्यास से स्वत: विकसित होता है।

कुण्डलिनी शक्ति का जागरण

भावनाओं से ऊपर उनके प्रभावों से पूर्णत: निर्लिप्त रहना ही योगियों की उच्च आध्यात्मिक अवस्था का द्योतक है। वे भावनाओं को दमित नहीं करते, वरन् उन्हें कुण्डलिनी योग, क्रिया-योग एवं ध्यान के अभ्यासों द्वारा रूपान्तरित कर देते हैं। मूल प्रवृत्तियों एवं वासनाओं से जुड़ी भावनाओं को परिशोधित कर उन्हें करुणा, दया, सार्वभौमिक प्रेम तथा भक्ति में परिवर्तित करना ही आध्यात्मिक उत्थान की चरम सीमा है। एक व्यक्ति विशेष की अपेक्षा सम्पूर्ण मानवता के प्रति अपने अभिव्यक्तिकरण को दिशान्तरित करने का प्रयास भावनात्मक उथल-पुथल का स्थान शान्ति से आप्लावित कर देता है। इस अवस्था में वीर्य निर्माण एवं क्षय की प्रक्रिया मन्द हो जाती है तथा पूरी ऊर्जा

चेतना को ऊर्ध्वगामी बनाने हेतु ईंधन स्वरूप कार्य करती है। इसी को दूसरे शब्दों में 'कुण्डलिनी शक्ति पर विजय' की संज्ञा दी जाती है, जहाँ भोजन की आवश्यकता अल्प हो जाती है, चयापचय की दर घट जाती है तथा शारीरिक ऊत्तकों का पुनरुज्जीवन शुरू हो जाता है।

अतिवीर्यक्षय तथा स्वप्नदोष का यौगिक समाधान

निम्नलिखित अभ्यास क्रम में आन्तरिक अंगों का शुद्धिकरण महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यदि मानसिक, भावनात्मक तथा प्रजनन सम्बन्धी प्रक्रियाओं को सन्तुलित एवं सुव्यवस्थित बनाना है तथा शारीरिक चयापचय की दर को धीमा करना है तो पाचन तन्त्र, रक्त तथा परिसंचरण तन्त्र एवं मल निष्कासन प्रणाली इत्यादि की समुचित सफाई, शुद्धिकरण एवं क्रियाशीलता का पूर्ण सुचारु ढंग से काम करते रहना अत्यन्त आवश्यक है।

1. *सूर्य नमस्कार*– ठण्ढे पानी में स्नान करने के बाद प्रतिदिन प्रात: 6 से प्रारम्भ कर 12 चक्रों तक सूर्य नमस्कार का अभ्यास करें।
2. *आसन*– पवनमुक्तासन भाग 1 और भाग 2 से शुरुआत करें, फिर वज्रासन, सिद्धासन तथा शक्तिबन्ध समूह के आसनों को जोड़ दें।
   कुछ महीनों के पश्चात् निम्नलिखित आसनों का अभ्यास जोड़ते जायें– गत्यात्मक पादहस्तासन, भुजंगासन, शलभासन, पश्चिमोत्तानासन, सर्वांगासन, अर्द्धपद्म हलासन, उष्ट्रासन, शशांकासन, गोमुखासन, एक पाद शिरासन, मूलबन्धासन, द्विपाद कंधरासन, मत्स्यासन, अर्द्ध मत्स्येन्द्रासन, शीर्षासन, ताड़ासन, पादांगुष्ठानासन।
3. *प्राणायाम*– नाड़ी शोधन प्राणायाम (1 से 4 अवस्था तक, महाबन्ध के साथ), हर अगली अवस्था पर जाने से पहले कम-से-कम एक महीने तक पूर्व अवस्था का अभ्यास पक्का कर लें। 5 से 7 चक्र तक अभ्यास करें। भस्त्रिका प्राणायाम अन्तर्कुम्भक, जालन्धर तथा मूलबन्ध के साथ– 50 श्वास के 5 चक्र। तत्पश्चात् कुछ मिनटों तक शीतली एवं शीतकारी प्राणायाम।
4. *मुद्रा एवं बन्ध*– 1. विपरीतकरणी मुद्रा और योग मुद्रा, 2. ध्यान के पूर्व 25 बार वज्रोली मुद्रा।
5. *षट्क्रिया*– प्रतिदिन प्रात: जल नेति। कुंजल कुछ दिनों तक प्रतिदिन, फिर कम कर सकते हैं। लघु शंख प्रक्षालन एक हफ्ते तक प्रतिदिन,

तत्पश्चात् हफ्ते में एक बार। यह साधना कार्यक्रम शुरू करने से पहले आश्रम वातावरण में एक बार पूर्ण शंख प्रक्षालन कर लेना चाहिए।

6. *शिथिलीकरण*– सोने से पहले योग निद्रा कर लेनी चाहिए या दिन में जब कभी फुर्सत से लेटने का समय मिले तो शवासन में लेटकर उदर श्वसन की सजगता का अभ्यास करें।
7. *ध्यान*– अन्तर्मौन की प्रारम्भिक अवस्थाओं का अभ्यास, जिसमें मानसिक एवं भावनात्मक प्रतिक्रियाओं के प्रति द्रष्टा या साक्षी भाव विकसित करने का प्रयास किया जाता है, अथवा अजपाजप का अभ्यास भी किया जा सकता है। ध्यान सुबह या शाम जब भी समय हो 10 मिनट से आधे घण्टे तक की अवधि तक अवश्य करें।
8. *अमरोली*– प्रथम बार के शिवाम्बू का सेवन, शुरू और आखिर का प्रवाह छोड़कर बीच का एक गिलास लेना शुरू करें।
9. *भोजन*– हल्का शाकाहारी भोजन, जिसमें कम-से-कम नमक तथा चीनी हो। मांस, अंडा, शराब, तले हुए मसालेदार भोजन तथा अप्राकृतिक डिब्बा बन्द भोज्य पदार्थों को त्याग दें। दूध और दूध से बने पदार्थ भी वासनाओं को उत्तेजित करते हैं। व्यक्तित्व में सात्त्विकता को धारण करने का प्रथम आधार है सात्त्विक भोजन।
10. *उपवास*– हफ्ते में एक दिन उपवास या शाम का भोजन छोड़ देना काफी लाभदायक सिद्ध होता है।

अन्य सुझाव

- प्रतिदिन सुबह एवं शाम ठण्डे पानी से स्नान कीजिये।
- बिस्तर से सुबह जितनी जल्दी उठ सकते हों, उठें।
- उत्तेजक पत्रिकाओं और उपन्यासों को अपने मानस पटल पर रेखाएँ मत बनाने दें। अश्लील साहित्य, चित्र, गपशप एवं फिल्में हमारे मन के विभिन्न स्तरों को प्रभावित कर विचारों को उलझाए रखती हैं। अत: यदि आप वास्तव में ऊर्जाओं का रूपान्तरण चाहते हो तो इन सभी से बचकर रहना अत्यन्त आवश्यक है।
- अपनी मानसिक एवं भावनात्मक प्रतिक्रियाओं और उनमें होने वाली उथल-पुथल के प्रति द्रष्टा भाव धारण करने का प्रयास करें। अनावश्यक रूप से उन्हें दबाएँ नहीं, उन्हें स्वीकार करें; मानस पटल पर आने दें,

परन्तु उनसे अप्रभावित रहने का प्रयत्न करें। जब मन ऐसे विचारों में लिप्तता चाहे तो अपने शरीर और मन पर उसके प्रभावों का अध्ययन करते रहिए। यही प्रयास परिवर्तन की कुंजी है।

- अपने जीवन में उच्च आदर्शों व मान्यताओं को स्थान दें, परन्तु एक रूढ़िवादी दृष्टिकोण से नहीं, वरन् व्यावहारिक सामान्य बुद्धि का प्रयोग करते हुए आन्तरिक आध्यात्मिक गुणों को धारण करना मानव विकास क्रम का उत्कर्ष बिन्दु है। अधिक विस्तृत चर्चा हेतु योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित 'योग दर्शन' देखें।

अप्रजायिता एवं नपुंसकता

नपुंसकता पुरुषों की एक ऐसी समस्या है जिसमें प्रजनन प्रणाली में संरचनात्मक क्रियात्मक या मनोभावनात्मक कारणों से दोष उत्पन्न हो जाते हैं। आम तौर पर बच्चे नहीं होने के कारणों का पता लगाने पर लगभग एक तिहाई जोड़ों में पति के दोषों को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। 'नुपंसकता' शब्द को प्रमुखत: दो अलग-अलग समस्याओं के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

एक समस्या तो होती है, जिसमें पुरुष में वीर्य या शुक्राणु उत्पादन में गड़बड़ी होती है, परन्तु लैंगिक सम्बन्ध सामान्य रूप से स्थापित किये जा सकते हैं–इस अवस्था को 'अप्रजायिता' कहते हैं। इन दोषों का पता वीर्य जाँच द्वारा सफलता से लगाया जा सकता है। यदि वीर्य में शुक्राणु कम संख्या में हैं अथवा विकृत हैं या गतिहीन हैं तो इस जाँच में पता चल जाता है।

दूसरी समस्या इसके विपरीत है, जिसमें शुक्राणु उत्पादन तो सामान्य होता है, परन्तु लैंगिक सम्बन्ध स्थापित करते समय समस्या होने लगती है। इसे *अंग दौर्बल्य* या *नामर्दी* की संज्ञा दी जाती है।

पौरुषीय प्रजनन क्षमता एवं शक्ति, दोनों को पुनर्जाग्रत करने हेतु यौगिक अभ्यास सर्वाधिक प्रभावकारी हुए हैं, जहाँ पर मनोवैज्ञानिक, स्नायविक या मामूली अन्त:स्रावी असन्तुलन समस्या के मूल में हो। शुक्राणुओं की विकृति या उनकी संख्या में कमी अक्सर अस्थायी रूप से होने वाली समस्या है, जो लगभग छ: महीने की योग चिकित्सा द्वारा सरलता से निर्मूल की जा सकती है।

अप्रजायिता

कारण – अप्रजायिता की समस्या कई रूपों में पायी जाती है तथा इसके अनेक कारण हो सकते हैं। कभी-कभी तो लिंग निर्धारण की अनुवांशिक गड़बड़ी के कारण, पुरुष शरीर में जन्म से ही विकृति हो जाती है, अन्यथा विकास के क्रम में पौरुषीय प्रकृति का सम्पूर्ण अभिव्यक्तिकरण कहीं अधूरा रह जाता है।

अनुवांशिक या संरचनात्मक दोषों के अलावा हॉरमोन्स का असन्तुलन भी एक प्रमुख कारण है। सम्पूर्ण अन्त:स्रावी प्रणाली की समस्वरता इस शुक्राणु निर्माण की जटिल एवं संवेदनशील प्रक्रिया को सुचारु बनाए रखने के लिए आवश्यक है। इसमें कहीं पर भी होने वाली विषमता शुक्राणु उत्पादन पर नकारात्मक प्रभाव डालेगी। चाहे वह विषमता *हाइपोथैलेमस* या *पिनीयल,* पिट्यूटरी ग्रंथि से लेकर अंडकोषों में टेस्टोस्टीरॉन उत्पादन तक कहीं भी हो, लक्षण एक ही होगा – अपर्याप्त शुक्राणु। यदि दोनों अंडकोष किसी अन्य रोग से ग्रस्त हों या दुर्घटनावश नष्ट हो गए हों, तो पौरुषीय क्षमताएँ दुबारा प्राप्त करना असंभव है, परन्तु देखने में यह आता है कि नब्बे प्रतिशत रोगियों में उनकी अप्रजायिता का ठोस कारण ढूँढ पाना इतना आसान नहीं होता। न ही यह कहा जा सकता है कि उनकी समस्या का कारण अपरिवर्तनीय है। उनके उपचार के प्रति दृष्टिकोण अधिक आशावादी होना स्वाभाविक है एवं आवश्यक भी। यह स्पष्ट होना चाहिए कि जब विकृति या दुर्घटना मात्र एक अंडकोष को ही प्रभावित करे तथा दूसरा सामान्य हो, तो प्रजनन एवं लैंगिक क्षमताओं में कोई बाधा नहीं आती। एक क्रियाशील अंडकोष ही सभी आवश्यकताएँ पूर्ण करने में समर्थ है।

लक्षण – जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि हमारा शरीर, मन और व्यक्तित्व हॉरमोन्स के द्वारा प्रभावित होते हैं। यदि पुरुषत्व के लिए उत्तरदायी हॉरमोन्स (उदाहरण टेस्टोस्टीरॉन) प्रारम्भ से ही उचित मात्रा में स्रावित नहीं होंगे तो किशोरावस्था में होने वाले परिवर्तन, जो एक बच्चे को वयस्क में बदल देते हैं, ठीक से नहीं हो पायेंगे। नतीजन पुरुषत्व के लक्षण – जैसे, दाढ़ी-मूँछ आना, आवाज का भारी होना, इत्यादि अपूर्ण ही रह जायेंगे। व्यक्ति दुबले-पतले, लम्बे, बिना दाढ़ी-मूँछों के और पतली आवाज व अविकसित जननेन्द्रियों तथा अपरिपक्व मानसिकता वाले पुरुष के रूप में विकसित होगा।

यदि किशोरावस्था पार करने के पश्चात् पुरुष हॉरमोन गड़बड़ हुए हैं तथा अप्रजायिता की समस्या तदुपरान्त प्रारम्भ हुई है तो होने वाले लाक्षणिक परिवर्तन इतने प्रत्यक्षत: दृष्टिगोचर नहीं होते। शरीर का विकास सामान्य रूप से होता है तथा पुरुषत्व के लक्षण लुप्त नहीं होते, मात्र प्रतिक्रमण कर जाते हैं। बाह्य जननांग सिकुड़ जाते हैं तथा व्यक्ति को थकान लगती रहती है, काम करने की इच्छा नहीं होती तथा कामेच्छा घट जाती है।

नपुंसकता

पुरुष द्वारा लैंगिक क्षमता में कमी के कारण, काम क्रीड़ा में योगदान नहीं कर पाने की अवस्था को नपुंसकता कहते हैं। अधिकांशत: यह समस्या शारीरिक कम, किन्तु मनोभावनात्मक अधिक होती है।

इस समस्या के कारणों को हम मोटे तौर पर तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं – शारीरिक, मानसिक एवं प्राणिक। शारीरिक स्तर पर *स्नायविक असन्तुलन* या *स्नायविक सम्बन्ध विच्छेद*, जो किसी अन्य बीमारी के कारण, अथवा गिरने से या चोट लगने के कारण रीढ़ की अंतिम सिरे की हड्डी खिसकने या टूट जाने के कारण हो सकता है। मधुमेह से या उच्च रक्तचाप की ओषधियों के दुष्प्रभाव के फलस्वरूप भी नपुंसकता हो सकती है।

प्रारम्भिक जीवन में, विशेषत: किशोरावस्था में जब शरीर और मन लैंगिक अभिव्यक्तिकरण के लिए परिवर्तित हो रहा होता है, उस समय उसे यदि कोई मानसिक आघात लगता है जिससे उसके अचेतन मन में भय, कुंठा, शर्म या अपूर्णता का भाव बैठ जाये तो वह आगे चल कर काम क्रीड़ा के प्रति अरुचि या नपुंसकता का रूप धारण कर लेता है। ऐसी अवस्था में योग निद्रा जैसी शिथिलीकरण की प्रक्रिया समस्या को समूल उखाड़ सकती है।

अक्सर इस समस्या से ग्रस्त लोगों के निम्न अंगों के क्षेत्रों में प्राण शक्ति के प्रवाह में तथा सम्बन्धित चक्रों (मूलाधार तथा स्वाधिष्ठान) के ऊर्जा क्षेत्र में अवरोध एवं असन्तुलन पाये जाते हैं। यदि वे अवरोध अत्यधिक हों तो निम्न अंगों और दोनों पैरों में लकवा भी मार सकता है। प्राण शक्ति के प्रवाहावरोध उन अभ्यासों से दूर किये जा सकते हैं जो श्रोणि प्रदेश के अंगों की मालिश कर उन्हें पुनर्जीवित कर सकें। इन आसनों का विवरण आगे दिया गया है। ध्यान एवं योगनिद्रा के अलावा इन आसनों, प्राणायामों तथा बन्धों को नियमित रूप से करना चाहिए, तभी लाभ त्वरित दृष्टिगोचर होंगे।

नपुंसकता एवं अप्रजायिता का यौगिक उपचार

यह स्मरणीय तथ्य है कि गर्भाधान निषेचन तथा तदुपरान्त होने वाले भ्रूण विकास के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि पति एवं पत्नी के मध्य पारस्परिक अन्तर्क्रिया ऐक्य की भावना के साथ हो। दोनों का आपसी सहयोग एवं योगदान बराबर का महत्त्व रखता है। अनेक बार ऐसा होता है कि पूरी जाँच कराने के बाद भी पता नहीं चलता कि गर्भाधान न हो पाने का कारण कहाँ पर है। बहुधा पति एवं पत्नी दोनों शारीरिक एवं मानसिक रूप से बिल्कुल स्वस्थ होते हैं। परन्तु फिर भी उनके आन्तरिक सम्बन्धों के किसी एक पहलू या अवस्था में कुछ अपूर्णता अथवा प्रतिकूलता रह जाती है। इसी कारण पति-पत्नी दोनों को एक साथ योगाभ्यास कार्यक्रम अपनाने की सलाह दी जाती है।

1. *सूर्य नमस्कार* – प्रतिदिन प्रात: 12 चक्र तक अभ्यास करें।
2. *आसन* – शुरुआत पवनमुक्तासन भाग 1 एवं भाग 2 को सिद्ध करने से करें। तत्पश्चात् शक्ति बन्ध समूह के आसन, और इसके 1 से 2 महीने के बाद निम्नलिखित मुख्य आसनों को शुरू करें –

   वज्रासन समूह – विशेषत: शशांक भुजंगासन, मार्जारि आसन, सुप्त वज्रासन, उष्ट्रासन और भद्रासन।

   पीछे एवं सामने झुकने वाले आसन – सर्वांगासन, हलासन, द्रुत हलासन, मत्स्यासन, द्विपाद कंधरासन, कंधरासन, हनुमानासन एवं ब्रह्मचर्यासन।

   इन सभी आसनों में से शक्ति बन्ध, वज्रासन समूह, भुजंगासन, पश्चिमोत्तानासन, सर्वांगासन और ब्रह्मचर्यासन सबसे लाभदायक हैं। सर्वांगासन से भय और कुंठा दूर होती है, जो नपुंसकता की समस्या से अक्सर जुड़े होते हैं। ब्रह्मचर्यासन से काम ऊर्जा का प्रवाह सुचारु बनता है।
3. *प्राणायाम* – नाड़ी शोधन एवं भस्त्रिका प्राणायाम अन्तरंग एवं बहिर्कुम्भक के साथ। बहिर्कुम्भक में जालंधर, मूल और उड्डियान बन्धों का अभ्यास तथा अंतर्कुम्भक में जालंधर एवं मूलबन्ध का अभ्यास जोड़ देना चाहिए। सूर्य भेद प्राणायाम 10 चक्र तक। संध्या के समय सूर्य की रोशनी में प्राणायाम करने से विशेष लाभ मिलता है।
4. *मुद्रा एवं बन्ध* – पाशिनी मुद्रा एवं योगमुद्रा। वज्रोली मुद्रा एवं मूलबन्ध का अभ्यास दिन में 30-30 बार करनी चाहिए। इन मुद्राओं के अभ्यास

से प्रसुप्त ऊर्जा जाग्रत होती है तथा प्राणिक एवं मानसिक बाधाएँ दूर होती हैं।

5. *षट्क्रिया* – जल नेति प्रतिदिन। जब कभी कब्ज महसूस हो तो लघु शंखप्रक्षालन कर लें।
6. *शिथिलीकरण* – योगनिद्रा या शवासन में लेटकर उदर-श्वसन।
7. *ध्यान* – सिद्धासन में बैठकर अजपा-जप।
8. *अमरोली* – यदि पुरुष अपनी स्त्री का शिवाम्बू प्रतिदिन कम-से-कम तीन महीनों तक पान करे तो गर्भ ठहरने की संभावना बढ़ जाती है – ऐसा प्राचीन ग्रंथों में वर्णित है। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में देखने पर पता चलता है कि अनेक हॉरमोन्स तथा उनके अपभ्रंश पदार्थ मूत्र द्वारा निष्कासित होते हैं। दोनों लिंगों के हार्मोन्स की स्रवण प्रणाली में बहुत फर्क होता है। एक लिंग विशेष (स्त्री या पुरुष) के हार्मोन्स या उनके अपभ्रंश दूसरे लिंग के व्यक्ति के शरीर में अलग किस्म का प्रभाव उत्पन्न करते हैं, जो इस समस्या के लिए लाभदायक होता है। संक्षेप में इस अभ्यास का यही मुख्य वैज्ञानिक आधार है। अनेक शिशुविहीन परिवारों में, जहाँ पर कोई-न-कोई शारीरिक या मानसिक कारण समस्या के मूल में था, वहाँ भी इसका अभ्यास वरदान साबित हुआ है।
9. *भोजन* – इस अवस्था में उच्च प्रोटीनयुक्त आहार अनुशंसित किया जाता है। जिस किस्म की भी इच्छा हो उस किस्म का मांस लिया जा सकता है। दूध, मक्खन, पनीर, घी, तथा दूध से बने हुए सभी पदार्थों का सेवन लाभदायक है। ऐसे आहार से शारीरिक ऊर्जा एवं चयापचय गति में वृद्धि होगी तथा शुक्राणु निर्माण हेतु आवश्यक पोषक तत्त्व प्राप्त होंगे। परन्तु साथ-ही फल, सलाद एवं शहद तथा विटामिन 'ई' युक्त पदार्थ भी भोजन में लेने चाहिए, जैसे कि मूँगफली का दूध, जैतून का तेल, गेहूँ घास तथा अन्य प्राकृतिक अन्न एवं तिलहन।

अन्य सुझाव

- कामकाज के अत्यधिक बोझ एवं शारीरिक थकावट से भी कामेच्छा में कमी आती है तथा अकारण अप्रजायिता तथा नपुंसकता जैसे दोष प्रकट हो जाते हैं। अत: वातावरण में परिवर्तन, जहाँ व्यक्ति पारिवारिक एवं सामाजिक दबावों तथा जिम्मेदारियों से दूर जाकर समुचित आराम कर

सके, इस समस्या के समाधान हेतु अति आवश्यक है। बीच-बीच में कहीं प्राकृतिक वातावरण में दोनों पति-पत्नी जाकर कुछ दिनों तक आराम और आनन्द के साथ छुट्टियाँ अवश्य बिताएँ।

- जहाँ पर भय या मनोवैज्ञानिक अवरोधों के कारण नपुंसकता का लक्षण पैदा हो जाता है तो वहाँ पर दोनों व्यक्ति काम क्रीड़ा के साथ शराब का सेवन कर सकते हैं।

पौरुष ग्रंथि के रोग

पुरुषों में अधेड़ावस्था पार करने के पश्चात् मूत्र नियंत्रण सम्बन्धी समस्याएँ बहुत आम तौर पर पायी जाती हैं। इसका मुख्य कारण उम्र के साथ पौरुष ग्रंथि का आकार में बड़ा होना है। अनेक कारणों को मिले-जुले रूप से इस समस्या के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है, जिनमें प्रमुख हैं – अति कामलिप्तता, अनुपयुक्त आहार, मांसपेशीय कमजोरी, रक्त अशुद्धियाँ तथा शक्तिशाली विरेचक ओषधियों का सेवन। इस समस्या के सुनिश्चित कारण का आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की दृष्टिकोण से तो पता नहीं चला है, परन्तु अधिकतर चिकित्सक इसे बढ़ती उम्र का अनिवार्य रोग मानते हैं। उनके अनुसार उम्र के साथ पुरुषों के अन्त:स्रावी हारमोन्स की बदलती भूमिका प्रमुख योगदान देती है। पौरुष ग्रंथि का दूसरा महत्त्वपूर्ण रोग है ग्रंथि का संक्रमण अथवा शोथ, जिसे *'प्रोस्टेटाइटिस'* कहते हैं।

यौगिक दृष्टिकोण

योग के मतानुसार पौरुष ग्रंथि के रोगों के मूल में पुरुष हारमोन्स का दीर्घकालीन अनियमित तथा असन्तुलित स्रवण है। यदि सक्रिय लैंगिक जीवन के प्रारंभिक वर्षों में पीयूष ग्रंथि से प्रजनन और लैंगिक गतिविधियों के लिए उत्तरदायी हॉरमोन्स का स्राव अत्यधिक एवं अनियंत्रित मात्रा में होता रहे तो पौरुष ग्रंथि के अनियंत्रित और अत्यधिक परिवर्द्धन में उसकी परिणति होती है। बढ़ते-बढ़ते यह ग्रंथि मूत्र नलिका को चारों तरफ से दबाने लगती है, परिणामस्वरूप मूत्र का प्रवाह धीरे-धीरे रुकने लगता है।

हालाँकि पौरुष ग्रंथि की वृद्धि की समस्या अधेड़ या वृद्धावस्था में परेशान करती है तथा जाँच द्वारा इसका पता चलता है। परन्तु ऐसा नहीं है कि बुढ़ापे में ही ग्रंथि बढ़ना प्रारम्भ होती है। ग्रंथि में अनियिन्त्रित वृद्धि तो धीरे-धीरे युवावस्था में ही होना शुरू हो जाती है, परन्तु वर्षों बाद ही लक्षण उत्पन्न करने लायक आकार धारण करती है।

जब तक पौरुषीय लैंगिक चयापचय की प्रक्रिया इन प्रारम्भिक वर्षों में ही सन्तुलित एवं नियंत्रित नहीं होगी तब तक टेस्टोस्टीरॉन इत्यादि हॉरमोन्स का स्रवण भी नियंत्रित नहीं होगी। इस अनियंत्रित प्रक्रिया का एक दुष्प्रभाव *पौरुष ग्रंथि की वृद्धि* तथा मूत्र नियंत्रण की समस्या है तथा दूसरी संभावना है – पौरुष ग्रंथि का कैंसर।

अतिरिक्त समस्याएँ

पौरुष ग्रंथि की वृद्धि के कारण बार-बार पेशाब जाने की तीव्र इच्छा होती है। कई बार तो भागते-भागते ही कपड़े गीले हो जाते हैं, परन्तु जब व्यक्ति पेशाब करने की कोशिश करता है तो थोड़ा-सा ही पेशाब होता है तथा पूरी तरह निकलता नहीं। उसके लिए जोर लगाना पड़ता है। ऐसा ग्रंथि के दबाव से मूत्र नली का अवरोध हो जाने के कारण होता है।

जैसे ही व्यक्ति एक बार पेशाब करके लौटता है, थोड़ी देर बाद उसे पुन: जाने की इच्छा होती है। ऐसा लगातार चलता रहता है, विशेषत: रात्रि के समय, क्योंकि उस समय मन अन्य कामों में व्यस्त नहीं रहता, अत: शारीरिक क्रियाओं के प्रति संवेदनशील हो जाता है।

बार-बार पेशाब जाने की यह प्रक्रिया व्यक्ति का बहुत-सा समय ले लेती है तथा परेशानी पैदा करने लगती है, क्योंकि उसे अपनी जीवनचर्या तथा गतिविधियाँ हमेशा बाथरूम के आस-पास ही सीमित रखनी पड़ती हैं। चूँकि एक बार में पूरा मूत्राशय खाली नहीं होता, बचा हुआ पेशाब रुक कर जाने लग जाता है। इसमें यदि संक्रमण प्रवेश कर जाता है तो जलन, बुखार इत्यादि समस्याएँ जुड़ जाती हैं, जिनकी औषधीय चिकित्सा अनिवार्य हो जाती है।

आधुनिक चिकित्सा

अधिकांशत: पौरुष ग्रंथि की अतिरिक्त वृद्धि को शल्य क्रिया द्वारा निकाल दिया जाता है। आधुनिक उपकरणों की सहायता से यह प्रक्रिया बहुत आसान

हो जाता है। जिसे *'ट्रांसयूरेथ्रल रिसेक्शन'* कहते हैं। इसमें मूत्र मार्ग में ही एक नली द्वारा महीन छूरी प्रविष्ट करा कर बढ़ी हुई ग्रंथि को छील कर निकाल दिया जाता है ताकि पेशाब खुल कर प्रवाहित हो सके। यह शल्य क्रिया उन लोगों के लिए सर्वाधिक उपयोगी है जो अपनी अधिक उम्र के कारण योग अभ्यासों को कर सकने में असमर्थ हैं। परन्तु जो लोग तुलनात्मक रूप से अधिक सक्रिय हैं तथा ऑपरेशन कराने में संकोच करते हों, उन्हें सलाह दी जाती है कि कुछ महीनों तक योगाभ्यास नियमित रूप से करने के पश्चात् अपनी अवस्था का स्वयं आकलन कर निर्णय लें।

यौगिक उपचार

पौरुष ग्रंथि की वृद्धि की प्रारम्भिक अवस्थाओं में यौगिक क्रियाओं द्वारा अनियमित अन्त:स्रावी स्रवणों को सुचारु बनाकर ग्रंथि को पूर्ववत् आकार में वापस लाना संभव है। ग्रंथि का आकार सिकुड़ने के साथ ही मूत्र अनियंत्रित जैसे लक्षण नियंत्रित हो जाते हैं। परन्तु वृद्ध व्यक्तियों द्वारा आसन, प्राणायाम, षट्क्रियाओं एवं ध्यान इत्यादि के अभ्यासों के कठिन कार्यक्रम का पालन करना बहुत मुश्किल हो जाता है। हालाँकि हमारी जानकारी में कुछ ऐसे व्यक्ति भी हैं जो मात्र पवनमुक्तासन के अभ्यास से लाभान्वित हुए हैं। अधेड़ उम्र के व्यक्ति, जो अन्तत: शारीरिक रूप से स्वस्थ एवं क्रियाशील हैं, वे सर्वाधिक लाभ उठा सकते हैं। इसी प्रकार युवा व्यक्ति, जो पौरुष ग्रंथि के संक्रमण से पीड़ित हैं, उन्हें योगाभ्यास कार्यक्रम का नियमबद्ध होकर पालन करना चाहिए तथा जब तक रोगमुक्त नहीं हो जाते तब तक लैंगिक गतिविधियों को न्यूनतम कर देना चाहिए।

1. *सूर्य नमस्कार* – प्रतिदिन प्रात: इसका अभ्यास क्षमतानुसार करना चाहिए। धीरे-धीरे बढ़ाते हुए 12 चक्र तक ले जायें। प्राणशक्ति जाग्रत करने का यह एक सशक्त माध्यम है।
2. *आसन* – पवनमुक्तासन एवं वज्रासन समूह से प्रारम्भ करें। तदुपरान्त निम्नलिखित आसनों में से अपने क्षमतानुसार कुछ को चुन लें – त्रिकोणासन, अर्धपद्म पश्चिमोत्तानासन, गत्यात्मक पश्चिमोत्तानासन, शशांकभुजंगासन, शलभासन, सर्वांगासन, तोलांगुलासन, अर्धमत्स्येन्द्रासन, ब्रह्मचर्यासन, वशिष्ठासन, धनुराकर्षणासन, पादांगुष्ठासन, मयूरासन, वीरासन, भद्रासन। जब भी संभव हो, वज्रासन में बैठे।

3. *प्राणायाम* – क्षमतानुसार भस्त्रिका प्राणायाम – अन्तर्कुम्भक, मूलबन्ध एवं जालंधर बंध सहित। यह ऊर्जा प्राप्ति का सशक्त उपाय है। नाड़ी शोधन प्राणायाम का अभ्यास बढ़ाते हुए छः महीने में चतुर्थ अवस्था तक पहुँचने का प्रयत्न कीजिए।
4. *मुद्रा एवं बन्ध* – मूलबन्ध एवं वज्रोली मुद्रा 25 बार प्रतिदिन। महामुद्रा एवं महाबेध मुद्रा प्रतिदिन 7 बार तक।
5. *षट्क्रिया* – नेति एवं कुंजल प्रतिदिन करना चाहिए। लघु शंखप्रक्षालन हफ्ते में एक बार।
6. *शिथिलीकरण* – रोज दोपहर को योगनिद्रा का अभ्यास तथा सोने से पहले शवासन में लेटकर उदर श्वसन का अभ्यास करना चाहिए।
7. *भोजन* – अत्यधिक मिर्च-मसाले, तेल, घी व मांस-मछली रहित हल्का शाकाहारी भोजन सर्वाधिक अनुशंसित है। इससे ऊर्जा संरक्षित होती है, जिसे उपचारात्मक प्रयोजन हेतु दिशानिर्दिष्ट किया जा सकता है।

   अति भोजन से हमेशा बचना चाहिए तथा शाम को भोजन सूर्यास्त के पहले कर लेना चाहिए। चाय, कॉफी, तंबाकू तथा शराब से परहेज रखें। पानी खूब पीयें, परन्तु शाम को पानी बन्द कर दें ताकि रात को बार-बार उठना न पड़े।
8. *उपवास* – हफ्ते में एक दिन उपवास करें या हर कुछ दिनों के बाद एक दिन शाम का भोजन छोड़ देना चाहिए।
9. *अमरोली* – यदि भोजन सात्त्विक हो तथा ओषधियाँ न ले रहे हों तो अभ्यास प्रारम्भ किया जा सकता है।
10. *विश्राम* – पर्याप्त विश्राम भी एक आवश्यकता है। रात को देर तक पार्टियों में या अन्य सामाजिक गतिविधियों में जाना कम-से-कम कुछ महीनों तक के लिए बन्द कर दें। यदि संभव हो तो इस काल में आश्रम वातावरण में रहना चाहिए।

हर्निया में योगाभ्यास

शरीर में किसी भी आन्तरिक अंग का एक असामान्य छिद्र या द्वार से बाहर की तरफ उभार हर्निया कहलाता है। सामान्य तौर पर होने वाले हर्निया में उदर की निचली मांसपेशियों में स्वाभाविक रूप से यदि कमजोरी हो तो कुछ परिस्थितियों में आँतों का कुछ भाग वहाँ से बाहर निकल जाता है।

हर्निया के प्रकार

हर्निया स्त्रियों और पुरुषों, दोनों को ही होने वाला रोग है। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन में 2 प्रतिशत से अधिक (50 में से 1) पुरुषों को हार्निया होता है। शरीर में जिस स्थान पर हर्निया होता है उसके अनुसार उसे विभिन्न प्रकारों में विभक्त कर दिया गया है।

1. *इंग्वाइनल हर्निया*– सभी प्रकार के बाहरी हर्निया में यह 70 प्रतिशत से भी अधिक होता है। यह स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में लगभग 20 गुना ज्यादा होता है। यह तब होता है जबकि कोई उदरस्थ अंग दबकर *इंग्वाइनल केनाल* में आ जाता है। हर्निया की अन्तर्वस्तु अण्डकोष में आ जाती है तो उसका आकार बड़ा हो जाता है। इस प्रकार के हर्निया को अण्डकोष की सूजन, जैसे–हाइड्रोसिल से पहचान पाना कठिन है, इसीलिए मेडिकल जाँच के द्वारा सूजन के सही कारण का पता लगाकर ही उचित सलाह लेनी चाहिए।

2. *फीमोरल हर्निया*– हर्निया के सभी सामान्य प्रकारों में से यह 17 प्रतिशत होता है जो साधारणत: स्त्रियों में पाया जाता है। इसमें उदर के अंग जाँघ के सामने एक छिद्र, जिसमें से फीमोरल धमनी पैर में जाती है, में सरक आते हैं।

3. *अम्बिलिकल हर्निया*– यह सभी प्रकार के हर्निया में से 8 प्रतिशत होता है। इसमें हर्निया की ग्रंथि या थैली नाभि से ही बाहर आ जाती है, क्योंकि नाभि के क्षेत्र में प्राकृतिक रूप से कुछ उदरीय मांसपेशियाँ कमजोर होती हैं। यह प्राय: जन्म के समय या शैशवावस्था में एवं मध्यम आयु वर्ग के अधिक मोटे तथा अशक्त उदर वाले व्यक्तियों को होता है।

हर्निया कम किया जा सकता अथवा नहीं, इस आधार पर भी इसे दो प्रकारों में विभक्त किया गया है।

1. पहला प्रकार वह है जिसमें हर्निया की बाहर निकली हुई थैली को उदर में पुन: दबाया जा सकता है। अधिकतर जब मरीज लेटता है तो यह स्वत: ही अन्दर चली जाती है और जब वह खड़ा होता है तो पुन: बाहर निकल आती है। फिर भी बड़े हर्निया को अन्दर दबाना आवश्यक होता है। सबसे अधिक हर्निया इसी समूह में आते हैं और सक्षम मार्गदर्शन में सीखे गये सरल योगाभ्यास द्वारा इन्हें आसानी से ठीक किया जा सकता है।
2. जब हर्निया को पुन: अन्दर दबाया नहीं जा सकता तब वह एक अत्यन्त कठिन परिस्थिति है और इसमें तुरन्त डॉक्टर की सलाह लेनी चाहिए। इसमें उदरस्थ अंग हर्निया में फंस जाते हैं और फिर उसे वापस अन्दर नहीं दबाया जा सकता है। इस स्थिति में अवरोध, उस हिस्से में गैंग्रीन और व्यक्ति की मृत्यु भी संभव है। इसीलिए अगर इस प्रकार का हर्निया होता है और यदि उसमें दर्द अनुभव न हो तो भी व्यक्ति को डॉक्टर से उचित सलाह अवश्य लेनी चाहिए।

हर्निया के कारण

कई कारणों से उदर की मांसपेशियाँ कमजोर हो जाती हैं। सर्वप्रथम उदर की मांसपेशियों या तन्तुओं का अपूर्ण विकास या जन्मजात क्षीणता के कारण जन्म के तुरन्त बाद हर्निया हो जाता है। असावधानीपूर्वक बहुत ताकत लगाकर भारी वजन उठाने से भी उदर की मांसपेशियाँ और तन्तु टूट सकते हैं और हर्निया हो सकता है। यह सामान्यत: युवा वर्ग के पुरुषों और स्त्रियों में होता है।

किसी भी अन्त:उदरीय दबाव बढ़ने की स्थिति में भी हार्निया हो सकता है, उदाहरण के लिए–धूम्रपान करने वाले व्यक्ति को लगातार कई महीनों

या सालों तक खाँसी रहना, बढ़ी हुई प्रोस्ट्रेट ग्रंथि तथा कब्ज के कारण मूत्र त्याग और मल त्याग में जोर लगाना। कब्ज में सामान्यत: अपान वायु कमजोर एवं अव्यवस्थित हो जाती है, इसीलिए जोर लगाना पड़ता है। अपान वायु नीचे की ओर प्रवाहित होने वाली शक्ति है और निष्कासन के लिए उत्तरदायी है। यह मध्यम आयु में होने का प्रमुख कारण है।

मोटापा और अति आहार की आदत होने से उदर की मांसपेशियों में अत्यधिक खिंचाव होता है तथा आँतें भी बहुत भरी हुई रहती हैं, जिससे उदर पर दबाव बढ़ जाता है। अक्रियाशील जीवन-शैली तथा व्यायाम की कमी के कारण भी हर्निया का एक अन्य कारण है। इस जीवन शैली के कारण उदर की मांसपेशियाँ ढीली और शिथिल हो जाती हैं। जैसे-जैसे उदर की मांसपेशियाँ शिथिल होती हैं, उदर के अंग नीचे की ओर लटकने लगते हैं और उदर का फूलना प्रारम्भ हो जाता है। इसे *'विसरोप्टोसिस'* (आशयभ्रंश) कहते हैं।

गर्भावस्था और प्रसव के कारण भी उदर पर दबाव बढ़ जाता है और अधिकतर स्त्रियों में हर्निया का कारण बनता है। सक्षम मार्गदर्शन से प्राप्त किया गया योगाभ्यास कार्यक्रम गर्भावस्था के पहले, इसके दौरान एवं इसके बाद इस जटिलता से बचने में मदद करता है।

हर्निया का उपचार

हर्निया का उपचार उसके प्रकार एवं गंभीरता पर निर्भर है। इससे बचाव के लिए योग के अभ्यास सर्वोत्तम हैं। इनके द्वारा कमजोर मांसपेशियों एवं अधिक भारी आँतों के कारण होने वाले हर्निया, विशेष रूप से जो बहुत पुराने नहीं हैं, बिल्कुल ठीक भी किये जा सकते हैं। कुछ विशेष प्रकार के आसनों के निरन्तर अभ्यास के साथ भोजन एवं जीवनशैली में परिवर्तन के द्वारा उसे ठीक किया जा सकता है। लेकिन यदि हर्निया लम्बे समय तक बना रहे और अवरोध की संभावना हो या यदि बहुत ही अनियंत्रित हो जाये तो ऑपरेशन द्वारा ही ठीक किया जा सकता है।

ऑपरेशन के बाद पुन: स्वस्थ होने के पश्चात् सतर्क और सक्षम मार्गदर्शन में आसनों का अभ्यास प्रारम्भ किया जाना चाहिए। ऑपरेशन के 4 से 8 सप्ताह के बाद आसन, जैसे – पवनमुक्तासन भाग 1 प्रारम्भ करना चाहिए। ऑपरेशन के बाद 3 महीने तक कोई तनाव या दबाव उदर की

मांसपशियों पर नहीं पड़ना चाहिए। इसके पश्चात् पवनमुक्तासन भाग 2 के कुछ आसन, शक्तिबन्ध समूह एवं वज्रासन का अभ्यास और जोड़ा जा सकता है। जिन आसनों में कमर से सामने झुकना पड़ता है उन्हें बिना मार्गदर्शन के कभी नहीं करना चाहिए और वे आसन जिनमें उदर पर जोर पड़ता है, जैसे – भुजंगासन, धनुरासन और शलभासन नहीं करने चाहिए।

योग द्वारा हर्निया में बचाव एवं उसका उपचार

(टिप्पणी – ऐसी स्थिति में जबकि हर्निया कम नहीं किया जा सकता, आसनों का अभ्यास नहीं करना चाहिए। किसी भी प्रकार के हर्निया को पहले किसी तरीके से सावधानीपूर्वक उदर के अन्दर वापस करना चाहिए।)

1. *आसन* – पवनमुक्तासन भाग एक और दो, विशेष रूप से नौकासन। तितली आसन, हलासन, पाशिनी मुद्रा, सर्वांगासन, मत्स्यासन, वज्रासन, शशांकासन, मार्जारि आसन, उष्ट्रासन, योगमुद्रा, विपरीतकरणी, सुप्त वज्रासन।
2. *प्राणायाम* – भ्रामरी प्राणायाम, अन्तर्कुम्भक, जालंधर और मूलबन्ध तथा बहिर्कुम्भक, और उड्डियान बंध के साथ हल्की भस्त्रिका।
3. *मुद्रा एवं बंध* – अश्विनी मुद्रा, वज्रोली मुद्रा, मूलबन्ध, अग्निसार क्रिया।
4. *हठयोग* – नेति क्रिया, सप्ताह में एक बार लघु शंखप्रक्षालन।
5. *शिथिलीकरण* – योगनिद्रा।

अन्य सुझाव

- हर्निया के उपचार के लिए पर्याप्त रूप से पाचन-शक्ति को बढ़ाना, कब्ज दूर करना और अपान वायु को सन्तुलित करना आवश्यक है।
- हर्निया के मरीजों को भारी वजन नहीं उठाना चाहिए। इसकी पुनरावृत्ति से बचने के लिए जरूरी है कि छींक, खाँसी, मल और मूत्र त्याग के समय होने वाली कठिनाइयों के कारण को दूर किया जाये।

हाइड्रोसील

पुरुषों की लैंगिक प्रणाली में गड़बड़ी से उत्पन्न होने वाला हाइड्रोसील रोग अंडकोषीय झिल्ली की थैली में एक तरफ तरल पदार्थ के एकत्रीकरण का परिणाम है। यह झिल्ली में एक तरफ सूजन के रूप में दिखाई देता है। परीक्षण करने पर देखा जा सकता है कि अंडकोष के एक भाग में तरल पदार्थ भर गया है।

पुरुष-प्रजनन-प्रणाली

हाइड्रोसील रोग के विषय में जानकारी के लिए प्रजनन-प्रणाली के विषय में कुछ जानकारी होना जरूरी है। पुरुष भ्रूण में (जब वह गर्भ में होता है) अंडकोष उसके उदर प्रदेश में अवस्थित होते हैं। गर्भ के आन्तरिक जीवन की शुरुआत होने पर ही ये उदर से उतरते हैं। कुछ बच्चों में तो जन्म के बाद भी ये पूर्णत: बाहर नहीं निकलते हैं।

हाइड्रोसील क्यों?

हाइड्रोसील कई कारणों से हो सकता है। सर्वप्रथम यह जन्मजात हो सकता है। यह नवजात शिशु में भी हो सकता है। उतनी छोटी उम्र में इसकी जाँच न हो पाने के कारण यह बड़ी उम्र में पकड़ में आता है। इसका कारण जन्म के समय तक उदर गह्वर और झिल्ली के अलग होने के समय पूर्णत: बन्द न होना है। यह स्थिति अधिकतर जन्मजात, इंग्वाइनल हर्निया के साथ देखी गई है। जिसमें छोटी आँत पेट के नीचे के छोटे छेद में उतर आती है। इस प्रकार का हाइड्रोसील अधिकतर रात को ठीक हो जाता है, क्योंकि तरल पदार्थ उदर गह्वर में खिंचा जाता है, मगर खड़ी या बैठी अवस्था में पुन: नीचे उतर जाता

है। जन्मजात हाइड्रोसील और इंग्वाइनल हर्निया का ऑपरेशन के द्वारा ही इलाज करना उचित होगा, जिसका परिणाम उत्तम देखा गया है।

हाइड्रोसील का दूसरा और अति प्रचलित प्रकार, शुक्रवाहिनी की क्रिया-विधि में गड़बड़ी के कारण पैदा होता है। भारत में करीब 80 प्रतिशत हाइड्रोसील इसी प्रकार के अन्तर्गत आता है। अत: यह लेख विशेषतया इसकी चिकित्सा और रोकथाम से सम्बन्धित है। हाइड्रोसील हो जाने पर भी उसके उचित उपचार द्वारा असाध्य अवस्था को रोका जा सकता है।

इस प्रकार का हाइड्रोसील *फाइलेरियासिस* का प्रकार माना गया है। यह फाइलेरिया के रोगाणु (बुचारिया बैंक्रॉफ्टी) के संक्रमण के कारण पीड़ादायक दर्द के रूप में होता है। यह रोगाणु मच्छर के द्वारा शरीर की रक्त वाहिनियों में प्रविष्ट होता है। विकसित होने के बाद वे छोटे-छोटे कीटाणुओं को जन्म देते हैं जो 6 से 18 माह तक पूर्ण रूप धारण करते हैं। ये विशेषतया लिम्फ में ही पैदा होते हैं, जिससे स्पर्मेटिक कार्ड के लिम्फेटिक मार्ग मे अवरोध उत्पन्न करते हैं।

रोगी संवेदनशील अंडकोष या अंडकोष में खिंचाव की अनुभूति की शिकायत कर सकता है। ऐसे ही दो-तीन दौरों के परिणामस्वरूप हाइड्रोसील होता है। अंडकोष की त्वचा पर हल्की सूजन के रूप में यह दिखलाई देता है। यदि इसका तुरन्त इलाज न किया गया तो यह सूजन बनी रह जाती है और ऊत्तकों में जल के जमाव एवं भीतरी सतह की झिल्लियों के बीच में पानी भरने के रूप में दिखाई देती है। लम्बी अवधि तक यही स्थिति रह गई तो अंडकोषीय थैली बहुत बड़ी हो जाती है जिसके कारण चलना-फिरना, एवं काम करना भी मुश्किल हो जाता है। ऐसे बढ़े हुए हाइड्रोसील अधिकतर वयस्कों में ही अधिक देखे गये हैं। ऐसी अवस्था में ऑपरेशन ही सर्वोत्तम है।

यौगिक दृष्टिकोण

यौगिक दृष्टिकोण में हाइड्रोसील के बढ़ने का कारण प्रजनन संस्थान में प्राणशक्ति के अवरोध को माना है। इस स्थान पर रोगाणु के प्रभाव का कारण प्राणशक्ति के उस स्थान पर उचित प्रवाह की कमी है, जिस कारण वहाँ की प्रतिरोधात्मक शक्ति में कमी हो जाती है। प्रजनन शक्ति का उचित रीति से प्रवाहावरोध भी इसका कारण माना गया है। शुक्र प्रवाहिनी नाड़ी शारीरिक तो है ही, साथ-ही सूक्ष्म प्राण प्रवाहिनी भी इससे सम्बन्धित होती है।

आध्यात्मिक जीवन में यौन जीवन ही बाधक है, यह धारणा बड़ी ही हानिकर सिद्ध हो सकती है। आध्यात्मिक मार्ग में ऐसी एक अवस्था हो सकती है, जहाँ यौन-धर्म या रति-क्रिया को नियंत्रण में रखना आवश्यक हो, किन्तु यह प्राकृतिक एवं स्वाभाविक धर्म है, इसे रोका नहीं जा सकता। यह निश्चित ही सत्य है कि इसकी शक्ति का दिशान्तरण किया जा सकता है, किन्तु जब तक इससे अधिक सुखकर या आनन्ददायक कोई मार्ग सम्मुख न हो तो इस शक्ति का दिशांतरण कठिन है। योग में इस शक्ति को विभिन्न साधनाओं के माध्यम से दिशांतरित किया जाता है, जो उच्च चेतना के मार्ग खोल देती है। जब तक कामवासना का पूर्ण ज्ञान न हो काम क्रीड़ा का अवरोध या रोकने का प्रयत्न नहीं किया जाना चाहिए, अन्यथा यह मानसिक या शारीरिक समस्या के रूप में प्रकट होती है और ऐसी अवस्था में हाइड्रोसील सुरक्षात्मक रूप में प्रकट हो सकता है।

ब्रह्मचर्य के अभ्यास द्वारा उच्च आध्यात्मिक अवस्था की प्राप्ति के लिए इस विषय को अच्छी तरह समझने की आवश्यकता है। इसके अभ्यास के लिए उन विशिष्ट क्रियाओं में दक्षता प्राप्त करने की आवश्यकता है जिनके द्वारा शक्ति को परावर्तित करके मस्तिष्क के अज्ञात केन्द्रों को जाग्रत किया जाता है। ये अभ्यास अस्वास्थ्यकर जीवन पद्धति और अनियंत्रित यौन व्यवहार को, जो जननेन्द्रिय को कमजोर करते हैं, नियंत्रित करते हैं। इस मार्ग पर योग्य गुरु के निर्देशन में चलने की अत्यन्त आवश्यकता है।

वास्तव में कुण्डलिनी योग में मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्रों के जागरण का विषय इस संदर्भ में विचारणीय है। चक्रों के जागरण में शक्ति का सर्वप्रथम जागरण सबसे नीचे अवस्थित इन चक्रों में होता है। यहाँ शक्ति के मार्ग में अवरोध हो जाने पर आध्यात्मिक मार्ग या कुण्डलिनी जागरण का मार्ग ही अवरुद्ध हो जाता है। यौन शक्ति को इन चक्रों में नियंत्रित करके अन्य उच्च चक्रों को जाग्रत किया जाता है। क्रिया-योग एवं कुण्डलिनी योग के अभ्यास में विभिन्न आसनों, मुद्राओं एवं बन्धों के द्वारा इस शक्ति का जागरण किया जाता है।

हाइड्रोसील का उपचार

1. एक सप्ताह तक पूर्ण विश्राम, अत्यधिक पठन और वार्तालाप को टालिये। केवल शौच या पेशाब के लिए ही बिस्तर से उठें।

2. दिन में दो बार आग, तवा या लोहे पर तपाये हुए कपड़े से अण्डकोष के सूजन वाले हिस्से को करीब 10 मिनट तक सेंकिये।
3. करीब तीन दिन तक उपवास करें। जहाँ तक सम्भव हो तरल पदार्थों का सेवन टालिये।
4. करीब एक सप्ताह तक एक समय के भोजन में सूखी सब्जी और रोटी लीजिये। पानी कम-से-कम, भात, दाल, सब्जी का रस, चाय आदि न लें।
5. प्रतिदिन सुबह, दोपहर और रात में करीब-करीब तीन गिलास स्वमूत्र का पान करें। जब तक आराम न हो, पीते जाइये।
6. उदर या श्रोणि प्रदेश पर जोर न पड़े इसका ख्याल रखें। कोई भारी वस्तु उठाना, बोझ ढोना या दौड़ना टालिये।
7. चलते-फिरते, खड़े होते और आसन के समय अंडकोष को सहारा देना जरूरी है। इसके लिए लंगोट या जांघिये का प्रयोग कर सकते हैं।
8. मच्छरदानी लगाकर सोयें।

योग के उपचार

रोग की अवस्था में नीचे बतलाई गई योग क्रियाओं को दैनिक कार्यक्रम में जोड़ लीजिये–

- लघु शंखप्रक्षालन तीन दिनों तक हर सुबह कीजिये। चौथे दिन योग्य प्रशिक्षक के निर्देशन में पूर्ण शंखप्रक्षालन।
- दिन में तीन बार अमरोली (स्वमूत्र) का अभ्यास जारी रखें।
- निम्नांकित आसनों को दिन में दो बार कीजिये। स्थिर आसनों को पूर्ण सजगता के साथ, जितनी देर बिना कठिनाई के कर सकते हैं, करें। अभ्यास योग्य शिक्षक के निर्देशन में सीखना चाहिए। सूर्य नमस्कार, पश्चिमोत्तानासन, गोमुखासन, गरुड़ासन, वज्रासन (भोजन के बाद), सर्वांगासन, हलासन, वज्रोली-मुद्रा, अश्विनी मुद्रा और मूल बन्ध। उच्च अभ्यासों में ब्रह्मचर्यासन, वातायनासन, विपरीतकरणी मुद्रा और शीर्षासन।
- योगनिद्रा का अभ्यास दिन में दो बार।
  पहली अवस्था– योगनिद्रा में अपान वायु के प्रति सजगता। अपान वायु प्राणों का एक विभाग है, वह नाभि के निचले हिस्से में रहता है तथा मूत्र, गुदा और यौन अंगों के कार्यों से सम्बन्धित है। इसके प्रति जागरूकता

को बढ़ाइये। श्वास छोड़ते हुए मणिपुर से मूलाधार तक यथा अन्दर लेते हुए मूलाधार से मणिपुर तक अपानवायु का ख्याल कीजिये। सहज श्वास के साथ अपान वायु का अनुभव कीजिये।

दूसरी अवस्था– प्राण और अपान वायु के सहज प्रवाह के प्रति सजगता बढ़ाइये। अनुभव कीजिये कि गले से नाभि तक प्राणवायु अन्दर जाती हुई श्वास के साथ नीचे उतर रही है और साथ ही मूलाधार से मणिपुर तक अपान वायु ऊपर उठ रही है। श्वास के अन्त में दोनों वायु उदर में मिल जाती हैं। तब बाहर जाती हुई श्वास के साथ अनुभव कीजिये कि प्राण वायु ऊपर गले की ओर एवं अपान वायु नीचे मूलाधार की ओर बढ़ रही है। इस प्रकार श्रोणि प्रदेश के प्रति अपनी सजगता को बढ़ाइये।

अन्य अभ्यास

पुराने एवं असह्य हाइड्रोसील के लिए कुछ अन्य अभ्यास बड़े ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं। ये अभ्यास गोहाटी के स्वामी शिवानन्द जी द्वारा प्रकाशित किये गये हैं। उनका कहना है कि रोगी को, जब-जब पेशाब या टट्टी के लिए बैठे, अपने अंडकोष को मुट्ठी में पकड़कर जितना संभव हो नीचे की ओर खींचना चाहिए। इसी विधि द्वारा साधारण रोगी को तीन या चार दिन में पूर्ण विश्राम मिलेगा और बहुत पुराने रोगी को करीब एक सप्ताह में।

भोजन से परहेज

सादा शाकाहारी भोजन लेना चाहिए। भात एवं तरल पदार्थ, दाल एवं रसदार सब्जी आदि न लें। रोटी और सूखी सब्जी ठीक है। चाय-कॉफी, मिर्च-मसाले, दूध के बने पदार्थ, मांस और तले हुए पदार्थ न लें। शाम को सूर्यास्त के पूर्व या जितनी जल्दी संभव हो रात का भोजन ले लेना चाहिए।

शल्य क्रिया और ओषधि प्रयोग

हाइड्रोसील का अच्छा इलाज है, संपूर्ण झिल्ली को ऑपरेशन द्वारा हटा देना। शरीर या रक्त-परीक्षण में बुचेरिया ब्रेनक्रोफ्टि इन्फेक्शन के लक्षण देखने पर उपयुक्त ओषधि दी जाती है। यह ओषधि लिम्फेटिक प्रणाली में पनप रहे रोगाणुओं को नष्ट करती है। कई रोगियों को इस ओषधि से लाभ हुआ है। यदि आप ओषधि लेना आरंभ करते हैं तो अमरोली लेना बन्द कर दें।

सप्तम खण्ड

अन्य समस्याएँ

त्वचा – रुग्णता एवं स्वास्थ्य

मानव देह पर मढ़ी हुई यह त्वचा मानवीय संवेदनाओं एवं आकर्षणों का आधार होने के साथ-साथ प्रकृति की एक अनूठी तथा जटिल संरचना है। यह जीवित भी है और मृत भी। यह संवेदनशील भी है, साथ ही बाह्य संवेदनाओं से शरीर की रक्षा भी करती है।

त्वचा की बाह्यतम भित्ति कोशिकाएँ मृतप्राय होती हैं तथा लगातार झड़ती रहती हैं। परन्तु उसकी सतह ओज की दमक एवं स्वास्थ्य की चमक का दर्पण है। इसी प्रकार हमारी त्वचा ही व्यक्तिगत भिन्नता का भ्रमबोध बनाये रखती है कि हम अलग-अलग जाति, वर्ण, देश के हैं। यहाँ तक कि निकटतम व्यक्ति से भी भिन्न हैं, चेतना तो सर्वव्यापी है, शारीरिक भिन्नता ही हमारे मन में व्यक्तिगत अहं का बोध कराती है। मेरी त्वचा मेरी भौतिक सीमाओं का अन्त है और आपकी त्वचा आपकी; परन्तु विज्ञान की दृष्टि में ये सीमा और कुछ नहीं, मात्र एक सतत् झड़ती हुई मृतप्राय कोशिकाओं की सतहें हैं।

ऐसा कहा जाता है कि 'सुन्दरता सिर्फ चमड़ी जितनी गहरी होती है'। हमारी भौतिक भिन्नतायें एवं व्यक्तित्व की विशेषताएँ सभी त्वचा के गुण-धर्म हैं। एक स्वस्थ व्यक्ति तथा योगी की त्वचा चमक लिए हुए होती है, परन्तु एक बीमार व्यक्ति पीला तथा प्राणहीन जान पड़ता है।

चिकित्सा शास्त्र के विद्यार्थियों को यह सीखना पड़ता है कि मरीज की जाँच का पहला कदम है दूर से ही मरीज का रंग और चाल-ढाल देखकर रोग पकड़ना। गोरी चमड़ी वाले लोगों में त्वचा के रंग में परिवर्तन आसानी से देखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, यकृत के रोग त्वचा के पीलेपन से समझ में आ जाते हैं। त्वचा की सफेदी से अल्परक्तता का पता चलता है।

इस प्रकार अनेक रोगों और समस्याओं के लक्षण त्वचा पर दृष्टिगोचर होते हैं। वातावरण के अनुरूप रंग बदल लेने की प्रवृत्ति मनुष्यों में भी होती है। उष्ण तथा उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में सूर्य की अल्ट्रावॉयलेट किरणों से शरीर की रक्षा करने हेतु त्वचा की निचली परतों में *मेलाटॉनिन* नामक पदार्थ जमा हो जाता है, जिससे चमड़ी का रंग साँवला पड़ जाता है। ठण्ढे प्रदेशों में जहाँ धूप नहीं निकलती, वहाँ इसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती, अत: रंग गोरा ही रह जाता है।

त्वचा एक अंग है

हममें से बहुत कम लोग गुर्दों या फेफड़ों की तरह त्वचा को भी विशिष्ट अंग मानने में कठिनाई का अनुभव नहीं करेंगे। यह बात स्पष्टत: समझ लेनी चाहिए कि विभिन्न अंगों की तरह त्वचा भी विशेष प्रकार की कोशिकाओं के संगठन से बना एक महत्त्वपूर्ण अंग है, जो निश्चय ही भौतिक तथा चयापचयी प्रक्रियाओं में सक्रिय योगदान देती है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि त्वचा का स्वास्थ्य शरीर के अन्य अंगों से भिन्न हो, यह संभव नहीं है। अर्थात् शरीर के सभी अंगों का स्वस्थ होना स्वस्थ चमकदार त्वचा के रूप में दृष्टिगोचर होता है। साथ ही भोजन, पाचन, रक्त संचरण एवं यकृत की सुचारु क्रियाशीलता भी स्वस्थ त्वचा के लिए आवश्यक है।

योग चिकित्सा द्वारा त्वचा का स्वास्थ्यवर्द्धन प्रमुखत: दो प्रक्रियाओं के माध्यम से होता है। पहला तो पाचन तंत्र तथा दूसरा रक्त संचार। इसकी महत्ता इस तथ्य से ही स्पष्ट हो जाती है कि अनेक चर्म रोग एवं फोड़े-फुंसियाँ शरीर के भीतर अवस्थित अनेक अंगों की रुग्णता का बाह्य परिणाम बन परिलक्षित होते हैं। अत: इन चर्म रोगों को ठीक करने के लिए सबसे पहले मूल विकृति को ठीक करना, रोग के समूल उपचार का युक्तियुक्त तरीका है। पाचन, निष्कासन एवं संचार के दोषों को दूर किये बिना ओषधियों तथा मलहमों से लक्षणों को दबाने का प्रयास युक्तिसंगत निर्णय नहीं है। इसलिए ये सभी उपाय अधिकांशत: अस्थायी लाभ देते हैं।

त्वचा की संरचना

सूक्ष्मदर्शी यंत्र की सहायता से देखने पर त्वचा एक के ऊपर एक जमी हुई कोशिकाओं की तहों के रूप में दिखाई देती है। प्रत्येक तह को ओषधि

विज्ञान के अनुरूप विभिन्न नाम दिए गए हैं तथा सभी का भिन्न-भिन्न कार्य होता है। नीचे वाली तह की कोशिकाएँ लगातार मृतप्राय हो घिसती एवं झड़ती हैं। यह क्रम जीवनपर्यंत चलता रहता है। इस प्रकार झड़ने वाली कोशिकाएँ अनेक अवांछित तत्त्व शरीर से निष्कासित करती रहती हैं।

इस सतत् क्रियाशील तह के नीचे एक और मजबूत और निष्क्रिय तह रहती है जिसे *'डर्मिस'* कहा जाता है। इस तह में सूक्ष्म रक्त संवाहिनियाँ, संवेदी तंत्रिकाएँ तथा तन्तु अवस्थित रहते हैं। इसी तह के भीतर स्वेद ग्रंथियाँ, तैलीय ग्रंथियाँ एवं रोमकूप इत्यादि रहते हैं, जिनके मुख बाह्य सतह पर खुलते हैं। बाल तथा नाखून भी त्वचा के अवयवों के रूप में गिने जाते हैं तथा रोग भी चर्म रोगों की श्रेणी में आते हैं। अन्य अंगों की अपेक्षा त्वचा को पोषण रक्त संवाहिनियों के अलावा बाह्य सतह द्वारा भी मिलता है, तथा अपशिष्ट पदार्थ रक्त से, कोशिकाओं के झड़ने से, पसीने से तथा तैलीय स्रवण के माध्यम से उत्सर्जित होते रहते हैं।

आयुर्वेद के अनुसार त्वचा की विभिन्न परतें अलग-अलग नामों से वर्णित हैं तथा सभी के विभिन्न कार्य बताए गए हैं। शरीर के सप्त धातुओं में से लगभग सभी धातुओं का त्वचा से संबंध है तथा उनके मल त्वचा द्वारा ही उत्सर्जित होते हैं। मर्दन तथा अनेक ओषधियों का प्रयोग त्वचा के माध्यम से ही वर्णित हैं। इस विज्ञान के अनुसार आन्तरिक संरचनाओं के स्वास्थ्य से त्वचा का सम्बन्ध और भी घनिष्ठ रूप से मालूम होता है। यौगिक एवं आयुर्वेदिक शुद्धिकरण की प्रक्रियाओं से सभी धातुओं में सन्तुलन आता है, मल दूर होते हैं, फलस्वरूप स्वास्थ्य एवं ओज की चमक योगी के शरीर में प्रकट रूप में देखी जा सकती है।

त्वचा के कार्य

1. *सुरक्षा* – त्वचा हमारे शरीर के लिए एक अद्भुत सुरक्षा दीवार सदृश कार्य करती है। बाह्य कीटाणुओं तथा विषाणुओं को भीतर प्रवेश नहीं करने देती। त्वचा यदि कहीं से जल जाये या छिल जाये तो कीटाणु भीतर प्रवेश कर घाव को पका देते हैं तथा अनेक जटिलताएँ पैदा कर सकते हैं। त्वचा के बाहर तैलीय स्रवण की एक पतली तह जमी होती है जो शरीर से जल का वाष्पीकरण रोकती है। जहाँ अधिक घर्षण और वजन पड़ता है वहाँ से त्वचा मोटी होकर अधिक सुदृढ़ आवरण तैयार कर देती है। सुरक्षा

मात्र भौतिक अर्थों में ही नहीं, वरन् प्रतिरक्षात्मक प्रणाली द्वारा सक्रिय कीटाणु विनाश द्वारा भी होती है।

2. *तापमान नियंत्रण*–ठण्ढ में शरीर को गर्म रखने तथा गर्मी में शरीर को ठण्ढा रखने में त्वचा का बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान है। ठण्ढ में त्वचा के नीचे की चर्बी शरीर के तापमान को सुरक्षित रखती है तथा रक्त वाहिनियाँ संकुचित हो ताप के ह्रास से बचाती हैं। इसी प्रकार गर्मी में पसीने के वाष्पीकरण से तापमान कम होता है तथा रक्त वाहिनियाँ फैल कर अधिक रक्त को सतह पर ले आती हैं, ताकि वह जल्दी ठण्ढा हो सके।
3. *उत्सर्जन*–त्वचा आँतों, गुर्दों तथा फेफड़ों के अलावा शरीर का एक प्रमुख उत्सर्जी अंग है। अनेक विषाक्त पदार्थ, पानी तथा लवण इत्यादि त्वचा से उत्सर्जित होते रहते हैं। यही कारण है कि एक व्यक्ति जो रुग्ण है, अवांछित पदार्थों से प्रदूषित है, जिसका भोजन अशुद्ध एवं भारी है, उसकी त्वचा से दुर्गंध आती है, पसीना बदबू देता है। इसके विपरीत स्वस्थ शरीर से कोई अप्रिय गंध नहीं आती। यहाँ तक कि दिव्य पुरुषों के शरीर से हमेशा मृदु सुगंध प्राकृतिक रूप से निकलती रहती है।

अनेक किस्मों की खुजलियाँ एवं चर्म रोग वास्तव में शरीर द्वारा अपशिष्ट मल बाहर फेंकने की कोशिशें हैं, जिन्हें अन्य किसी तरीके से बाहर नहीं फेंका जा सकता था। अक्सर ऐसा तभी होता है जब अन्य उत्सर्जी अंग सुचारु रूप से कार्य नहीं कर रहे हों। उदाहरण के लिए– आँतों में मल अवरोध या कब्ज; गुर्दों की छानने की क्षमता में तुलनात्मक कमी, जिससे रक्त अशुद्धियाँ बढ़ने लगती हैं तथा शरीर के ऊत्तक तथा कोशिकाएँ सुचारु नहीं रह पाते, इसके अलावा शरीर के अनेक अन्य रोगों में चयापचय की गड़बड़ियाँ हो जाती हैं, जिसके कारण अवांछित पदार्थ असामान्य मात्रा में बनने लगते हैं। ऐसा ही अशुद्ध भोजन, तथा अधिक मात्रा में भोजन करने से होता है। ये अवांछित पदार्थ केवल स्थूल रासायनिक तत्त्व नहीं, वरन् सूक्ष्म विकार के रूप में भी रक्त में अशुद्धियाँ उत्पन्न करना शुरू कर देते हैं।

गुर्दों की उत्सर्जी क्षमता की भी एक सीमा होती है। यदि अवांछित पदार्थ नियमित रूप से उस सीमा से अधिक मात्रा में बनते रहें, तो उनका जमा होना स्वाभाविक है। तब शरीर उन पदार्थों को बाहर फेंकने के लिए अन्य विकल्पों को प्रयोग में लाता है। त्वचा तब उत्सर्जन में महत्त्वपूर्ण

भूमिका निभाना प्रारम्भ कर देती है। यहाँ पर यह विचार करना चाहिए कि यदि आम चर्म रोगों को हम तुरन्त मलहमों तथा स्टीरॉयड ओषधियों के माध्यम से दबाना शुरू कर दें तो विषाक्त पदार्थ बाहर निकलना बन्द हो जायेंगे, फलस्वरूप ओषधियाँ बन्द करने पर समस्या और अधिक तीव्रता से उभर सकती हैं। यद्यपि उन्हें हम और अधिक शक्तिशाली ओषधियों से दबाने में सफल हो जाएँ तो भी बातें गौर करने लायक हैं–

पहला तो लक्षणमुक्त होने पर बीमारी से हमारा ध्यान हट जायेगा तथा हम अपने भीतर की गन्दगियों को अज्ञानवश ढोते ही रहेंगे। हम यह सोचेंगे भी नहीं कि हमें अपने आहार-विहार में परिवर्तन लाना या अन्य किसी उपाय द्वारा अशुद्धियों को साफ करना है। चर्म रोग का लक्षण हमें हमेशा यह याद दिलाता है कि अन्दर में कुछ गड़बड़ी या गन्दगी है, उसे पहले साफ करना चाहिए।

दूसरी ओर ये स्थूल तथा सूक्ष्म अशुद्धियाँ यदि बाहर न निकलीं तो भीतर कहीं-न-कहीं अवश्य जमा होंगी, जिनका हमको पता नहीं चलता तथा कुप्रभाव शीघ्र दृष्टिगोचर नहीं होते। अन्ततः एक दिन ये कोई बड़ी बीमारी का रूप लेकर प्रकट हो सकती हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान चूँकि इन तथ्यों से अनभिज्ञ है, इस कारण अभी तक अनेक बीमारियों के मूल कारणों का विश्वसनीय रूप से पता नहीं लग पाया है। इनमें कैंसर भी शामिल हैं।

अतः छोटे-मोटे चर्म रोगों को तुरन्त दबाने की बजाय आहार एवं शरीर के शुद्धिकरण पर ज्यादा ध्यान देना कहीं अधिक बुद्धिमतापूर्ण होगा।

4. *अवशोषण*– त्वचा की सतह से अनेक पदार्थ अवशोषित होते हैं। त्वचा से सूर्य की किरणें अवशोषित हो विटामिन 'डी' का निर्माण करती हैं। अनेक ओषधियाँ त्वचा पर मल देने से अवशोषित हो जाती हैं। जिन उद्योगों में कई प्रकार के रासायनिक पदार्थ उपयोग में आते हैं, वहाँ के उद्यमियों की त्वचा द्वारा वे शरीर में प्रवेश कर जाते हैं तथा मूत्र पथ के कैंसर जैसे रोग उत्पन्न कर सकते हैं।
5. *चयापचय*– त्वचा एक सतत् क्रियाशील कारखाने की तरह है, जिसमें कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, वसा तथा हॉरमोन्स का चयापचय लगातार चलता रहता है।

6. *संवेदनाएँ* – त्वचा स्पर्श बोध का माध्यम है। त्वचा की भित्तियों में अत्यन्त संवेदनशील स्नायु अवस्थित रहते हैं। जो स्पर्श, ताप, कम्पन इत्यादि संवेदनाओं को लगातार मस्तिष्क की ओर प्रेषित करते रहते हैं। यह स्पर्श ज्ञान स्थूल संवेदनाओं से लेकर इन्द्रिय सुख भोग के अनुभवों का माध्यम है। 'पीड़ा' और 'सुख' दोनों ही त्वचा के अनुभव हैं तथा अनेक मानवीय अभिव्यक्तियों का आदान-प्रदान त्वचा से होता है। ज्ञानेन्द्रियों में सूक्ष्मता के आधार पर शब्द के बाद स्पर्श का ही स्थान आता है।

भावनाएँ तथा त्वचा

भावनाओं तथा संवेदनाओं का त्वचा से निकट का सम्बन्ध है। कुण्डलिनी योग के अनुसार स्पर्श *वायु तत्त्व* की तन्मात्रा है, जो सभी क्रियाओं को गति देने का आधार है। मानव के जीवन को भी गति उसकी संवेदनाएँ, भावनात्मक आकर्षण-विकर्षण तथा इच्छाएँ ही देती हैं, क्योंकि वायु तत्त्व तथा स्पर्श तन्मात्रा अनाहत चक्र के गुणधर्म हैं। अनाहत चक्र भावनाओं का उद्‌गम माना गया है। बोल-चाल की भाषा में भी भावनाओं को हृदय से जोड़ा जाता है। त्वचा भावनाओं का दर्पण है 'शर्म से लाल हो जाना', 'क्रोध से लाल-पीला होना', 'शोक से जर्द पड़ जाना', 'दु:ख से काला पड़ जाना', 'भय से पीला पड़ जाना' – ये सभी उक्तियाँ त्वचा के माध्यम से भावनाओं का अभिव्यक्तिकरण दर्शाती हैं। एक कोमल स्पर्श 'हृदय' (त्वचा) छू लेता है, एक कठोर प्रहार 'दिल' (त्वचा) तोड़ देता है। अमूर्त भाषा में त्वचा की संवेदना को सीधे हृदय से जोड़-देना अटपटा नहीं लगता।

अत: इस निष्कर्ष पर भी सरलता से पहुँचा जा सकता है कि भावनात्मक द्वन्द्वों तथा कुंठाओं से कई चर्म रोगों का निकट का सम्बन्ध है।

चर्म रोगों की चिकित्सा करते समय रोग के मूल में स्थित भावनात्मक उलझनों एवं अवरोधों को दूर करना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण हो जाता है जितना कि कोई अन्य उपाय। उदाहरण के लिए *'न्यूरोडर्मेटाइटिस'* एवं *'एक्जीमा'* जैसे रोग, जिसमें अकारण खुजली का लक्षण पैदा हो जाता है तथा त्वचा में अन्य रोग जन्य विकृतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। इस प्रकार के रोग अक्सर अत्यंत तनावग्रस्त और संवेदनशील व्यक्तियों को ही पीड़ित करते हैं। लक्षणों की तीव्रता, बदलती हुई मानसिकता, भावनात्मक एवं व्यक्तिगत परेशानियों के आने-जाने के साथ-साथ बढ़ती-घटती रहती है।

हाथ की हथेलियों तथा पैरों के तलवे से अत्यधिक पसीना निकलना भावनात्मक तनावों से उत्पन्न एक बहुत आम समस्या है। परीक्षा एवं प्रतियोगिता के दबावों के कारण अनेक छात्र-छात्राओं में छिपे असुरक्षा एवं अज्ञात परिस्थिति से भय की भावना का शारीरिक प्रकटीकरण इस रूप में होता है। यौगिक अभ्यासों तथा शिथिलीकरण द्वारा इससे आसानी से मुक्त हुआ जा सकता है।

प्राण प्रवाह तथा त्वचा

एक्यूप्रेशर चिकित्सा प्रणाली का सम्पूर्ण आधार त्वचा के विशिष्ट स्थानों के उत्तेजन से आन्तरिक अंगों को प्रतिवर्ती रूप द्वारा प्रभावित करने पर आधारित है। इन प्रभावों को स्नायविक आधार पर पूरी तरह नहीं समझाया जा सकता। त्वचा में से अनेक *'जैविक ऊर्जा प्रवाह'* की धाराएँ प्रवाहित होती रहती हैं, जिन्हें योग में *'प्राणिक नाड़ियों'* की संज्ञा दी जाती है। ये धाराएँ स्थूल आवेश ही नहीं, वरन् सूक्ष्म ऊर्जा का प्रवाह है, जिसे *'बायोप्लाज्म'* के नाम से जाना जाता है। इन प्रवाह धाराओं का एक ओर तो बाह्य त्वचा से तथा दूसरी ओर आन्तरिक अंगों से सम्बन्ध रहता है और ये प्रवाह धाराएँ कुछ विशिष्ट बिन्दुओं से बाह्य, ब्रह्माण्डीय या आसपास व्याप्त ऊर्जा क्षेत्रों से प्रभावित हो अन्तर्क्रिया करती रहती हैं। इन बिन्दुओं को आयुर्वेद में *मर्म स्थान* या *एक्यूपॉईन्ट* कहा जाता है। इन्हीं के माध्यम से आन्तरिक ऊर्जा तंत्र को प्रभावित करना संभव है।

कई बार व्यक्ति उस अंग में पीड़ा या कष्ट का अनुभव करता रहता है जो अब शरीर में है ही नहीं। इस बात का पारंपरिक शरीर विज्ञान के पास उत्तर नहीं है। भौतिक अंग विच्छेद हो जाने के बाद भी ऊर्जा प्रवाह धाराएँ, जो अभौतिक हैं, कुछ देर तक क्रियाशील रहती हैं। वे ही इन अनुभूतियों को जन्म देती हैं, जिसे चिकित्सा शास्त्री *'फैण्टम लिम्ब'* कहते हैं। हम अब यह भी समझ सकते हैं कि किस प्रकार प्राणिक नाड़ियों के प्रवाह अवरोध से भी चर्म रोग उत्पन्न हो सकते हैं। इन नाड़ियों के अवरोध दूर करने तथा शोषण करने का सशक्त उपाय योग है। आसन, प्राणायाम तथा हठयौगिक शुद्धिकरण प्रक्रियाओं द्वारा प्राणिक अवरोध सरलता से दूर हो सकते हैं। यौगिक मत के अनुसार सभी प्राणिक नाड़ियों का अनाहत चक्र से कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य रहता है। अत: अनाहत की गड़बड़ियों से भी प्राण प्रवाह का अवरोध होना त्वचा से दोषों को उत्पन्न करता है।

प्रतिरक्षा प्रणाली तथा त्वचा

त्वचा की भीतरी सतह पर अनेक कोशिकाएँ, जिनका सम्बन्ध प्रतिरक्षा प्रणाली से होता है, सक्रिय रूप से अवस्थित रहती हैं। वे लगातार त्वचा से प्रविष्ट होने वाले रासायनों, कीटाणुओं तथा विषाणुओं की पहचान तथा प्रतिरक्षा प्रणाली द्वारा उनके विनाश के लिए जैव रासायनिक स्रावों द्वारा वांछित परिस्थितियों का निर्माण करती रहती हैं।

चूँकि त्वचा लगातार बाह्य वातावरण के सीधे सम्पर्क में रहती है, अत: अनेक पदार्थों से उसका सतत् सम्पर्क बना रहता है। त्वचा की सतह पर एक-एक इंच में करोड़ों जीवाणु घर किये रहते हैं, जिनमें कुछ खतरनाक किस्म के जीवाणु भी होते हैं। परन्तु इसी प्रतिरक्षा प्रणाली के सक्रिय प्रतिरोध के कारण वे रोग उत्पन्न करने में सफल नहीं हो पाते। परन्तु यदि किसी कारणवश प्रतिरक्षा प्रणाली कमजोर पड़ जाये तो रोग उत्पन्न करने वाले कीटाणु तेजी से अपनी संख्या में गुणात्मक वृद्धि कर रोग के लक्षण प्रकट कर देते हैं।

प्रतिरक्षा प्रणाली का प्रतिरोध कई कारणों से कमजोर हो सकता है। उदाहरण के लिए, किसी अन्य शारीरिक रोग के कारण या चयापचय का असन्तुलन, जैसे – मधुमेह; या मनोभावनात्मक अवरोध, जैसे – तनाव तथा नैराश्य; या शरीर में विषाक्त तत्त्वों का जमाव इत्यादि। कैंसर तथा एड्स जैसे गंभीर रोग भी चर्म रोग के रूप में परिलक्षित हो सकते हैं।

जब तक अन्तर्निहित कारणों को दूर नहीं किया जाता तब तक संक्रामक रोगों को समूल नष्ट करना मुश्किल हो जाता है। हालाँकि एण्टीबायोटिक्स, एण्टीफंगल तथा अन्य ओषधियों का प्रयोग लाक्षणिक उपचार हेतु सफलतापूर्वक किया जाता है, परन्तु अक्सर ये रोग बार-बार सताने लगते हैं, उस अवस्था में आन्तरिक शुद्धिकरण की प्रक्रिया अनिवार्य हो जाती है। बार-बार होने वाले फोड़े-फुंसियाँ तथा मुँहासे इस बात का स्पष्ट उदाहरण हैं।

दूसरी महत्त्वपूर्ण परिस्थिति है – प्रतिरक्षा प्रणाली की विकृत प्रतिक्रियाएँ, जिससे अनेक *'एलर्जी'* सम्बन्धी चर्म रोग तथा *ऑटो इम्यून* रोग उत्पन्न होते हैं। चिकित्सा विज्ञानियों द्वारा ज्ञात सभी नामों को गिनना तथा उसकी विस्तृत चर्चा करना तो यहाँ संभव नहीं है, परन्तु मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि त्वचा की परतों में अवस्थित कोशिकाओं का स्नायविक अन्त:स्रावी

प्रतिरक्षात्मक रक्त एवं लिम्फ संचरण प्रक्रियाओं से तथा रासायनिक चयापचय से निकट का सम्बन्ध रहता है। ये सभी प्रक्रियाएँ एक-दूसरे से जटिल अन्तर्क्रिया के माध्यम से त्वचा का स्वास्थ्य तथा रोग निर्धारित करती हैं। और इन सभी स्थूल प्रक्रियाओं का मन, प्राण, भावना तथा शुद्धिकरण की अवस्था जैसी सूक्ष्म प्रक्रियाओं से अन्तर्सम्बन्ध वास्तव में इन रोगों की समझ तथा वास्तविक उपचार को बहुत जटिल बना देता है।

कुछ प्रमुख चर्म रोग

1. फोड़े-फुंसियाँ तथा मुँहासे – अक्सर किशोरावस्था में यह समस्या अनेक नवयुवकों एवं युवतियों को परेशान करती है। बदलते हुए शारीरिक और मनोभावनात्मक परिवेशों के कारण तथा अन्त:स्रावी ग्रंथियों के स्राव में असन्तुलनों के कारण यह समस्या उत्पन्न होती है। हालाँकि बाजार में अनेक मलहम तथा नुस्खे प्रचलित हैं, पर इन सबके द्वारा इसका समुचित समाधान होना बहुत मुश्किल है।

योगासनों, विशेषत: सूर्य नमस्कार तथा प्राणायामों के अभ्यास से अन्त:स्रावी तंत्र सुचारु बनता है। खान-पान पर नियंत्रण तथा नियमित जीवनचर्या भी उपचार का आवश्यक अंग है। संयत शाकाहारी भोजन सर्वोत्तम है। हठयौगिक क्रियाओं से मल निष्कासित होते हैं तथा आन्तरिक शुद्धिकरण होता है। इस समस्या से मुक्त होने के लिए रक्त का शुद्ध होना प्राथमिक आवश्यकता है, जिसके लिए अमरोली सहायक है। सेवन तथा लेपन दोनों ही अनुशंसित हैं। खुली हवा में घूमना, खेलना, कूदना, तैरना, तथा प्रसन्न रहना भी उतना ही जरूरी है जितना पढ़ाई-लिखाई तथा कैरियर।

2. दाद-खाज खुजली – यह एक प्रकार की फफूँदी द्वारा संक्रमण है। यह चर्म रोग अक्सर गीले रहने वाले स्थानों पर, जहाँ त्वचा की तहें आपस में घर्षण करती हैं, उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए, जंघामूल, काँख, तथा पैरों की ऊँगलियों की पोरों के बीच में। नाइलोन इत्यादि कृत्रिम वस्त्रों तथा गीले अन्त:वस्त्र धारण करने से लक्षण उभरते हैं। त्वचा में चकत्ते बन जाते हैं, जिनमें तीव्र खुजली होती है। यह रोग आन्तरिक अशुद्धियों की अधिकता तथा कोशकीय चयापचय द्वारा उत्पन्न अम्लीय पदार्थों का जमाव दर्शाता है।

उपचार हेतु घाव को सूखा तथा धूप एवं हवा में खुला रखना चाहिए। गीले कपड़े नहीं पहने, पसीना पोंछ दें या कपड़े बदल लें। अन्य उपायों के

साथ-साथ शंखप्रक्षालन द्वारा आन्तरिक अम्लीय मलों को दूर करना सर्वोत्तम उपचार है। प्रारम्भ में लाक्षणिक लाभ हेतु फफूँदनाशक ओषधि लेपन सहायक होता है। परन्तु आन्तरिक शुद्धिकरण शीघ्र किये बिना समस्या बार-बार सताती रहती है।

3. हर्पीज – यह एक अत्यन्त पीड़ादायी विषाणु संक्रमण है जो त्वचा की सतह पर एक पट्टे के रूप में ढेर सारी छोटी-छोटी, पानी भरी फुंसियों के रूप में उभरता है। ऐसा माना जाता है कि बचपन में निकली छोटी माता के रूप में रोगाणु स्नायु तंत्र के भीतर चुपचाप पड़े रहते हैं, जैसे ही शरीर की प्रतिरोधी क्षमता क्षीण अथवा जीवनीशक्ति दुर्बल होती है रोगाणु पुन: क्रियाशील हो रोग उत्पन्न कर देते हैं।

यौगिक विचारधारा के अनुसार जीवनीशक्ति के प्रवाह में अवरोध ही इसका मूल कारण है। यह समस्या अक्सर सीने के एक ओर पसलियों के बीच उभरती है। इस स्थान का सम्बन्ध अनाहत चक्र से होता है।

दूसरा उदाहरण है बुखार के दौरान बुखार उतरते समय मुँह के चारों तरफ इन छोटी-छोटी फुंसियों का हो जाना। ये भी शरीर की घटी हुई जीवनीशक्ति को इंगित करते हैं। ये सर्दी-जुकाम के साथ अक्सर जुड़े रहते हैं। इन बार-बार होने वाले रोगों पर हठयोग, सूर्य नमस्कार तथा प्राणायामों के नियमित अभ्यास द्वारा आसानी से नियंत्रण पाया जा सकता है।

4. सोरियासिस – यह बार-बार होने वाला चर्म रोग है। त्वचा पर अनेक भद्दे धब्बे उभर आते हैं, जो वास्तव में अचेतन मन की गहराई में अवस्थित विकृति का बाह्य प्रकटीकरण है।

असन्तुलित प्राणविहीन आहार तथा अनियमित, असंयत, जीवनचर्या इसके प्रमुख कारक हैं। अत्यधिक कार्बोहाइड्रेट युक्त भोजन, चर्बी का गलत समायोजन तथा रक्त एवं त्वचा में कोलेस्ट्रॉल की अधिकता भी विकृति को बढ़ाते हैं। जीवन में जब-जब तनावपूर्ण क्षण आते हैं, रोग के बड़े-बड़े चकत्ते चमड़ी पर एवं सिर पर दृष्टिगोचर होने लगते हैं। त्वचा की कोशिकाओं का अनियंत्रित चयापचय तथा रक्त संचरण और प्रतिरक्षा प्रणाली इत्यादि की जटिल अन्तर्क्रिया विकृत हो इन चकत्तों को उत्पन्न करती है।

इस रोग का स्थायी निदान चिकित्सा विज्ञान में आज तक उपलब्ध नहीं हो पाया है, परन्तु एक उद्यमी एवं समझदार व्यक्ति को यौगिक अभ्यासों की

सहायता से रोग के मूल को पहचान कर उससे उबरने में अवश्य मदद मिल सकती है। धैर्यपूर्वक दीर्घकाल तक नियमित योग चिकित्सा का पालन करने पर रोगमुक्त होना संभव है। आहार-शुद्धि के अलावा नियमित दिनचर्या अपनाना एवं जीवन के प्रति सन्तुलित मानसिकता को धारण करना प्राथमिक आवश्यकता है। यौगिक साधना कार्यक्रम में सिर के बल किये जाने वाले आसन तथा प्रात:काल सूर्य की रोशनी में सूर्य नमस्कार एवं प्राणायाम करना बहुत लाभप्रद हो सकता है। सात दिन पुराने शिवाम्बू का लेप कर कुछ देर रोज धूप सेंकना चाहिए तथा घावों को जितनी बार हो सके, खारे पानी से धोना चाहिए।

त्वचा का कैंसर

यह गौर वर्ण लोगों के चेहरे तथा बाहों पर होता है। यह उष्ण कटिबंधीय देशों में अधिक समय तक त्वचा को सूर्य प्रकाश में खुला रखने के परिणामस्वरूप होता है। धूप में निकलने के पूर्व त्वचा पर 'सनस्क्रीन' युक्त लेप तथा चौड़ी किनारे वाला हैट पहनना रोग से बचाव के लिए आवश्यक है। प्राणायाम तथा आहार परिवर्तन के साथ अमरोली का अभ्यास बड़ा लाभप्रद होता है। तीन से सात दिनों तक पुराने शिवाम्बू की रोग-ग्रस्त त्वचा पर मालिश, योगाभ्यास तथा आहार संयम द्वारा त्वचा कैंसर का सफल उपचार तथा नियंत्रण दोनों हो सकता है।

चर्म स्वास्थ्य हेतु सामान्य यौगिक साधनाक्रम

व्यक्ति विशेष की समस्या के अनुरूप इस कार्यक्रम को योग्य निर्देशन में आवश्यकतानुरूप परिवर्तित किया जा सकता है।

1. *सूर्य नमस्कार* – प्रात: उदय होते हुए सूर्य के सम्मुख, जब तक पसीना न निकले, तब तक अभ्यास करना चाहिए। तदुपरान्त पसीना सूखने तक सूर्य की रोशनी में लेटकर शवासन का अभ्यास करना चाहिए। सुबह के समय सूर्य की रोशनी में कुछ विशिष्ट किरणों की अधिकता होती है जो बाह्य अंगों को सुदृढ़ता और स्वास्थ्य प्रदान करती हैं।
2. *प्राणायाम* – भस्त्रिका तथा नाड़ी शोधन प्राणायाम का अभ्यास प्रतिदिन प्रात: करना चाहिए। अन्त: और बहिर्कुम्भक के साथ बन्धों का अभ्यास भी धीरे-धीरे जोड़ा जा सकता है।

3. *हठयौगिक षट्क्रियाएँ*– प्रतिदिन जल नेति, कुंजल तथा लघुशंखप्रक्षालन का अभ्यास करना चाहिए। लक्षणों की तीव्रता कम होने पर कुंजल एवं प्रक्षालन की आवृत्ति घटाई जा सकती है। चिकित्सा कार्यक्रम की शुरुआत में किसी आश्रम के वातावरण में पूर्ण शंखप्रक्षालन का अभ्यास कर लेना चाहिए।

   इन अभ्यासों से आँतों के अलावा पूरे शरीर से भी मल साफ होते हैं, रक्त शुद्ध होता है, जीवनी शक्ति का संचार बढ़ता है तथा प्राणिक नाड़ियों के अवरोध दूर होते हैं। अत: चर्म रोगों की चिकित्सा में इनका बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है।

4. *योगनिद्रा तथा ध्यान*– मनोभावनात्मक तनावों को दूर करने तथा संकल्प शक्ति विकसित करने में योगनिद्रा बहुत सहायक होती है। अपने विचारों तथा मानसिक विकारों के प्रति साक्षी भाव अंतर्मौन के अभ्यास से विकसित किया जाता है तथा उनके प्रहारों को प्रभावहीन बना, मानसिक स्तर पर सन्तुलन कायम किया जाता है।
5. *भोजन*– हल्के शाकाहारी भोजन का, जिसमें क्षारयुक्त पदार्थ, जैसे – फल, सब्जियाँ, सलाद तथा रस इत्यादि प्रचुर मात्रा में हों, सेवन करना चाहिए। तेल, मिर्च-मसाले, मिठाइयाँ, शक्कर, मैदा, नमक, खटाई तथा मांस, अंडा, दूध एवं दूध से बने पदार्थों का सेवन बन्द कर देना चाहिए। तदुपरान्त एक महीने तक दिन में सिर्फ एक बार भोजन खाकर रहना चाहिए।
6. *अमरोली*– चर्म रोगों में अमरोली की भूमिका अहम् है, क्योंकि इसे सीधे रोगग्रस्त त्वचा एवं मुँह और आँख में लगाना संभव है। घावों पर ताजा शिवाम्बू डालने पर तीव्र लाक्षणिक लाभ होता है। सफेद दाग, सोरियासिस तथा त्वचा कैंसर इत्यादि पर भी इसका प्रयोग किया जा सकता है। लेपन के साथ सेवन दुगुना लाभ देता है। प्रयोग के पहले आहार का शुद्ध होना आवश्यक है तथा ओषधीय सेवन बन्द कर देना चाहिए। विस्तृत जानकारी हेतु योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'अमरोली' देखें।

अन्य सुझाव

- प्रतिदिन प्रात: ठण्ढे पानी से स्नान तथा मालिश।
- साबुन, शैम्पू तथा सौन्दर्य सामग्री का उपयोग कम-से-कम।

- घावों को साफ तथा सूखा रखना चाहिए। यदि सूखा रखना संभव न हो तो किसी उचित प्राकृतिक मलहम से त्वचा को नरम रखना चाहिए। यदि हो सके तो घाव को खुली धूप एवं हवा के सम्पर्क में आते रहने दें। रोज कम-से-कम एक बार घाव को सावधानीपूर्वक धोकर (किसी हल्के एन्टीसेप्टिक से) सुखा लें।
- कब्ज नहीं होनें दें तथा पाचन तंत्र को साफ रखें।
- खूब पानी पीयें।

स्फीत शिरा (वैरीकोज वेन्स)

पैरों की त्वचा के नीचे सतही शिराओं के फैलकर लम्बे तथा टेढ़े-मेढ़े होकर गुच्छा बना लेने को स्फीत शिरा कहते हैं। इसके कारण व्यक्ति शाम होते-होते अपने पैरों में भारीपन, थकावट तथा पीड़ा का अनुभव करने लगता है। यह आसानी से पहचानी जा सकने वाली व्याधि केवल मनुष्यों को ही उनके दो पैरों पर सीधे खड़े होने के कारण रक्त-संचार की विशिष्ट परिस्थितियों के कारण उत्पन्न होती है।

यह समस्या प्रमुखत: अधेड़ तथा वृद्ध आयु की विशिष्टता है, परन्तु किसी भी आयु में पिंडली की मांसपेशियों तथा शिराओं को क्षति पहुँचने से या शिराओं के रक्त प्रवह में अवरोध होने के कारण उत्पन्न हो सकती है। कभी-कभी आनुवांशिक प्रवणता भी पायी जाती है, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आती है तथा खासकर महिलाओं में गर्भावस्था के दौरान उभर आती है। जो लोग लम्बे समय तक खड़े होकर काम करते हैं, जैसे कि – मशीन चलाने वाले, फैक्ट्री में काम करने वाले, ट्रैफिक पुलिस वाले, शल्य चिकित्सक, नाई, काउंटर पर खड़े रहने वाले दुकानदार या रिक्शेवाले इत्यादि, इन लोगों में इस समस्या के उत्पन्न होने की संभावना बढ़ जाती है।

प्रश्न यह उठता है कि शिरा विकृति आखिर उत्पन्न कैसे होती है। इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले हमें यह समझना होगा कि हाथ-पैरों से अशुद्ध रक्त वापस हृदय में कैसे पहुँचता है। हृदय शुद्ध रक्त को लगातार शरीर में रक्त नलिकाओं के माध्यम से फेंकता रहता है। यह रक्त पैरों की तरफ प्रवाहित होते समय गुरुत्वाकर्षण से प्रभावित हो आसानी से नीचे चला जाता है और दूसरा उसे गुरुत्वाकर्षण के विपरीत चढ़ना पड़ता है। सामान्य कद-काठी के

खड़े हुए व्यक्ति में रक्त को हृदय तक वापस पहुँचने के लिए कम-से-कम चार फुट की ऊँचाई तक शिराओं से होते हुए ऊपर चढ़ना पड़ता है। इस मुश्किल कार्य को सम्पादित करने हेतु प्रकृति ने बहुत बुद्धिमतापूर्वक एक यांत्रिकी तकनीक का प्रयोग किया है। शिराओं के भीतर में थोड़ी-थोड़ी दूर पर वाल्व लगे रहते हैं, जिनसे होकर रक्त ऊपर तो चढ़ सकता है, परन्तु वापस नहीं लौट सकता।

इसके अतिरिक्त चलते-फिरते समय इन शिराओं पर पिंडलियों की मांसपेशियों के आकुंचन द्वारा भी दबाव पड़ता है। इस प्रकार बारम्बार होने वाले आकुंचन के फलस्वरूप शिराओं में भरा रक्त ऊपर की ओर धकेला जाता रहता है। रक्त प्रवाह को एकमात्र दिशा में दिशा-निर्देशित करने वाले ये वाल्व शिरा संचार का एक महत्त्वपूर्ण अंग है जो रक्त को पैरों की ओर वापस लौटने से रोकते हैं।

समस्या को समझने हेतु पैरों से रक्त वापस लौटने की प्रक्रिया को थोड़ी और गहराई से समझना आवश्यक होगा। पैरों से रक्त वापस लाने हेतु शिराओं के दो पृथक् तंत्र होते हैं। एक तो 'सतही शिराएँ' जो त्वचा के नीचे रहती हैं, तथा दूसरी 'आन्तरिक शिराएँ' जो जाँघ एवं पिंडली की मांसपेशियों में से होकर गुजरती हैं। *'सतही शिरा तंत्र'* तथा *'आन्तरिक शिरा तंत्र'* आपस में एक-दूसरे से दो जगहों पर मिलते हैं। पहला, जंघामूल में, दूसरा, घुटनों के पीछे। इनके अलावा अनेक छोटी-छोटी वाल्वयुक्त शिराएँ सतही तंत्र से आन्तरिक तंत्र को जोड़ती हैं तथा सतह के रक्त को भीतर ले जाती हैं ताकि भीतरी शिराओं से मांसपेशीय दबाव के द्वारा रक्त को ऊपर पम्प कर सकें।

सामान्य अवस्था में रक्त सतही शिराओं से भीतरी शिराओं की ओर एक ही दिशा में बहता है, ताकि भीतरी शिराओं का रक्त दबाव से वापस न लौट सके, बल्कि ऊपर चढ़ता जाये। अब मान लीजिये कि व्यक्ति एक स्थान पर सीधा खड़ा हुआ है। उस अवस्था में उनका मांसपेशीय पम्प भी निष्क्रिय है और रक्त के पूरे स्तंभ का दबाव (90 मि.मी.से भी अधिक) वाल्व पर पड़ता है। वाल्व यदि मजबूत हो तो दबाव सह लेता है, परन्तु जब किसी अनुवांशिक कमजोरी या दीर्घकालीन दबाव के कारण वाल्व रक्त दबाव को झेल सकने में असमर्थ हो जाता है तो उसके फलस्वरूप आन्तरिक शिराओं से सतही शिराओं में रिसने लगता है। दबाव के कारण जब अधिक मात्रा में रक्त सतही शिराओं में रिसता है तो सतही शिराएँ फैल जाती हैं तथा खींच कर टेढ़ी-मेढ़ी

एवं फूली हुई दिखाई पड़ने लगती हैं। इसके अलावा दो और अन्तर्सम्बन्धित तरीकों से स्फीत शिरा उत्पन्न हो सकती हैं–

1. हृदय की ओर वापस जाते समय रक्त प्रवाह में किसी प्रकार का अवरोध विपरीत दिशा में रक्त का दबाव बढ़ा देगा, जिससे शिराएँ फैलेंगी तथा वाल्व जबरदस्ती कमजोर और निष्क्रिय हो रक्त के रिसाव को बढ़ा देगा। यह अवस्था गर्भावस्था के समय उत्पन्न होती है जब पेट में विकसित होता हुआ शिशु अधिकाधिक स्थान घेरना शुरू करता है। उस समय आकार में बढ़ता हुआ गर्भाशय शिराओं को दबाने लगता है। इसीलिए स्फीत शिरा गर्भावस्था के दौरान आम तौर पर देखने में आती हैं। अधिकांशत: गर्भावस्था समाप्त होने पर समस्या स्वत: ठीक हो जाती है, विशेषत: जब माँ द्वारा प्रसवोपरान्त यौगिक अभ्यासों को प्रयोग किया जाये। इसके अलावा पेट में होने वाली गाँठ, ट्यूमर या कैंसर भी शिराओं पर दबाव डाल कर स्फीत शिरा उत्पन्न कर सकता है। इसीलिए योग चिकित्सा शुरू करने से पहले हर मरीज की पूरी चिकित्सकीय जाँच होना आवश्यक है।
2. किसी संक्रमण या दीर्घकालीन निष्क्रियता के कारण आन्तरिक शिराओं में रक्त संचार बिल्कुल धीमा होकर थक्का बना लेता है। जिसे *डीप वेन थ्रोम्बोसिस* की संज्ञा दी जाती है। इस अवस्था में सतही शिराओं का रक्त आन्तरिक शिराओं में जा नहीं पाता, अत: तीव्रता से स्फीत शिरा उत्पन्न हो सकती है। यह एक विरली, पर पीड़ादायी और गंभीर समस्या है, जिसकी आपातकालीन चिकित्सा आवश्यक है।

स्फीत शिरा के मरीजों का सबसे आम लक्षण है शाम होते-होते थकान तथा कड़ापन या हल्के दर्द की अनुभूति का होना। कभी-कभी इसके साथ शिरा विकृति के स्थान पर तीव्र पीड़ा का भी अनुभव हो सकता है। एड़ियों की सूजन तथा पैरों की त्वचा पर खिंचाव व खुजली भी समस्या को और विकृत बना देती है। सामाजिक रूप से सक्रिय व्यक्ति इस विकृति को लेकर सबके सामने आना पसंद नहीं करते तथा छिपा कर रखते हैं, फलस्वरूप और भी निष्क्रिय बनते जाते हैं।

सौभाग्यवश सामान्य बुद्धि, यौगिक क्रियाओं तथा शल्य क्रिया के समुचित समन्वय से इस विकृति का संतोषजनक हल निकाला जा सकता है।

शल्य चिकित्सा

विकृत शिराओं को शल्य क्रिया द्वारा निकाल दिया जाना तब आवश्यक हो जाता है जब समस्या बहुत बढ़ी हुई हो तथा लाचार बना देने की अवस्था तक पहुँच गई हो। परन्तु यह स्मरण रहे कि शल्य-क्रिया द्वारा स्फीत शिरा के मूल कारणों का उपचार नहीं होता, न ही समस्या के प्रति प्रवणता कम की जाती है। इसीलिए कभी-कभी शल्य-क्रिया के कुछ समय बाद जो शिराएँ पहले ठीक थीं उनमें पुन: विकृति आना आरंभ हो जाती है। अत: जो लोग शल्य-चिकित्सा करवा लेते हैं, उनके लिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि वे यौगिक चिकित्सा तथा अन्य उपयोगी सुझावों को अमल में लाते रहें ताकि रक्त का संचार शिराओं में सुचारु रूप से होता रहे तथा दुबारा ऑपरेशन की नौबत न आये।

योग चिकित्सा

रोग की प्रारंभिक अवस्था की चिकित्सा में आसनों का अभ्यास बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। इनसे न केवल लक्षणों में आराम पहुँचता है, वरन् कुछ रोगियों के क्षत वाल्व भी पुन: सक्रिय रूप से कार्य करना प्रारम्भ कर देते हैं। इन आसनों के नियमित तथा लगातार अभ्यास से अनेक व्यक्ति अपनी दशा में बहुत कुछ सुधार ला पाने में सफल हुए हैं।

सिर के बल किये जाने वाले सभी आसन महत्त्वपूर्ण हैं। इनके अभ्यास से पैरों में रुके हुए रक्त को पुन: हृदय की ओर लौटने में सहायता मिलती है, जिसके फलस्वरूप पैरों की शिराओं में दबाव कम होता है तथा वे पुन: अपने आकार में लौट आती हैं तथा वाल्वों की क्रियाशीलता पुन: प्रतिस्थापित होने लगती हैं। सिर के बल किये जाने वाले प्रत्येक आसन के पश्चात् कुछ देर शवासन में आराम करना अवश्य याद रखें।

प्रतिदिन प्रात: तथा संध्या को तथा जब कभी पैरों में थकावट या भारीपन महसूस हो तो कुछ मिनटों तक सर्वांगासन का अभ्यास करें। जब तक किसी कुशल निर्देशक का प्रत्यक्ष निर्देशन न मिले, तब तक प्रारंभिक अभ्यासियों को शीर्षासन नहीं करना चाहिए, न ही इसे लंबे समय तक किया जाना चाहिए। पिण्डलियों तथा पैरों की मांसपेशियों पर खिंचाव डालने वाले आसन मांसपेशीय पम्प को दुरुस्त तथा विकसित करते हैं। कमजोर एवं शिथिल मांसपेशियों के कारण शिराओं के वाल्वों पर अधिक दबाव पड़ता

है। कई व्यक्तियों में वेरिकोज वेन्स के लक्षण का मूल कारण कमजोर तथा आकर्मण्य मांसपेशियाँ ही होती हैं। इन आसनों के अभ्यास से मांसपेशियाँ मजबूत बनती हैं तथा रक्त-संचार सुचारु बनते ही रोग के सारे लक्षण समाप्त हो जाते हैं।

इसके लिए पवनमुक्तासन, सुमेरु आसन, ताड़ासन, पादहस्तासन तथा पश्चिमोत्तानासन इत्यादि उपयोगी हैं। इन आसनों को करते समय पिंडलियों पर पूरा खिंचाव पड़ना आवश्यक है। उदाहरण के लिए, सुमेरु आसन करते समय एड़ियाँ जमीन पर लगनी चाहिए, पश्चिमोत्तानासन में पंजों को अपनी ओर खींचना चाहिए तथा ताड़ासन में एड़ी को यथासंभव ऊपर उठाना चाहिए। इसके अलावा शवासन में लेटकर दोनों पैरों से साइकिल चलाने की क्रिया का अभ्यास पैरों की शिराओं तथा वाल्वों के लिए विशेष लाभकारी है। सूर्य नमस्कार एक गत्यात्मक आसन समूह है जिसमें अनेक लाभ सन्निहित हैं। प्रतिदिन प्रात: सर्वप्रथम इसके कुछ चक्र अवश्य करने चाहिए।

उपयुक्त चिकित्सा पद्धति का चुनाव व्यक्तिगत अभिरुचि, सामर्थ्य तथा रोग की अवस्था पर निर्भर करता है। स्फीत शिरा की सभी अवस्थाओं में चिकित्सा पद्धतियों का मिला-जुला प्रयोग अवश्यत: लाभ पहुँचाता है। परन्तु यह याद रखें कि समस्या रातों-रात पैदा नहीं हुई है, अत: तुरन्त गायब भी नहीं होगी। कुछ काल का नियमित अभ्यास आवश्यक है।

आसनों के अभ्यास से आपको पैर दर्द में तुरन्त लाभ महसूस होगा, कुछ हफ्तों या महीनों के नियमित अभ्यास से जैसे-जैसे पेशियाँ तथा शिराएँ मजबूत होंगी तो आश्यर्चजनक परिणाम दृष्टिगोचर हो सकते हैं। विशेषत:, जब शुरुआत में विकृति बहुत अधिक न हो तो शल्य चिकित्सा का निर्णय लेने के पहले कुछ दिनों तक इन अभ्यासों को आजमा लेना बुद्धिमानी होगी।

अन्य सुझाव

- लम्बे समय तक लगातार खड़े रहकर काम करते रहना कम कीजिये। यदि ऐसा संभव न हो पाये तो पैरों की मांसपेशियों को सिकोड़-फैलाकर या चलते-फिरते रहकर उनकी क्रियाशीलता बनाए रखें। चलने का एक विशेष तरीका अपनाएँ, जिससे पिंडली के मांसपेशीय पम्प पर अधिकतम प्रभाव पड़े, यथा हर कदम के साथ सबसे पहले एड़ी को जमीन पर रखें, फिर पंजे को जमीन पर लाइये। तत्पश्चात् ऐच्छिक रूप से पिंडली की

पेशी को स्प्रिंग की तरह उपयोग में लाते हुए एड़ी को जमीन से ऊपर उठाने हेतु प्रयोग में लाइये तथा शरीर को आगे ले जाइये।

- पैरों को जितनी देर शरीर के स्तर से ऊपर उठाकर आराम कर सकते हैं, कीजिये। यदि टेबल-कुर्सी पर बैठते हों तो पैरों को नीचे रखने के बजाय सामने एक स्टूल पर रखकर बैठिये (इसी प्रकार आराम कुर्सी पर लेटते समय पैरों को ऊँचे स्थान पर टिकाकर रखने की व्यवस्था कीजिये।) सोते समय पैरों के नीचे भी तकिया रखिये या बिस्तर के निचले पायों के नीचे 2-2 ईंट या लकड़ी का टुकड़ा रखवा लीजिये।

गर्भावस्था के दौरान करवट में लेटकर सोने से शिरा प्रवाह में अवरोध न्यूनतम होगा। इस अवस्था में ज्यादा से ज्यादा समय मत्स्यक्रीड़ासन में लेटकर विश्राम करना सर्वोत्तम तरीका है। हाथों और मुड़े हुए पैर के नीचे नरम तकिया रख लेना आरामदायक लगेगा। वैकल्पिक तौर पर पीठ के बल लेटकर पैरों को दीवार के सहारे ऊपर टिका कर भी आराम किया जा सकता है।

- कुछ लोग सुबह से शाम तक पैरों पर इलास्टिक युक्त पट्टी बाँधने से सबसे अधिक आराम का अनुभव करते हैं, परन्तु रोगी इससे परेशानी तथा मुक्त गतिविधि में अवरोध महसूस करते हैं। इस पट्टी के दबाव से रक्त शिराओं में जमता नहीं है तथा संचार में सहायता मिलती है, बशर्ते इसे बहुत कसकर न बाँधा जाये। रात भर पैर ऊपर उठाकर सोने से तो शिराएँ वैसे ही खाली रहेंगी, अत: सुबह उठकर पैर को शिराविकृति के कुछ ऊपर के स्थान से लेकर नीचे तक पट्टी में लपेट देने से शिराओं में रक्त नहीं भर पायेगा। जब पेशियाँ पट्टी के अतिरिक्त दबाव के सहारे आकुंचित होंगी तो इससे मांसपेशीय पम्प को सहायता मिलेगी। दिन में कुछ घंटों के अन्तराल पर बीच-बीच में पट्टी को खोलकर पैर ऊपर टिकाकर विश्राम करें, उसकी मालिश कर लें, फिर पुन: पट्टी बाँधकर काम में लग जायें। रात को सोने से पहले पट्टी अवश्य खोलकर रख दें।
- स्फीत शिरा के कारण होने वाले पैर दर्द में मालिश बहुत आराम पहुँचाती है। कई लोग मालिश को क्षणिक आराम देने वाली क्रिया मानते हैं, परन्तु इसका कालक्रम में उपचारात्मक प्रभाव भी होते देखा गया है, विशेषत: जब इसे नियमित तौर पर सजगतापूर्वक किया जाये। शाम को इससे दिनभर की थकावट दूर हो जाती है। मालिश करते समय मांसपेशियों

को दबाना और हृदय की ओर संचार को गति देनी चाहिए। गर्भावस्था में मालिश का प्रयोग विशेष रूप से लाभ पहुँचाता है।

इस प्रकार की छोटी-छोटी हिदायतों पर अमल करने तथा नियमित योगाभ्यास करने से रोगमुक्ति के अलावा सजगता के विकास तथा आध्यात्मिक उन्नति के लाभों से जीवन को पूर्ण बनाना सहज हो जायेगा।

डॉ. स्वामी कर्मानन्द (डॉ. ली ब्रेडली, एम.बी.बी.एस., सिडनी) का जन्म ऑस्ट्रेलिया में हुआ और उन्होंने सिडनी विश्वविद्यालय में चिकित्सा विज्ञान में स्नातक की उपाधि प्राप्त की।

वे योग चिकित्सा के गहन अध्ययन के लिए सर्वप्रथम 1974 में बिहार योग विद्यालय आये। भारत की यह यात्रा उनके जीवन का एक निर्णायक मोड़ बन गयी और उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय योग मित्र मण्डल अनुसंधान केन्द्र में कार्य करते हुए यहाँ अनेक वर्ष व्यतीत किये।

भारत से वापस ऑस्ट्रेलिया जाने पर उन्होंने मेलबर्न में सत्यानन्द योग थैरापी सेन्टर की स्थापना की, और आगामी छः वर्षों तक इस केन्द्र का सफल संचालन भी किया। वर्तमान में ये ऑस्ट्रेलियाई मूल आदिवासियों के बीच रहकर उनकी चिकित्सा सेवा कर रहे हैं।

SATYANANDA YOGA
BIHAR YOGA

रोग और योग पुस्तक में ऐसे 36 सामान्य एवं गंभीर रोगों का समाधान प्रस्तुत किया गया है, जिन्होंने मानवता को चिरकाल से पीड़ित कर रखा है। इसमें सिर एवं गर्दन, हृद् एवं श्वसन तंत्र, जठर-आन्त्र-क्षेत्र, जोड़ों तथा पेशीय-कंकाल, और जनन-तंत्र से सम्बन्धित बीमारियों का समावेश किया गया है।

बीमारी के मूल सिद्धान्त को आधुनिक चिकित्सा प्रणाली एवं यौगिक चिकित्सा प्रणाली, दोनों के परिप्रेक्ष्य में समझाया गया है। प्रत्येक बीमारी के लिए आधुनिक उपचार, आहार सम्बन्धी सुझाव तथा अन्य सुझावों के साथ-साथ उसकी योग चिकित्सा पर भी गहरायी से प्रकाश डाला गया है। यह पुस्तक योग द्वारा बीमारियों के निवारण तथा पुनर्स्वास्थ्य की उपलब्धि के लिए एक उत्तम मार्गदर्शिका है।

YOGA PUBLICATIONS TRUST

978-81-86336-12-0

ISBN